

संस्कृतिका

समय-समाज के संदर्भों की शोध-पत्रिका

संपादक

डा. वज कुमार पाण्डेय

डा. दीपक कुमार राय

अलका पब्लिकेशन्स

448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I

दिल्ली-110091

वर्ष : 3 अंक : 1 □ फरवरी 2010

सैद्धान्तिकी

सैद्धान्तिकी भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

संरक्षक:	डा. नवल किशोर डा. पी. एन. सिंह डा. एस. त्रिपाठी
परामर्श:	डा. गिरीश मिश्र डा. आर. एन. कुमार डा. जी. पी. ओझा
संपादक मंडल:	डा. शशिकांत राय डा. कृष्ण कुमार सिंह डा. अनिल कुमार सिंह
प्रबंध संपादक:	राम मुरारी
साज-सज्जा :	मो. सलीम अंसारी

संपादकीय सम्पर्क:

120, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,
दिल्ली-110091
फोन : 011-43015270, 64683387
e-mail : editorialindia@yahoo.com

मूल्य : रूपये 150.00

मुद्रक एवं प्रकाशक शैलेन्द्र सेंगर द्वारा 448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट :

पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

भारतीय शिक्षा आयोग (कोठारी आयोग) ने बल देकर कहा था कि राष्ट्रों के भविष्य का निर्माण उसकी पाठशालाओं में ही होता है। परंतु इस निर्माण का उत्तरदायित्व निष्ठावान शिक्षकों के आदर्श आचार-व्यवहार पर निर्भर है, यह कहने का साहस वह नहीं जुटा सका। डॉ. राधाकृष्णन ने जब शिक्षण कार्य छोड़कर राजकीय पद स्वीकार किया था तब आचार्य विनोबा भावे ने इस घटना को भारत के भविष्य के लिए अपशकुन माना था। उन्होंने यह भी याद दिलाया था कि स्वतंत्रता संग्राम के समय लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी तक दासता से मुक्ति मिलने के बाद स्वयं शिक्षक बन कर देश की सेवा करने की चर्चा किया करते थे। उन्हें ईश्वर ने इसका अवसर नहीं प्रदान किया।

प्राचीन भारतीय व्यवस्था में गुरु धर्म-दण्ड का धारक होता था। राजसत्ता को उसके सामने झुकना पड़ता था। परंतु पराधीनता के काल में राजसत्ता ने प्रमुखता और निरंकुशता प्राप्त कर ली। स्वाधीनता के बाद इस भयानक भूल को सुधारने की बात सोचने के बजाय राजनेता सत्ता-सुख का भोग करने में पड़ गये। शिक्षक की हैसियत साधारण सरकारी कर्मचारी या निजी संस्थान के नौकर से ऊपर न उठ सकी जबकि किसी भी गुरु की यह अभिलाषा होनी चाहिए थी कि अध्यापक और अभिभावक मिलकर भावी भारत का निर्माण करने वाली शिक्षा नीति, पाठ्यक्रम, परीक्षा-पद्धति आदि का विकास अपनी आवश्यकताओं और परंपराओं के अनुसार करें। ब्रिटिश साम्राज्य के द्वारा अपना नफा-नुकसान नाप कर बनायी गयी व्यवस्थाएं जितनी जल्दी समाप्त हो जायें उतना ही अच्छा है।

आज जब अभिभावक अपने बालक के भविष्य का विचार करते हैं तब उनके सामने कुछ लिख-पढ़कर, थोड़ी चतुराई जानकारी इस तरह प्राप्त कर लेने का लक्ष्य होता है जिससे नौकरी मिल जाय। माता-पिता भी यह कहते नहीं अघाते कि ये अपने बच्चों से बहुत प्रेम करते हैं। परंतु हमें सोचना चाहिए कि यदि यह प्रेम सच्चा है और हम बालक का भविष्य उज्ज्वल बनाना चाहते हैं, तो क्या यह “एक सुख-शांति संपन्न, वैभवशाली राष्ट्र और समता-ममतापूर्ण प्रबुद्ध समाज” बनाये बिना संभव है? यदि हमें ऐसे समाज की आवश्यकता है, तो उसे चलाने योग्य देशभक्त-चरित्रवान नागरिकों के निर्माण की आवश्यकता होगी। ऐसी मानव निर्माणकारी शिक्षा न तो कानून से संभव है न किताबों से। उसकी पूरी निश्चिन्तता तो हमारे अपने समझदार-जिम्मेदार-वफादार अध्यापक और अभिभावकों द्वारा अपना दायित्व समझने पर ही होगी।

—ब्रज कुमार पांडेय

इश अंक में

इतिहास असहयोग आन्दोलन में बिहार का योगदान: तथ्यात्मक विश्लेषण—पूनम कुमारी	7
इतिहास भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और साम्राज्यवाद विरोधी लीग—डा. शिवशंकर कुमार	10
इतिहास अधीतकालीन सामाजिक संरचना (ई.पू. 600—ई.पू. 200 तक)—डॉ. विभूति नारायण दूबे	13
इतिहास प्राचीन भारत में खान खनिज एवं धातु-विज्ञान की प्रौद्योगिकी—कुमार रवि रंजन	16
इतिहास पाश्चात्य शिक्षाडम्बर में समाविष्ट वैदिक शिक्षा पद्धति—राज कुमार राय	19
इतिहास पूर्व अधीतकालीन प्रावस्था के सामाजिक आधार—डॉ. अमृत कुमार	22
इतिहास वैदिक काल में राजतंत्र, राजनैतिक एवं सामाजिक संगठन—डॉ. अमरेन्द्र कुमार	26
इतिहास चम्पारण और गाँधीजी—महेश कुमार	30
इतिहास दिल्ली सल्तनत के दौरान भारत की आर्थिक अवस्था—प्रियंका गौतम	33
इतिहास प्रतिरोध, प्रभाव एवं स्वीकरण (अधीत काल का परवर्तीयुग)—कविता गौतम	37
इतिहास सिंधु क्षेत्र के बाहर के पशुचारण तथा कृषक समुदाय का भौगोलिक विस्तार—डॉ. उपमा कुमारी राय	40
इतिहास पूर्व अधीतकालीन प्रावस्था के आर्थिक आधार—डॉ. संजीव कुमार	44
इतिहास मौर्य प्रशासन के विविध पक्ष—डॉ. रवीन्द्र कुमार	48
इतिहास 1000-1300 ई. के बीच भारत में साहित्य की स्थिति—डॉ. मंजु पाठक	52
इतिहास अधीतकालीन अर्थ संयोजन (ई.पू. 600—ई.पू. 200 तक)—डॉ. आभा सिंह	55
इतिहास विजयनगर साम्राज्य का आर्थिक एवं सामाजिक जीवन—डॉ. कुमारी अनीता सिंह	59
इतिहास मुगल शासन का दक्कन में विस्तार—डॉ. संजीव कुमार	63

इतिहास मुगलों का राजपूतों के साथ संघर्ष—अभय प्रताप सिंह	65
इतिहास ब्रिटिश भारत की शिक्षा नीति—अनिल कुमार मिश्रा	67
अर्थशास्त्र आर्थिक चिन्ता में विश्व—डॉ. कुमार राजीव सिंह	71
अर्थशास्त्र जीडीपी और विकास की सही तस्वीर—डॉ. पुष्पा रानी वर्मा	73
समाजशास्त्र ग्रामीण महिलाओं का राजनैतिक सशक्तिकरण : एक समाजशास्त्रीय विवेचन (बिहार राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों के संदर्भ में एक विशेष अध्ययन)—प्रो० शिवचन्द्र प्रसाद चौधरी	77
समाजशास्त्र ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं के रोजगार की संभावना (एक समाजशास्त्रीय अध्ययन)—डॉ० राजेश कुमार सिन्हा, व्याख्याता	79
दर्शनशास्त्र वेदांत दर्शन और स्वामी विवेकानन्द—अभिषेक कुमार पाण्डेय	81
हिन्दी साहित्य जनसंचार माध्यम और हिन्दी—श्याम शरण	83
हिन्दी साहित्य हिन्दी और भारतीय भाषाओं का विकास—डॉ. कंचना सिंह	87
हिन्दी साहित्य राजभाषा हिन्दी ही शिक्षा-दीक्षा की भाषा है—श्रवसुमी कुमारी	89
हिन्दी साहित्य जन जन की भाषा—डॉ. शम्भू नाथ शरण	92
संस्कृत साहित्य रघुवंशम् में सुभाषित—डॉ. भारती कुमारी	94
संस्कृत साहित्य साम्प्रतिक परिवेश में बाणभट्ट की प्रासंगिकता—डॉ. सत्येन्द्र कुमार सिंह	96
History Development of Scientific Method in India—Dr. Vibhanshu Mandal	98
History Land Tenure in Ancient India—Renu Kumari	102
History Rise of Urban Economy, Trade and Commerce in Medieval India—Mrs. Sharda Kumari	105
History Jagirdari System Crisis in Mughal Period—Dr. Narayan Das	108

History		
Role of Mahatma Gandhi in Freedom Struggle— <i>Dr. Shailesh Kumar Dubey</i>		110
History		
Press and Politics in British India— <i>Mukul Kumar Sharma</i>		113
Political Science		
Vietnam War and International Politics— <i>Rajesh Kumar Pandey</i>		116
Political Science		
India and the Global Balance of Power— <i>Dr. Sadhna Thakur</i>		119
Political Science		
India and the US: Embracing a New Paradigm— <i>Gajendra Kumar</i>		122
Political Science		
Women Participation in Political System of Jharkhand— <i>Dr. Margaret Lakra</i>		125
Political Science		
India and Russia: Renewing the Relationship— <i>Sunil Kumar Singh</i>		128
Political Science		
India and South Asia: Towards a Benign Hegemony— <i>Rajiv Ranjan Verma</i>		131
LSW		
Welfare's Social Provisions and Labour Perspective— <i>Dr. Jai Vardhan</i>		134
LSW		
Globalization and Human Trafficking— <i>Rajeev Kumar Rai</i>		136
Sociology		
Religious Stratification: Its Origins, Persistence and Consequences— <i>Anand Vardhan</i>		139
Sociology		
Secularity: West and East— <i>Amit Kumar</i>		141
Commerce		
Electronic Commerce and Knowledge Economics— <i>Dr. Sudhir Kumar Suman</i>		143
Philosophy		
Karma Theory of Jainism— <i>Dr. Balendra Pd. Sinha</i>		146
Home Science		
Explanations to Personality Development— <i>Sadhna Devi</i>		149
Economics		
Future Role of Trade Unions in India— <i>Rajesh Kumar</i>		152
Economics		
Responding to Globalization: India's Answer— <i>Bibhuti Narayan</i>		156
Industrial Relations & Personal Management		
Developing a Personnel System and Entrepreneurship— <i>Dr. Harshvardhan</i>		159
Psychology		
A Comparison between Rural and Urban Females in Relation to Sexual Satisfaction — <i>Dr. Akhlaque Ahmad</i>		163
Psychology		
The Issue of Modernization and Attitudinal Study of Rural Scheduled Cast Females— <i>Upendra Kumar</i>		165
Psychology		
A Study of Adjustment Level Between Hindu and Muslim Students— <i>Vivek Kumar</i>		167

असहयोग आन्दोलन में बिहार का योगदान: तथ्यात्मक विश्लेषण

पूनम कुमारी

Reserch Scholar

Department of History, Patna University, Patna

आधुनिक इतिहास लेखन का क्षितिज दिन प्रतिदिन विस्तार पा रहा है। आधुनिक प्रवृत्ति में आंचलिक इतिहास लेखन का स्थान और महत्त्व बढ़ रहा है। इतिहास लेखन की इस आधुनिक प्रवृत्ति ने विश्लेषण एवं व्याख्या के नए आयाम की तलाश की है जिसके कारण इतिहास लेखन लोकप्रिय हो रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इतिहास लेखन में धीरे-धीरे वैज्ञानिक एवं वस्तु-निष्ठता का समावेश हुआ है यह समावेश राष्ट्रीय इतिहास लेखन से धीरे-धीरे आंचलिक इतिहास लेखन होता हुआ स्थानीय इतिहास लेखन तक आ पहुँचा है। आंचलिक इतिहास लेखन का उद्देश्य कभी भी राष्ट्रविरोधी या राष्ट्रीय इतिहास लेखन के विरुद्ध नहीं होकर राष्ट्र और प्रांत के बेहतर समन्वयक के रूप में अज्ञात इतिहास को ज्ञात इतिहास के रूप में तब्दिल करना है। ऐसे स्थानीय अध्ययनों का एक लाभ यह भी है कि ये इतिहासकारों को समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवविज्ञान के अधिक निकट लाते हैं। इससे एक ऐसे वैचारिक आदान-प्रदान की शुरुआत होती है जिससे अबतक हमारा देश अज्ञात ही रहा है। दुर्भाग्य से सामाजिक इतिहास भारत में आज भी अवहेलना का पात्र बना हुआ है और इसे प्रायः सामाजिक-सुधार आंदोलनों के समकक्ष माना जाता है। वर्गों की संरचना और वर्ग-चेतना पर कार्य अभी आरंभ ही हो रहा है देसी भाषाओं के साहित्य का विकास स्पष्टतः आधुनिक भारतीय इतिहास का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्व है, किंतु अभी तक इसके संकेत नहीं हैं कि ये बातें वैज्ञानिक, ऐतिहासिक तथा समाजशास्त्रीय गवेषणा का विषय बनी है।

असहयोग आन्दोलन का आरंभ खिलाफत के प्रश्न को लेकर हुआ था। खिलाफत का प्रश्न मुस्लिम समुदाय को व्यापक रूप से प्रभावित कर रहा था। बिहार में इस समय तक व्यापक जागरण हो चुका था और कलकत्ता में 4-9 सितम्बर 1920 को होनेवाले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विशेष अधिवेशन

में भाग लेनेवाले बिहारी प्रतिनिधियों की लगभग 300 से अधिक संख्या थी। अधिवेशन का सभापतित्व लाला लाजपत राय ने किया था। उसमें भाग लेनेवाले प्रमुख नेता जैसे पं० मदनमोहन मालवीय, श्रीमती एनी बेसेन्ट, विजयराधवाचार्य, मोतीलाल नेहरू, देशबंधु चितरंजन दास आदि थे। लोकमान्य तिलक की मृत्यु 1 अगस्त 1920 को हो चुकी थी। महात्मा गाँधी के शब्दों में उनकी मृत्यु से देश में जो रिक्तता आ गयी थी, कलकत्ता में सभी उपस्थित लोगों के हृदय में वह भरी हुई थी। राष्ट्र के इतिहास के इस संकट की घड़ी में उनकी अनुपस्थिति का देश अनुभव कर रहा था।¹ कांग्रेस के सितम्बर (1920) अधिवेशन में महात्मा गाँधी द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव 873 के विरुद्ध 1885 मतों से स्वीकृत हुआ। बिहार के लगभग 180 प्रतिनिधियों ने प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया।

बिहार में प्रस्ताव के अनुसार तैयारी कार्यक्रम प्रारंभ हो गया। 8 सितम्बर 1920 को उत्तर बिहार में किसान आन्दोलन के नेता स्वामी विद्यानन्द² ने सरकारी नीति की कठोर आलोचना की 17 सितम्बर 1920 को आरा में गुलाम इमाम³ एक भाषण दिया जिसमें मुसलमानों के हित का उल्लंघन करने का आरोप ब्रिटिश सरकार पर लगाया⁴ शीघ्र ही स्थानीय समाचार पत्र में इस आशय का समाचार छपा कि श्री मजहरूल हक, राजेन्द्र प्रसाद, मोतिहारी के गोरख प्रसाद, दरभंगा के ब्रजकिशोर प्रसाद और बाबू छरणीधर, मुजफ्फरपुर के मोहम्मद शफी एवं कुछ अन्य व्यक्तियों ने आगामी कौन्सिल चुनाव में अपनी उम्मीदवारी वापस ले ली थी।⁵ पटना लॉ कॉलेज के छात्र सैयद मोहम्मद शेर और बिहार नेशनल कॉलेज के छात्र अब्दुल वारी तथा मोहम्मद शाकी ने अपने-अपने कॉलेज छोड़ दिए।⁶ बाद में अब्दुल वारी बिहार के एक उग्रपंथी नेता प्रमाणित हुए।⁷ श्री मजहरूल हक, गुलाम इमाम, हसन आरजू, अब्दुल जैसे प्रमुख नेता विभिन्न स्थानों पर सभाएँ करते और भाषण देते। ऐसी सभाएँ गया में 8 अक्टूबर, हिलसा में 29 नवम्बर खुशरूपुर में 3 नवम्बर, बाढ़ में 4 नवम्बर आरा में 6 और बख्तियारपुर में 9 नवम्बर को हुईं।⁸ नवम्बर के मध्य में शाहावाद के डुमराँव में नशावन्दी आंदोलन शुरू किया गया। 13 नवम्बर को नशाखोरी छोड़ने की अपील की गयी। बिहार के अन्य भागों में भी यह आन्दोलन फैल गया। जनवरी 1920 तक प्रान्त भर में यह पूरे जोर पर था।⁹ गाँधीजी की बिहार यात्रा दिसम्बर 1920 में यद्यपि अल्पकालिक था फिर भी उससे असहयोग आन्दोलन को बहुत बल मिला और इसके परिणामस्वरूप संपूर्ण प्रांत में जागरण का लहर फैल गया।¹⁰ गाँधीजी जहाँ-जहाँ जाते चन्दा एकत्र किया जाता। इस प्रकार

लगभग 7000 रूपये नगद एकत्र किया गया। महिलाओं ने अपने आभूषण दिए इनमें जड़ाऊ कंगन और अंगूठियाँ भी होती।⁹ गाँधीजी के साथ मौलाना शौकत अली और अब्दुल कलाम आजाद भी थे। बिहार यात्रा के क्रम में कई जगहों पर उनके भाषण बहुत ही प्रेरणास्पद रहे। मौलाना शौकत अली और मजहरूल हक इनमें से अधिकांश सभाओं में भाषण दिया। गाँधीजी की भागलपुर यात्रा का एक परिणाम वहाँ एवं संधालपरगना जिले में शरावबन्दी आंदोलन का शुरू होना हुआ।¹¹ बिहार में अपनी दिसम्बर यात्रा के दौरान सभाओं में भाषण करने के अतिरिक्त गाँधीजी त्रिपक्षीय बहिष्कार के अपने कार्यक्रम विदेशी वस्तु, न्यायालयों तथा सरकारी स्कूल एवं कॉलेजों का बहिष्कार में अब वे स्कूल और कॉलेजों के बहिष्कार पर सबसे अधिक जोर दे रहे थे। गाँधीजी बिहार में एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना के पक्ष में थे। 6 फरवरी 1921 ई. को गाँधीजी अपनी पत्नी एवं मौलाना मोहम्मद अली के साथ पटना आए। इसी दिन राष्ट्रीय महाविद्यालय तथा बिहार विद्यापीठ का औपचारिक उद्घाटन गाँधीजी द्वारा किया गया। बिहार विद्यापीठ के कुलपति एवं उपकुलपति के पदों पर मजहरूल हक एवं ब्रजकिशोर प्रसाद आसीन हुए, राष्ट्रीय महाविद्यालय के प्राचार्य पद डा. राजेन्द्र प्रसाद नियुक्त हुए। राज्य के अन्य भागों गया, मुजफ्फरपुर, छपरा, दरभंगा, मोतिहारी, भागलपुर, पूर्णिया, मुँगेर में राष्ट्रीय विद्यालय खोले गए। प्रान्त के सभी भागों में स्वयंसेवकों की भर्ती की गयी।¹² नशाबंदी और इसी तरह के अन्य कार्यक्रम चलाए जा रहे थे। स्वदेशी का संदेश बड़े उत्साह के साथ जनता को दिया जा रहा था। स्थानीय पंचायत और सेवा समितियों की स्थापना की गयी स्वराज्य की प्राप्ति लक्ष्य घोषित किया। चरखा कातना और खादी का प्रयोग राष्ट्रीयता का प्रतीक बन गया।

नशाबंदी आन्दोलन गया, पटना और शाहाबाद जिलों में विशेष प्रभावकारी हुआ। गया में स्वयं पासियों ने सभा करके इस आशय का प्रस्ताव स्वीकृत किया कि वे अब ताड़ के पेड़ की बन्दोवस्ती नहीं लेंगे। पूर्णिया एवं कुछ अन्य जिलों में विशेषकर भागलपुर जिलों में सरकारी ढाटों का बहिष्कार किया गया।¹⁴ लोकमान्य तिलक की पुण्य तिथि 1 अगस्त को जुलूस निकालकर सभाएँ की गयी, इसी दिन विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार औपचारिक रूप से आरम्भ हुआ। सभाएँ खत्म होने पर कुछ विदेशी कपड़े भी जलाए गए।¹⁵ संपूर्ण बिहार में असहयोग आन्दोलन अपने चरमोत्कर्ष पर था लोगों ने निडर होकर राष्ट्रीय शिक्षा और सरकार के साथ असहयोग करना शुरू कर दिया था इसी बीच सरकार की दमनात्मक कार्यवाही भी चलती रही। सीतामढ़ी में बगहा धनहा, लौरिया तथा जोगापट्टी में अतिरिक्त पुलिस बल भेजे गए। मुजफ्फरपुर में घुड़सवार पुलिसिया कार्यवाही लोगों पर की गयी। बड़ी संख्या में स्वयंसेवक गिरफ्तार किए गए।

किन्तु सरकार के लिए डराना धमकाना बहुत प्रभावकारी सिद्ध नहीं हो पा रहा था राष्ट्र की सेवा में लगे हुए कार्यकर्ता गिरफ्तार होकर जेल जाने के लिए कृतसंकल्प थे। अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए वे कठोरतम कष्ट सहने को तैयार थे। देश में आन्दोलन जोरो पर था। इसी बीच एक अप्रत्याशित घटना ने इस आन्दोलन में लगे गाँधी जी को हिला कर रख दिया। 5 फरवरी 1922 को गोरखपुर जिला के चौरी-चौरा नामक स्थान पर एक भीड़ ने एक थाना में आग लगा दी और 22 पुलिस जवान जिन्दा जला दिए गए। गाँधीजी इससे अत्याधिक मर्महत हुए। उन्होंने तुरन्त आन्दोलन को स्थगित करने का निर्णय लिया। काँग्रेस वर्किंग कमिटी की बैठक 11 और 12 फरवरी को गुजरात के

वारदोली में हुई जिसमें निर्णय लिया गया कि जब तक देश में पूर्ण अहिंसक वातावरण नहीं हो जाय तब तक के लिए सामुहिक सविनय अवज्ञा कार्यक्रम स्थगित रहेगा। इस तनावपूर्ण स्थिति में सरकार ने गाँधीजी को 10 मार्च 1922 को गिरफ्तार कर लिया और उन पर अहमदाबाद में मुकदमा चलाया गया।

गाँधीजी पर चलाए जा रहे मुकदमे की देशभर में प्रतिक्रिया हुई। बिहार में प्रतिवाद रैली, जुलूस निकाले गए। सरकार विरोधी इसी वातावरण में काँग्रेस का 37 वाँ अधिवेशन बिहार के गया शहर में संपन्न हुआ जिसकी अध्यक्षता देशबंधु चित्तरंजन दास ने की। इसमें डा. राजेन्द्र प्रसाद, डा. अंसारी, श्री प्रकाश, श्री निवाश अयंगर, राजगोपालाचारी, श्री भगवान दास श्रीमती कस्तुरवा गाँधी, एन.सी. केलकर, सेठ जमना लाल वजाज, वल्लभभाई पटेल, मोहम्मद शफी, मौलवी वदूद, विन्देश्वरी प्र० वर्मा और बाबू जनकधारी प्रसाद जैसे अनेक नेताओं ने भाग लिया।

स्वराज पार्टी और बिहार:— देशबंधु चित्तरंजन दास और पंडित मोतीलाल नेहरू तथा बिट्टुभाई पटेल जैसे अन्य नेता परिषद में भारतीयों के प्रवेश के पक्ष में थे दूसरी ओर कुछ लोग इसके विरुद्ध थे। इस विरोभास संपूर्ण स्थिति में जनवरी 1923 में काँग्रेस के भीतर ही काँग्रेस के आदर्शवाद में पूर्ण आस्था रखनेवाले लोगों ने स्वराज्य पार्टी का गठन किया इसके अध्यक्ष देशबन्धु चित्तरंजन दास एवं सचिव पंडित मोतीलाल नेहरू बनाए गए। बिहार में कौंसिल समर्थक की एक सभा 26 फरवरी 1923 को पटना में हुई जिसमें स्वराज्य पार्टी की बिहार शाखा के अध्यक्ष श्री नारायण प्रसाद (छपरा) सचिव प्र०0 अब्दुलवारी (राष्ट्रीय महाविद्यालय, पटना) सहायक सचिव श्री कृष्ण वल्लभ सहाय (राष्ट्रीय महाविद्यालय) और श्री हरनन्दन सहाय (छपरा) बनाए गए।¹⁶

अक्टूबर 1923 से नये एक्ट के आधार पर नगरपालिकाओं का चुनाव कराए गए जिसमें काँग्रेस को भारी जीत मिली। 5 फरवरी 1924 को गाँधीजी को रिहा कर दिया गया जिसका उत्सव समारोहपूर्वक पटना में मनाया गया, काँग्रेस का 39 वाँ अधिवेशन वेलगाँव में गाँधीजी की अध्यक्षता में 26 दिसम्बर 1924 को संपन्न हुआ इसमें असहयोग आन्दोलन को स्थागित करने एवं रचनात्मक कारवाइयों को चलाते रहने का प्रस्ताव पारित हुआ। विहार में 1924 में खादी कार्यक्रम का प्रचार विशेष रूप से किया गया इसके लिए दिसम्बर में पटना में एक प्रदर्शनी लगाई गई। रचनात्मक कार्यक्रम को गति देने के लिए गाँधीजी 1925 में बिहार यात्रा पर आए। पुरूलिया, हजारीबाग होते हुए वे पटना पहुँचे जहाँ उन्होंने अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी के कार्यक्रमों में भाग लिया तथा अखिल भारतीय चरखा संघ का उद्घाटन किया। पटना में ही गाँधीजी खुदाबख्स ओरियंटल लाइब्रेरी देखने गए जहाँ पर “कुरान” और “शाहनामा” की अलंकृत हस्तलिखित प्रति देखकर सम्मोहित हो गए।¹⁷ गाँधीजी की दूसरी बिहार यात्रा 11 जनवरी 1927 से शुरू हुई। बिहार के एक रेलवे स्टेशन पर उनसे मिलने हेतु आए लोगों को उन्होंने कहा मैं यहाँ चरखा और खद्दर के लिए धन संग्रह करने एवं खादी बेचने आया हूँ। कौन जानता है यही मेरी अंतिम बिहार यात्रा न हो जितना अधिक मैं बेच सकूँ बेच लूँ। डाल्टनगंज से प्रस्थान करके गाँधीजी गया पहुँचे। पटना होते हुए 27 जनवरी 1927 को मुजफ्फरपुर गए जहाँ तिलक मैदान में एक सभा को सम्बोधित किया। गाँधीजी का उद्देश्य जनता को उसके राजनैतिक अधिकार की ओर ध्यान दिलाना एवं इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक शक्ति तथा प्रतिरोध क्षमता हासिल करने का प्रशिक्षण देने के रचनात्मक कार्यक्रम को चलाना

था। उनका विशेष बल चरखा, खादी, अन्तरसामुदायिक एकता, छुआछूत निवारण, दलित वर्ग की स्थिति में सुधार, नशाबंदी, स्थानीय स्वायत्त संस्थानों में प्रवेश, श्रमिकों का संगठन श्रमिकों एवं मालिकों के सम्बंधों में सुधार, जमींदार-किसान सम्बंध धनिष्ठ करने और देश के आर्थिक औद्योगिक हितों तथा राष्ट्रीयता के संवर्द्धन पर दिया।

खिलाफत आन्दोलन का सम्बंध धर्म से अधिक था, राजनीति से कम। इसकी जड़ें देश में नहीं होकर विदेश में थी। खिलाफत मुसलमानों का आन्दोलन था परन्तु यदि यह भारत के मुसलमानों के आर्थिक और राजनैतिक माँगों के सन्दर्भ में होता तो उसे एक राष्ट्रीय जन आन्दोलन का केन्द्र बनाया जा सकता था। धर्म और विदेश से संबंधित होने के कारण उसकी जड़ें पहले से ही कमजोर थी इसलिए इसकी संभावना नहीं थी कि यह आगे-चलकर स्वतंत्रता आन्दोलन का सहायक बनता। यद्यपि आन्दोलन के दौरान यह दिखने लगा था कि हिन्दू-मुस्लिम एकता हो गयी। परन्तु आन्दोलन की विडम्बनापूर्ण समाप्ति ने भ्रम को तोड़ दिया। हिन्दू-मुस्लिम समस्या खिलाफत और असहयोग आन्दोलन से पहले जिस रूप में थी वैसे ही रही बल्कि पहले से कुछ कटु ही हो गयी। किसी भी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए एक स्थायी आर्थिक असंतोष की आवश्यकता होती है। खिलाफत के लिए असहयोग का दूसरा कारण पंजाब में किया गया अत्याचार था जो कि राष्ट्रीय भावुकता को जगाती थी परन्तु उसकी पहुँच क्रांतिकारी शक्तियों तक नहीं थी महात्मा गाँधी ने इस शक्तियों को नहीं जगाया बल्कि चेष्टा की कि वह वहाँ तक नहीं पहुँचें। काँग्रेस ने अपने अपील में बहिष्कार का नारा दिया उनका कार्यक्रम में एक खास वर्ग के लोगों का सहयोग शामिल था किसान-मजदूरों के लिए उनके पास

कोई क्रांतिकारी कार्यक्रम नहीं थी। इस स्थिति में यह आन्दोलन असफल हो गया।

न्यायिक रूप से गाँधीजी के पक्ष में कहा जा सकता है कि उन्होंने पहले ही बार-बार चेतावनी दी थी कि वे केवल एक विशिष्ट प्रकार के और नियंत्रित जन आन्दोलन का ही नेतृत्व करने के लिए तैयार हैं और वर्ग संघर्ष या सामाजिक क्रांति में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं है। 1919-22 के भारत में प्रचूर ज्वनशील सामग्री थी और कभी-कभी कोई वस्तुगत क्रांतिकारी स्थिति भी रही किंतु वैकल्पिक क्रांतिकारी नेतृत्व जैसी कोई बात नहीं थी। जन सामान्य गाँधी जी के स्वराज के धुमिल श्वपन से अनुप्राणित हुआ था। लोगों ने अपने-अपने ढंग से विभिन्न रूप में यहाँ तक कि लगभग क्रांतिकारी रूपों में उसकी व्याख्या की थी किंतु फिर भी मार्ग दर्शन के लिए वे गाँधीजी की ओर ही देखते थे।

संदर्भ सूची

1. नन- कोआपरेशन एन्ड खिलाफत मूवमेंट इन बिहार एन्ड उड़ीसा पृ0-11
2. उपरोक्त
3. उपरोक्त
4. उपरोक्त
5. उपरोक्त पृ0-12
6. उपरोक्त पृ0-14-15
7. उपरोक्त पृ0-17
8. राजेन्द्र प्रसाद, महात्मा गाँधी एन्ड बिहार पृ0 42
9. यंग इन्डिया, 20 दिसम्बर, 1920
10. नन कोआपरेशन एन्ड खिलाफत मूवमेंट इन बिहार एंड उड़ीसा पृ0- 18
11. उपरोक्त
12. एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार मार्च 1921 में बिहार में असहयोग आन्दोलन में लगभग 6000 स्वयं सेवक काम करते थे। (नन कोआपरेशन एंड खिलाफत मूवमेंट इन बिहार एंड उड़ीसा पृ0-20)
13. नन-कोआपरेशन एंड खिलाफत मूवमेंट इन बिहार एन्ड उड़ीसा पृ0-45
14. उपरोक्त पृ0-47
15. उपरोक्त पृ0-59
16. उपरोक्त पृ0-244
17. बिहार-उड़ीसा इन 1925-26, पृ0 29.

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और साम्राज्यवाद विरोधी लीग

डा. शिवशंकर कुमार

भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद विरोधी, विश्व व्यापी आन्दोलनों की एक महती कड़ी के रूप में सम्बद्ध कर राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास लेखन का क्रम अभी भी काफी कमजोर है और ज्यादातर इतिहासकार इसे इस तरह उद्धृत करते आए हैं जैसे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपने आप में एक स्वतंत्र और अन्य देशों के मुक्ति आन्दोलनों से पूर्णतः असम्बद्ध संघर्ष रहा है। ऐसी व्याख्यायें भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के महत्त्व और परिप्रेक्ष्य दोनों ही को घटाती हैं, कम करके आंकती हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को इस तरह एक संकुचित दायरे में बाँध देना, इतिहासकारों की आपसी जानकारी कम और सैद्धान्तिक-राजनीतिक दबाव के कारण ज्यादा किया गया कृत है। उपनिवेशवाद/साम्राज्यवाद विरोध की सशक्त राजनीतिक कारवाइयों को अंजाम देने वाले संगठनों में मुख्यतः वामपंथी आन्दोलनों को संचालित करने वाले और साम्राज्यवाद विरोधी तमाम वर्ग शक्तियों की एकता के आधार पर राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों को मदद करने वाले संगठनों में एक महत्त्वपूर्ण संगठन लीग एगोन्स्ट इम्पीरियलिज्म (साम्राज्यवाद विरोधी लीग) रहा है।

1920 के दशक में भारत चीन और मिश्र में उठे राष्ट्रीय जन उभार को मदद देने की नियत से इसके एक सम्मेलन को आहूत करने का विचार आया था। इस सम्मेलन की प्रेरणा 1925-26 में कैटन में आहूत एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था जिसमें हांगकांग में तैनात भारतीय सैनिक अपने पद को छोड़ कर इसमें शामिल हुए थे। यही वह प्रेरणादायक स्थिति थी जिसने एशिया, अफ्रिका और दक्षिणी अमरिका में राष्ट्रीय आन्दोलनों का समर्थन करने और समसामयिक राजनीति और उसके ज्वलंत प्रश्नों पर विश्वजनमत का ध्यान आकृष्ट करने के लिए इसके सम्मेलन को बुलाने की पहल की गई थी।

साम्राज्यवाद विरोधी लीग का सम्मेलन बुसेल्ज के विशाल भवन पैलेस इग्मोंट में 10 फरवरी, 1927 को शुरू हुआ था। इसमें एशिया, अफ्रिका और दक्षिण अमरीकी देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों के नेता शामिल हुए। इस कॉन्फ्रेंस में उन देशों के 174 प्रतिनिधि मौजूद थे जिसमें यूरोपीय देशों और अमरीका के 70 प्रतिनिधि थे। इसमें भारत की ओर से जो प्रतिनिधि और संगठन शामिल हुए उनका विवरण है: जवाहरलाल नेहरू भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, प्रो० एम. बरकतुल्ला हिन्दुस्तान गदर पार्टी, बाकर अली मिर्जा, कक्सफोर्ड मजलीस, एस. ए. रहमान, एडिनवरा इन्डियन स्टूडेंट्स यूनियन, मुहम्मद इंडियन स्टूडेंट्स फेडरेशन पेरिस, तारिनी सिन्हा इन्डियन व्यूरो ऑफ आई. एल. सी., जयसूर्य नायक और मणिसेन हिन्दुस्तान एशोसिएसन आफ सेंट्रल यूरोप, डा० भट्ट, इन्डियन वर्कर्स वेलफेयर लीग, लंदन, ए. सी. एन. नम्बीयार, हिन्दू, मद्रास, गनपुले, केशरी, पुना, वी. चट्टोपाध्याय एसोसियसन आफ इन्डियन जर्नालिस्ट ऑफ यूरोप, डा०नायक हैदरावाद एसोसियसन, बर्लिन ब्रांच। श्रीमती कामा इस कांग्रेस में शामिल नहीं हो पाई थी, मगर एक संदेश भेजा था।

महात्मा गाँधी को भी इस कांग्रेस में शामिल होने का निमंत्रण उनके साबरमती आश्रम के पते पर मिला था। उस पत्र के जबाब में गाँधी ने जो पत्र लीग को लिखा था वह लीग के रेकार्ड में है। गाँधी ने अपने 3 अप्रैल, 1926 के पत्र में लीग को लिखा है “मुझे आपका पत्र प्राप्त हुआ जिसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। आपके पत्र में निहित भावनाओं की मैं सराहना करता हूँ। परन्तु मैं अपने को यह भार उठाने में पूर्णतः अयोग्य समझता हूँ। दमित जनता की सेवा करने में मेरे तरीके भी सोशलिस्टों द्वारा आमतौर पर स्वीकृत तरीकों से भिन्न हैं और अभी प्रयोग की स्थिति में हैं। अतएव मैं ऐसे संगठन से संकोच करता हूँ। जिसे मैं पूर्णतः नहीं जानता और जिसकी मैं उपयोगी ढंग से सेवा नहीं कर सकता।¹ ऑल इन्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सचिव, महबूब-उल-हक ने 8 अप्रैल, 1926 को कलकता से लीग के सचिव के नाम भेजे अपने पत्र में लिखा था “आपका निमंत्रण प्राप्त हुआ। हम इस पर विचार करेंगे और शीघ्र इसका उत्तर भेजेंगे”, गाँधी ने इसमें भाग लेने से इन्कार इसलिए किया कि उन्होंने इसे सोशलिस्टों का संगठन माना, मगर नेहरू, जिन्होंने इसमें भाग लिया, की नजर में लीग का जो राजनीतिक स्वरूप था उसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है: यदि कम्यूनिस्ट इस पर अपना पूर्णतः प्रभुत्व जमाना चाहते तो काफी लीग लीग को छोड़ देते और सारी बात खत्म हो जाती। दूसरी ओर यह बात भी स्पष्ट थी कि यदि कम्यूनिस्ट लीग को छोड़ देते तो उसके संगठन में कोई जान

नहीं रह जाती।⁴ इस प्रकार गाँधी और नेहरू के विचारों में साम्राज्यवाद विरोधी लीग के राजनीतिक चरित्र के सम्बन्ध में मतभिन्नता थी। गाँधी के पत्र से उनका कम्युनिस्ट विरोध एक चरम पर दीखता है—वे उस किसी भी संगठन और आन्दोलन के खिलाफ थे जिसमें कम्युनिस्ट शामिल हो।

10 फरवरी को विधिवत शुरू हुई और 14 फरवरी, 1927 तक चली इस कांग्रेस का मुख्य विषय या कार्यक्रम इस प्रकार था: (1) प्रारम्भ के भाषण (2) साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक व अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों में उसके परिणाम (3) साम्राज्यवाद और युद्ध का खतरा (4) दमित देशों में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन और साम्राज्यवादी देशों में मजदूर और साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलनों में सहयोग (5) औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी सभी देशों के मजदूर आन्दोलनों के साथ राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों का तालमेल तथा (6) साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक दमन के विरुद्ध सभी शक्तियों का सम्बद्ध करके एक विश्व व्यापी संगठन का निर्माण करना। अधिवेशन को संचालित करने के लिए निर्वाचित अध्ययन मंडल में जवाहर लाल नेहरू का चुना जाना इस बात का प्रमाण था कि जिस सम्मेलन को गाँधी ने सोशललिस्टों का सम्मेलन बता कर भाग लेने से अपने को अलग रखा उसके लिए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का क्या महत्व था। प्रारम्भिक वक्ताओं में नेहरू के अलावा एस. वी. डेविज, फ्रेंच ब्रोक्वे, लियू हान-सिन और सेन कत्यामा थे। अपने भाषण में नेहरू ने भारतीय सैनिकों का ब्रिटेन द्वारा अन्य देशों के दमन में इस्तेमाल की निन्दा करते हुए कहा: मैं आपको याद दिलाना चाहता हूँ कि भारतीय सैनिकों का ब्रिटेन ने अन्य देशों की जनता का दमन करने में कई बार उपयोग किया है। मैं दुख और शर्म के साथ इसे

स्वीकार करता हूँ।⁴ नेहरू ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में भाषण करते हुए भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का जो दृष्टिकोण रखा उसमें भी उनकी राजनीतिक समझ गाँधी की समझ से भिन्न दीखी। गाँधी अभी तक पूर्ण स्वतंत्रता की मांग का विरोध करते आ रहे थे मगर नेहरू ने उस कांग्रेस में अपना जो दृष्टिकोण रखा उसमें कहा गया कि : हम अपने देश के लिए केवल आन्तरीक रूप में पूर्ण स्वाधीनता नहीं चाहते बल्कि हम अपनी इच्छानुसार अपने पड़ोसियों व अन्य देशों में सम्बन्ध कायम करने की स्वतंत्रता भी चाहते हैं। चुकि हमारा ख्याल है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस हमें इस सहयोग का अवसर देती है इसलिए हम इसका स्वागत और अभिनन्दन करते हैं।⁵ नेहरू ने लीग के इस कांग्रेस को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को मदद करने वाली एक संस्था के रूप में देखा। भारत सम्बन्धी जो प्रस्ताव इस कांग्रेस में रखा गया उसे नेहरू ने स्वयं पढ़ा था और प्रस्ताव में कहा गया था : यह कांग्रेस भारत की पूर्ण स्वाधीनता के लिए भारतीय आन्दोलन का हार्दिक समर्थन करती है और इसका विचार है कि विश्व के जनगणों की पूर्ण स्वाधीनता के लिए विदेशी तथा हर प्रकार के शोषण से भारत की पूर्ण मुक्ति एक आवश्यक कदम है। प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि : इस कांग्रेस का विश्वास है कि अन्य देशों की जनता व मजदूर इस कार्य में पूरा सहयोग देंगे और विदेशी सैनिकों को बाहर भेजने और उस देश में कब्जा करने वाली सेना को बनाये रखने की कारवाइयों को रोकने के लिए कारगर कदम उठायेंगे। प्रस्ताव में आशा की गई थी कि : भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपने कार्यक्रम को भारत के किसानों व मजदूरों की पूर्ण मुक्ति पर आधारित करेगा क्योंकि बिना इसके सच्ची स्वतंत्रता नहीं हो सकती और यह विश्व के अन्य भागों

के मुक्ति आन्दोलनों के साथ सहयोग करेगा।⁷ भारत और चीनी प्रतिनिधि मंडलों की तरफ से पेश एक संयुक्त घोषणा-पत्र में जिसे चीनी प्रतिनिधि मंडल के नेता लिय-हान-सिन ने पेश किया था, चीनी क्रांति को कुचलने के लिए भारतीय सैनिकों को भेजे जाने का विरोध, चीनी और भारतीय मुक्ति संघर्षों में तालमेल की बातें कही गई थी। ब्रिटिश, भारतीय और चीनी प्रतिनिधि मंडलों की तरफ से भी एक संयुक्त घोषणा-पत्र को जारी किया गया था जिसे ब्रिटिश प्रतिनिधि मंडल और लेबर पार्टी के नेता बेकेट ने पेश किया था और उस पर जवाहर लाल के भी हस्ताक्षर थे। इस घोषणा पत्र में कहा गया था कि साम्राज्यवादी देशों के मजदूर वर्ग को दमित देशों के मुक्ति संघर्षों के साथ मिल कर पूर्ण स्वतंत्रता के संघर्ष के लिए लड़ना चाहिए। घोषणा पत्र दमित देशों में सशस्त्र सेनाओं को रखने की कार्रवाई बंद हो और सभी सैनिक वापस बुलाए जाय। भारत ब्रिटेन और चीन के मजदूर आन्दोलनों में सहयोग करने की बातें कहीं गई थी।⁸ भारतीय प्रतिनिधि मंडल की ओर से पेश किए गए एक प्रस्ताव में, जिसे नेहरू ने पेश किया था, मेसोपोटामिया से भारतीय सैनिकों की वापसी की मांग की गई थी।⁹

लीग की कांग्रेस भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलनों की एक कड़ी के रूप में प्रतिष्ठित करने तथा औपनिवेशिक देशों के बीच के मुक्ति की परस्पर सहायता करने की दिशा में एक अहम भूमिका का निर्वाहन किया। उसने जो घोषणा-पत्र जारी किया उसमें साम्राज्यवादी विश्वयुद्ध के खतरे से अगाह किया गया था, पराधीन देशों की जनता का साम्राज्यवादी देशों द्वारा शोषण की निन्दा की गई थी और मुक्ति आन्दोलनों के प्रति हार्दिक समर्थन का भाव प्रकट किया गया था। जेनरल डायर को ब्रिटिश सरकार द्वारा

विशेष सम्मान दिए जाने का विरोध और निन्दा की गई थी और जालियांवाला बाग हत्या काण्ड को बर्बर बताते हुए डायर के कृत्यों की भर्त्सना की गई थी। घोषण-पत्र का नारा था: दमित जनगण और दमित राष्ट्र एक हो।¹⁰

साम्राज्यवाद विरोधी लीग की कांग्रेस को जहाँ गाँधी ने अनुपयोगी और शोसलिस्टों द्वारा संगठित मंच मानकर उसमें भाग लेने से इन्कार किया था वही जवाहरलाल नेहरू ने इसके निर्णयों को काफी महत्वपूर्ण माना। गाँधी और नेहरू के दृष्टिकोणों का यह अन्तर साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और मुक्ति संघर्षों के प्रति दृष्टिकोण का अन्तर था। मुक्ति संघर्ष की चारित्रिक विशेषता में एक व्यापक साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा की अहमियत तथा भारत के मुक्ति संग्राम को विश्व के अन्य देशों में चल रहे मुक्ति संघर्षों की एक कड़ी और उसके साथ साम्राज्यवादी मुल्कों के मजदूर वर्ग के संघर्षों के साथ एकता की सैद्धान्तिकता को गाँधी ने अस्वीकार किया जबकि नेहरू ने इसे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के लिए काफी महत्वपूर्ण कारक माना। ब्रुसेल्स कांग्रेस के महत्व को समझने के कारण ही नेहरू ने उस कांग्रेस की विस्तृत रिपोर्ट भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भेजा जिसमें उन्होंने लिखा: दमित देशों में स्वाभाविक तौर पर और सही ही अन्य सभी भावनाओं की अपेक्षा राष्ट्रवाद को अधिक तरजीह दी जाती है। शोसलिस्ट भी इसे स्वीकार करते हैं। परन्तु वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि ऐसे देशों में युग की भावनाओं के अनुकूल राष्ट्रवाद को अधिक व्यापक आधार दिया जा सकता है और वह (राष्ट्रवादी) आम जनता, किसानों और मजदूरों से तथा इनमें काम करके शक्ति प्राप्त कर सकता है। व्यक्तिगत रूप से मैं इस बात से सहमत हूँ क्योंकि मैं राज्य के समाजवादी सिद्धान्तों के मूल सिद्धान्तों से सहमत हूँ। नेहरू ने

लीग के साथ कांग्रेस के सम्बन्ध स्थापित करने के प्रश्न पर लिखा: भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का साम्राज्यवाद विरोधी लीग से सम्बन्ध स्थापित करने का यह अर्थ नहीं है कि कांग्रेस समाजवादी कार्यक्रम को स्वीकार करे। कांग्रेस जिस मांग को देश के हित में ठीक समझती है उसके अनुसार काम करने को पूर्णतः स्वतंत्र है।¹¹ नेहरू ने कांग्रेस कार्य समिति को सुझाव दिया कि वह लीग से सम्बन्ध स्थापित करे तथा प्रथम योगदान के रूप में 100 पौण्ड की राशि उसे भेज दें। लीग कांग्रेस की कार्यवाही की रिपोर्ट जब नेहरू के पास स्वीटजरलैण्ड पहुँची तब उन्होंने उसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्य समिति को भेज दिया और उसका प्रयाप्त प्रचार करने का सुझाव दिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने नेहरू द्वारा लीग की कांग्रेस की कार्यवाही पर कांग्रेस महासमिति की मई, 1927 की बैठक में विचार किया और नेहरू की सराहना करते हुए यह सिफारिस करने का फैसला किया कि कांग्रेस सदस्य के रूप में लीग का समर्थन करें। कांग्रेस महासमिति ने अपनी बैठक में चीनी क्रांति के प्रति अपनी एकजुटता प्रदर्शित की, चीनी क्रांतिकारियों की मदद में एक एम्बुलेंस सेवा दल भेजने का फैसला किया तथा सह सदस्य के रूप में लीग को 100 पौण्ड की राशि भेजने की सिफारिस की।

स्वाभाविक था कि ब्रिटिश सरकार भारत का लीग के साथ सम्पर्क को अपने लिए एक खतरनाक घटना मानती थी। उसने उसके साहित्य को डाकघरों से ही इन्टरसेप्ट करने, इसके प्रसंगवश भारत से बाहर जाने वालों का पार-पत्र न देने आदि कारवाइयों के द्वारा व्यवधान पैदा करने लगी। फिर भी साम्राज्यवाद विरोधी लीग के नेताओं ने भारत के मुक्ति संघर्ष के साथ नजदीकी सम्पर्क बनाए रखने का प्रयास किया। इसी क्रम में 1928 में सम्पन्न हुए ए.आई. टी. यू.

सी. के अधिवेशन में लीग का एक प्रतिनिधि आया था।¹² लीग ने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों की एकजुटता तथा साम्राज्यवादी मुल्कों के मजदूर आन्दोलनों के बीच इस तरह परस्पर सहयोग की भावना को उत्पन्न किया उसी का नतीजा था कि भारत में भी एक साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे की अवधारणा को बल मिला। फिर भी, भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कर रही कांग्रेस पर गाँधी और गाँधीवादी वैचारिकता वाले के बहुमत के कारण कांग्रेस ने लीग के साथ सम्बन्ध में अपने सम्पर्कों को मजबूत नहीं कर सकी, मगर वामपंथी रूझान वाले तत्वों ने इसे काफी तबज्जों दिया और 1927 से 1939 के वर्षों में इसका प्रभाव भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पर दिखा। लीग की भूमिका को भले इतिहासकार नकार दें मगर इसकी भूमिका विश्व पैमाने पर राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को आगे बढ़ाने में बड़ी कामयाबी हासिल की।

संदर्भ :

1. बाकर अली मिर्जा के लेख, *मोडर्न रिथ्यू* के अंक, मई, 1927 में डा. जी अधिकारी को उद्धृत किया गया है।
2. *लीग एगेन्स्ट इम्पीरियलिज्म का रेकार्ड*,
3. *जवाहर लाल नेहरू सेलेक्टेड वर्क्स* भा. 2 ए (एम्पा.) एस. गोपाल दिल्ली, 1972 पृ. 250.521.
4. बाकर अली मिर्जा, पूर्वोद्धृत नेहरू का बयान
5. *इन्डियन क्वाटरली रजिस्टर*, 1927 भा. 2 पृ. 155-156.
6. बाकर अली मिर्जा, *पूर्वोद्धृत*
7. उपरोद्धृत ।
8. *इन्टरनेशनल प्रेस कॉरिस्पोंडेन्स*, (इन्प्रेकर), 26 फरवरी, 1927, पृ. 238.
9. *जवाहर लाल नेहरू सेलेक्टेड वर्क्स* पूर्वोद्धृत, पृ. 285.
10. *मोडर्न रिथ्यू*, मई, 1927, पृ. 562-564.
11. *जवाहर लाल नेहरू सेलेक्टेड वर्क्स*, पूर्वोद्धृत, (रंगास्वामी को लिखा गया 16 मार्च, 1927 का पत्र)

अधीतकालीन सामाजिक संरचना (ई.पू. 600— ई.पू. 200 तक)

डॉ. विभूति नारायण दूबे

शिक्षक, सनातन धर्म संस्कृत उच्च विद्यालय, सासाराम

यह विशेष कालावधि (ई.पू. 600 से ई.पू. 200) क्रान्तिकारी परिवर्तनों की साक्षी रही। तत्कालीन समाज नई चुनौतियों के रू-ब-रू था। प्रतिरोध, परिवर्तन की पहली शर्त होते हैं और एक तरफ जहाँ नवीन अर्थ संयोजन के द्वारा भौतिक जीवन में आए परिवर्तन प्रतिरोध को जन्म दे रहे थे वहीं दूसरी तरफ बौद्ध और जैन विचारधाराओं की प्लेट-विवर्तनिकी भूमिका परिवर्तन की मानसिकता बना रही थी। लौह तकनीक से परिचय, प्रयोग एवं प्रसार ने परिवर्तन के औजार भी थमा दिए। सब कुछ बदल रहा था। पूर्व की सारी मान्यताएँ जाँची-परखी जाने लगी, पारम्परिक भारतीय समाज, दुरूह धार्मिक कर्मकाण्डों, जटिल याज्ञिक क्रियाओं, वर्णों एवं जातियों के आधार पर भेद परक स्तरीकरण, धर्म के आधार पर शोषण की संस्थाओं का पोषण, रूढ़ एवं अप्रासंगिक मान्यताओं के प्रचलन के परिणाम स्वरूप जर्जर हो चला था। वह टूटने के कगार पर था। और टूटा भी। लेकिन आर्थिक क्रिया व्यापारों के दबाव में एक धर्म आधारित समाज की संरचनाओं का टूट जाना या कहें भरभरा जाना एक बड़ी परिघटना तो अवश्य थीं परन्तु रोचक भी कम नहीं थी। रोचक इन सन्दर्भों में कि श्रमजीवी वर्ग पर परजीवी वर्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई। उत्पादन वर्ग निम्न वर्णों रहे और उपभोक्ता वर्ग उच्च वर्णों हो गए। औद्योगिक विकास ने नवीन सामाजिक मूल्यों की स्थापना की तो दूसरी ओर धार्मिक असमानताओं को भी जन्म दिया। एक ऐसे सामाजिक तंत्र का ताना-बाना बुना गया जिसमें आर्थिक विकास के लाभों को उच्च वर्णों के लिए सुरक्षित किया गया² क्योंकि भूमि एवं उत्पादन के अन्य साधनों पर नियंत्रण भी स्वाभाविक रूप से इन्हीं वर्णों का यानी ब्राह्मणों,³ क्षत्रियों,⁴ एवं सेट्टियों⁵ का ही था।

प्राचीन भारत में सामाजिक स्तरीकरण की जटिल प्रक्रियाओं की बेहतर समझ के लिए डॉ. ए.पी. ओझा का वैदुष्य विवेचन

काफी सहायक सिद्ध होता है जिसमें उन्होंने शास्त्रीय एवं लौकिक⁶ दो प्रकार के स्तरीकरण की चर्चा की है, जिसमें पहले का आधार था, समाज का परम्परागत चतुर्वर्णीय विभाजन⁷ तो दूसरे का आधार बनी राजनीतिक शक्ति एवं आर्थिक समृद्धि⁸। अधीत कालीन समाज इन दोनों की आधारों पर स्तरीकृत था। इस सत्य से विमुख नहीं हुआ जा सकता कि प्राचीन भारतीय समाज के स्तरीकरण में शास्त्रीय आदर्शों पर आधृत नियमन ही निर्णायक भूमिका निभाता रहा⁹ और लौकिक प्रवृत्ति या तो नेपथ्य में रही या फिर मंच पर कठपुतली बनी रही।

आलोच्य कालावधि में कुछ 'विशिष्ट आर्थिक गतिविधियों के चलते'¹⁰ पहली बार स्तरीकरण की लौकिक प्रवृत्ति भी मंच संचालन में सूत्रधार की भूमिका हथियाने की उत्सुकता और दक्षता प्रदर्शित करती है। एक नई व्यवस्था और नया सिद्धान्त विकल्प के रूप में सामने था। अधीत काल की सामाजिक संरचना, उस पर पड़ते दबावों, परिणाम स्वरूप हुए संशोधनों, परिवर्तनों एवं प्रतिरोधों की सही-सही जानकारी के लिए दो उपभागों में, पहला 600 से 322 ई.पू. और दूसरा 322 ई.पू. से 200 ई.पू. विभाजन सुविधाजनक प्रतीत होता है दूसरे शब्दों में कहें तो 'मौर्य पूर्व' और 'मौर्य युगीन' विभाजन और विश्लेषण विषय की सटीक एवं बेहतर व्याख्या करता प्रतीत होता है।

अधीतकालीन सामाजिक संरचना, चातुर्वर्ण व्यवस्था के आधार पर विभेदीकृत एवं स्तरीकृत, शोषण एवं दमन की अमानवीय स्थितियों का चरम निदर्शन प्रतीत होती हैं। यहाँ तक कि देवगण भी इस भेदपरक मानसिकता से बचे नहीं रह सके।¹¹

वैदिक काल की भाँति वर्ण निर्धारण का आधार कर्म नहीं रह गया था और जन्म के आधार पर वर्ण निर्णयन¹² जाति प्रथा की ओर अग्रसरण का स्वाभाविक साक्ष्य बन बैठता है। तत्कालीन समाज में जातियों के बहुशः उल्लेखों के फलस्वरूप यह अनुमान लगाया आसान हो जाता है कि उस समय जाति व्यवस्था एवं सर्व स्वीकृत संस्था के रूप में विद्यमान थी। धर्मसूत्रों में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों के फलस्वरूप उत्पन्न विभिन्न जातियों का उल्लेख है।¹³ चारों वर्णों के लिए जाति शब्द ही व्यवहृत होता था।¹⁴ पालि बौद्ध ग्रन्थों में विभिन्न जातियों को मोटै तौर पर दो भागों में विभाजित कर¹⁵ तत्कालीन सामाजिक संगठन को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है- 'उक्कट्ट' उत्कृष्ट तथा हीन। क्षत्रिय और ब्राह्मण जातियाँ उत्कृष्ट जातियों में तथा चाण्डाल, वेण, निषाद, रथकार तथा

पुक्कुस इत्यादि जातियाँ हीन जातियों में गिनी गई हैं। एक अन्य प्रमुख विशेषता इस युग में उभर कर सामने आती है कि विभिन्न जातियाँ अलग-अलग ग्रामों में बसने लगी। ब्राह्मण ग्राम¹⁶, क्षत्रिय ग्राम¹⁷, वनिय ग्राम¹⁸, निषाद ग्राम¹⁹, चाण्डाल ग्राम²⁰ इत्यादि जातिगत आधार पर बने ग्रामों का उल्लेख मिलता है।

तात्पर्य यह कि बुद्ध युग यानी मौर्य पूर्व युग में जातिभेद अपनी पराकृष्टा पर था। इसकी 'आक्टोपसी गिरफ्त' में तत्कालीन जन जीवन की समस्त सामाजिक एवं आर्थिक संरचनाएँ घुट रही थीं। सर्वाधिक शोचनीय दशा शूद्रों की थी। द्विजातियों द्वारा मात्र और मात्र अपने लाभ के लिए जो साँट-गाँठ किया गया था उसके तहत तमाम अशक्तताएँ 'हीन' जातियों पर थोप दी गई। इन्हें भी शूद्र वर्णान्तर्गत ही रखा गया²¹। कतिपय उल्लेखों के अनुशीलन से यह सम्भावना सहज ही अनुमित हो जाती है कि अस्पृश्यता की भावना भी उस समय की सामाजिक परिस्थितियों में सिर उठाने लगी थी।²² पाणिनी के द्वारा ('निरवसित') तथा ('अनिरवसित') के रूपों में शूद्रों के वर्गीकरण से भी यह संकेतित होता है कि कुछ जातियाँ विशेष घृणित समझी जाने लगी थीं, इतनी कि, आर्य समाज की सीमा के अंतर्गत उनका निवास सम्भव नहीं रह गया था।²³ बहुत संभव है- चाण्डाल एवं पुक्कुस ऐसी ही जातियाँ रही हों। रीज डेविड्ज का दीघ निकाय के हवाले से यह निष्कर्षण कि चाण्डाल एवं पुक्कुस चारो वर्णों अतएव शूद्रों से भी अलग थे,²⁴ अस्पृश्यता एवं आर्य आबादी से पृथक्करण से सन्दर्भ में उचित ही प्रतीत होता है।

अधीत कालीन सामाजिक संगठन में अशौच की परिकल्पना, उसका प्रबल प्रचार एवं व्यापक स्वीकृति के साक्ष्य विभिन्न धर्मसूत्रों में बिखरे पड़े हैं।²⁵

उन्हें कुत्तों और कौवों के साथ जोड़ा गया।²⁶ चाण्डाल को देखने, उसकी वाँपी सुनने या उसके समीप आ जाने मात्र से भी अशौच के लगने का उल्लेख देखा जा सकता है, जैसे-उस स्थान पर वेद का पठन-पाठन वर्जित है जहाँ को चाण्डाल ठहरा हुआ हों,²⁷ या जहाँ से दिखाई पड़ रहा हों,²⁸ या जहाँ से वेद पाठन की ध्वनि उसके कानों में जा सकती हो।²⁹

प्राचीन पालि ग्रन्थों में भी 'हीन जातियों' के रूप में चंडाल, नेषाद, वेण, रथकार और पुक्कुस के अनेकशः उल्लेख मिल जाते हैं।³⁰ इन हीन जातियों का ब्राह्मण कालीन समाज के अस्पृश्य जातियों से साम्य भी दृष्टिगत होता है³¹। हीन व्यवसायों, कार्यों एवं जातियों की गणना एवं वर्गीकरण प्रो. रामशरण शर्मा के मतानुसार मौर्यपूर्व काल की प्रवृत्ति मानी जा सकती है।³² अपने निष्कर्षण के पक्ष में उन्होंने विनयपिटक के एक साक्ष्य का हवाला दिया है जिसमें बुद्ध ने निर्देश दिया है कि भिक्षुओं से उनकी जाति इत्यादि पूछ कर अपमानित न करें।³³

वस्तुतः जन्मना और कर्मणा दोनों ही आधारों पर ये जातियाँ अधम समझी जाने लगी। चाण्डालों के समान निषादों की भी स्थिति अपने कर्म, प्रकृति³⁴ 'शिकार' के कारण हीन हो गई और ये अपने गावों में निवास करने लगे।³⁵ फिक ने बड़ी रोचक तुलना करते हुए बताया है कि शिकारियों का स्थान प्राचीन यूनान में भी निचली पायदानों पर ही रहा।³⁶

रथकार, जिन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों में अपेक्षाकृत ऊँचा स्तर हासिल था,³⁷ जातकों में कुछ हीनतर स्थितियों में प्रतिबिम्बित किया गया है। क्योंकि सम्भवतः उसने चमड़े पर आधारित शिल्प

भी अपना लिया था।³⁸ लेकिन बौद्ध ग्रन्थों में जिसमें सामान्य रूप से क्षत्रियों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है, रथकार, जो कि रथ के पहिए भी बनाता था³⁹ और इसलिए राजा अर्थात् प्रकारान्तर से क्षत्रियों के सहायक का ही काम करता था, उसे अधम जाति का माना जाना, क्या लगभग सर्वस्वीकृत इस मान्यता पर कि बौद्ध धर्म क्षत्रियों की वकालत करता है, हमें सप्रश्न नहीं कर देता? प्रो. शर्मा की यह मान्यता ठीक ही प्रतीत होती है कि चूँकि बौद्ध धर्म में युद्धों के प्रति घृणा का भाव मिलता है और ये आवश्यक रूप से उससे जुड़े हुए थे अतः इनके प्रति भी उनकी दुर्भावना समझी जा सकती है।⁴⁰

वेणों⁴¹ के सम्बन्ध में भी ऐसी ही पृच्छा प्रकट होती है कि यदि 'वैण' और 'तक्षक' शब्द एक ही अर्थ अभिव्यजित करते हैं⁴² तो जिस तक्षक को वैदिक समाज में एक सम्माननीय दर्जा हासिल था उसे बौद्ध साहित्य हीन जातियों में परिगणित करता है। परवर्ती जातकों में छिटपुट उल्लेखों को छोड़कर चाण्डालों के स्तर तक इनकी हीनावस्था या अस्पृश्यता⁴³ प्रमाणित करने के साक्ष्य नहीं पाए जाते।

अब अस्पृश्यता एवं हीन जातियों पर बुद्ध के विचारों का परीक्षण अनिवार्य प्रतीत होता है, क्योंकि तमाम अनुशीलनों के उपरान्त, मेरी ऐसी मान्यता बनी है, कि उन्होंने बिना किसी भेदभाव के मानव मात्र के लिए सम्मान एवं समता के सिद्धान्तों का परिपोषण किया।

बुद्ध ने कहा कि कोई भी मनुष्य जन्म के आधार पर न तो चाण्डाल होता है और न ही ब्राह्मण।⁴⁴ उच्च वर्णों में जन्म लेने वाले मरते नहीं क्या? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी तो मरते हैं।⁴⁵ उन्होंने चारों वर्णों के लोगों को

भिक्षु बनने की संस्तुति की है⁴⁶ एवं चाण्डालों तथा पुक्कुसों को निर्वाण प्राप्ति के सर्वथा योग्य बताया है।⁴⁷

ज्ञान पर ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती देते हुए यह प्रतिपादित किया कि शिक्षक बनने की योग्यता किसी जाति विशेष की बपौती नहीं। शिक्षक कोई भी हो सकता है और वह चाण्डाल या पुक्कुस ही क्यों न हो, सर्वथा आदरणीय है।⁴⁸ बुद्ध की शिक्षाओं का उद्देश्य क्या था इसका एक उद्धरण विशेष द्रष्टव्य है जिसमें एक ब्राह्मण चाण्डाल से जादू सीखता है परन्तु संकोचवश उसे गुरु की प्रतिष्ठा नहीं दे पाता फलतः अपनी विद्या भूल जाता है।⁴⁹ एक अन्य प्रसंग में एक ज्ञानी चाण्डाल द्वारा शास्त्रार्थ में हार जाने के बाद एक ब्राह्मण युवक को उस चाण्डाल के समक्ष नतशीर्ष होना पड़ा था।⁵⁰

संदर्भ संकेत

- पूर्ण विवरण के लिए द्रष्टव्यः शर्मा रामशरण, शूद्राज इन एशियन्ट इण्डियाः, द्वितीय संस्करण, दिल्ली-1980, पृ.-95. 98, 315.16
- शर्मा रामशरण, भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ.-158
- जातक, 3-293 4-276- ये दो उल्लेख मगध क्षेत्र के हैं सुत्तनिपात 1-4। यह उल्लेख काशी क्षेत्र का है। यें सभी बड़े प्रक्षेत्रों के उल्लेख हैं जिन पर ब्राह्मणों का स्वामित्व था।
- रिचर्ड फिक, दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इंडिया इन बुद्धाज टाइम पृ.-314, दत्तः ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट, पृ.-268-69
- फाइजर, दि प्राब्लम आफ दि सेट्टिड इन बुद्धिस्ट जातकाज, (आर्कीव ओरियन्टलानी, प्राग, 22), पृ.-238-265
- ओझा आदित्य प्रसाद, 'प्राचीन भारत में पराधीन समुदाय का सामाजिक स्त्रीकरण, हिन्दी कलम, सं- नीलकान्त, अंक-2, जनवरी-जून-1995, पृ.-87।
- वही, पृ.-87, विस्तृत विवरण हेतु- द्र. -वही अध्याय 2।
- वही, पृ.-87, विस्तृत विवरण हेतु- द्र. -वही अध्याय 2।

- ओझा, आदित्य प्रसाद, प्राचीन भारत में सामाजिक स्त्रीकरण, इलाहाबाद, 1992।
- विशिष्ट आर्थिक-गतिविधियाँ-लौह तकनीक का कृषि एवं दस्तरी में प्रयोग, अधिशेष उत्पादन नगरीकरण, शिलपौद्योगिक अर्थव्यवस्था एवं वाणिज्यिक गतिविधियों से आशय।
- काणे.पी.वी., हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जि. -2, भाग-1, पृ. 42। अग्नि, बृहस्पति-ब्राह्मण वर्ण के इन्द्र, वरुण, सोम, यम-क्षत्रिय वर्ण के वसु, रूद्र, विश्वे देवा तथा तथा मरुत वैश्य वर्ण के पूषण-शूद्र वर्ण के।
- पाराजिक, पृ.-306, (ब्राह्मणोनाम् जातिया ब्राह्मणो)
- गौतम धर्मसूत्र, 21.6-10, 18-24, 4-14, बौधायन धर्मसूत्र, 1.9.3, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.24.9.5।
- फिक, दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, पृ.-30. 31।
- पाचित्तिय पृ.-9.10।
- बौद्ध पिटकों में अनेक ब्राह्मण ग्रामों का उल्लेख आता है जैसे-खानुमत (दीर्घ निकाय 1, पृ.-127), एक नाल, (बुक आफ सेक्रेड सेइंस 1, पृ.-216), सालिन्द्य, (जाक 3, पृ.-293), जातक 4.पृ.-276, इत्यादि।
- वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ.-85.86
- वही।
- जातक 2, पृ.-36, जातक 4, पृ.-413, जातक 6, पृ.-71।
- जातक 4, पृ.-200, 376, 390, महावंश 4/41।
- मिश्र, जी.एस.पी, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था, पृ.-137।
- आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2-1.2, 8-9, बौधायन धर्मसूत्र प्रथम, 1.5.9.5, 1.5.11.36, गौतम धर्मसूत्र 14.30, वशिष्ठ धर्मसूत्र 23. 30।
- अष्टाध्यायी, 2.4.110
- टी. डब्ल्यू राइज डेविड्ज, डायलाग्स, आफ द बुद्ध भाग 1, पृ.-99.100, अमबट्टसुत्त की भूमिका।
- देखें-इसी अध्याय में संदर्भ सं.-221
- आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.4.9, 9, गौतम धर्मसूत्र, 15.24।
- आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.3.9.15, गौतम धर्मसूत्र 14.19 वशिष्ठ धर्मसूत्र, 13.11
- आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.3.9.17,
- वशिष्ठ धर्मसूत्र, 23.34।

- मज्झिम निकाय, 3, 169-78, 2
- शर्मा रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-118।
- शर्मा रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-118
- विनय पिटक, 4, 4-11, शर्मा रामशरण, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-118, सन्दर्भ सं.-3421
- जातक, 2, पृ.-200, 6, पृ.-71,170 जातक 5, पृ.-110, 337 मनुस्मृति, 10/48, इसकी तिथि अपेक्षाकृत बाद की है परन्तु इसमें निषाद के कर्म में मछली मारना बताया गया है।
- जातक, 6, पृ.-71,
- फिक रिचर्ड, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, पृ.-322
- गृह्यसूत्रों में उसके उपनयन सम्बन्धी विधान भी प्राप्त होते हैं जो निश्चित ही उसकी उच्चतर सामाजिक हैसियत का द्योतक हैं। यथा-भारद्वाज गृह्यसूत्र वसन्ते ब्राह्मणमुनीत...वर्षा रथकारं शिशिरे वा, बौधायन गृह्यसूत्र 5.6, 8.5 जैमिनी मीमांसा सूत्र, 1.50.
- जातक, 51, द्र.-पेतवत्थु अठकथा, 1.13 बोस सोशल एण्ड रूरल इकानामी आफ नार्दन ईण्डिया, पृ.-456
- अंगुत्तर निकाय, 1पृ.-111.113
- शर्मा, आर.एस, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-120.
- बोस, पूर्वोद्धृत, पु.-454.55 जातक, पृ.-251, इन उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि 'वेण' जनजाति वॉस के काम एवं शिकार द्वारा जीवनयापन करती थी।
- सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, पृ.-173. जातक पृ.-306, वेण जाति ति तक्षक जाति
- जातक पृ.-306
- सुत्तनिपात, 1.7.21, 3.9.57,
- विमानवत्थु, 5.13.15, पेतवत्थु, 2.6.12,
- मज्झिम निकाय, 1 पृ.-211, पृ.-182. 84, संयुक्त निकाय 1.99, विनय पिटक पृ.-239
- अंगुत्तर निकाय, पृ.-202, दीघ निकाय, पृ.-8.98
- जातक, पृ.-194, पृ.-303.
- जातक, पृ.-200
- जातक, पृ.-200
- जातक पृ.-233-35

प्राचीन भारत में खान खनिज एवं धातु-विज्ञान की प्रौद्योगिकी

कुमार रवि रंजन

शोध छात्र

स्नातकोत्तर इतिहास विभाग,

तिलकामाँझी भागलपुर विश्व विद्यालय, भागलपुर

प्राचीन भारत में खनिजों एवं धातुओं की खोज और प्रयोग का मानव जाति के इतिहास में काफी महत्वपूर्ण है। उसके कारण ही सभ्यता की ओर संक्रमण आरंभ हुआ। धातुओं से मनुष्य को एक अत्यन्त उपयोगी सामग्री प्राप्त हो गई, जो पत्थर से अधिक टिकाऊ थी, और जिसका इस्तेमाल विविध प्रकार के औजारों, उपकरणों, मूर्तियों और हथियारों को बनाने के लिए किया जाता था।

प्राचीन भारत में खनन एवं धातु-विज्ञान की विधा सैन्धव सभ्यता के युग से ही विकासोन्मुख दशा में थी। सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, टिन, काँसा और मिश्र धातु से बने हुए धातु जैसे- काँसा (Bronze), पीतल (Brass) आदि से निर्मित विभिन्न वस्तुओं के प्रचलन के प्रमाण मेहरगढ़, हड़प्पा व मोहनजोदड़ो (पाकिस्तान) इत्यादि के उत्खनन के दौरान मिले हैं। सिंधू सभ्यता के निवासियों ने धातु विज्ञान एवं तकनीक के क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल की थीं। उन्हें रसायन विद्या, धातु, शिल्पकला, औषधि तथा शल्य क्रिया का समुचित ज्ञान था। सर्व प्रथम जिस प्रमुख धातु को ढुढ़ निकाला गया और जिसका इस्तेमाल औजार बनाने में किया था वह ताँबा था। उन्हें खानों से धातुओं को निकालने एवं गलाने की कला और रंगों की प्रयोग की जानकारी प्राप्त थी। वे वहाँ भट्टियों पर ताँबा और टिन को गलाकर एक नवीन धातु काँसा का अविस्कार किया।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के दुर्ग के किनारे बड़ी-बड़ी भट्टियों के अवशेष पाए गए हैं, जहाँ विभिन्न धातुओं को विविध तापक्रम पर पिघलाने और अयस्क से निष्कर्षित करने

के कार्य किए जाते थे। सोना, चाँदी, सीसा, टिन, ताँबा, इत्यादि सैन्धव निवासी राजपूताना, बलूचिस्तान, आफगानिस्तान एवं ईरान से मंगवाते थे। और फिर उन्हें भिन्न-भिन्न रूपों व साँचों में ढालने का कार्य यहाँ किया जाता था।

वैदिक युग में भी धातुओं का प्रयोग का पता लगता है। ऋग्वेद का 'अयस्क' या "अयस" शब्द धातु के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेद में वर्णित शब्द श्याम अयस का अर्थ संभवतः काँसा होता था। परन्तु लोहम् (लोहितम्) अयस का अर्थ लोहा होता है। उत्तरवैदिक काल में खनन एवं धातु विज्ञान के क्षेत्र में एक क्रांति आ गई, जब लौह अयस्क खोज लिए गए और उनके प्रयोग प्रारंभ हुए। यजुर्वेद में कृष्ण अयस्क लौह अयस्क को इंगित करते हैं। यद्यपि वैदिक ग्रंथों में खानों के नाम और खनन की प्रविधि या प्रौद्योगिकी के स्पष्ट उल्लेख नहीं हैं। तथापि धातुओं के उपयोग से वैदिक आर्यों का अवगत होना यह दर्शाता है, कि विविध धातुओं के अयस्कों की पहचान उनके निष्कर्षण और शोधन जैसे - कार्य पद्धतियों से वे परिचित थे।

मौर्य युग के आगमन के साथ ही पूँजी और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में क्रमशः अभिवृद्धि होती रही है। मौर्यों के पश्चात हर्ष वर्द्धन के शासन काल तक की अवधि के मध्य कृषि, व्यापार, कारखाने, खान एवं खनन, जैसे - विषयों का पर्याप्त विकास हुआ, क्योंकि इनसे राजकीय खजानों को लाभ पहुँचता था। और विदेशी आक्रमणों से राज्य की सुरक्षा भी होती थी। फलतः खानों से धातुओं के निष्कर्षण और औजारों, हथियारों एवं आभूषणों के रूप में उनके उपयोग से लोगों के जीवन के गुणवत्ता में सुधार ला दिया है।

उपरोक्त आलोच्य अवधि के अंतर्गत अनेक स्रोतों से हमें खान एवं खनिज की जानकारी उपलब्ध होती है। कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में 12 वें से 14 वें अध्याय में खनन और तत्संबंधी कारखानों के विवरण प्रस्तुत किए गए हैं। जो राज्य की आय के लिए आवश्यक माने जाते थे। यहाँ विभिन्न धातुओं जैसे - स्वर्ण, रजत, ताम्र, शीशा, टिन और लोहा इत्यादि के अयस्कों से निष्कर्षण और उनसे शुद्धिकरण की प्रक्रिया का भी हम जिक्र पाते हैं।

भूगर्भ से स्वर्ण प्राप्त करने के संबंध में कौटिल्य यह जानकारी प्रदान करता है कि ऐसी चट्टानों अथवा भूगर्भ क्षेत्र जो कमल, पुष्प के रंग का हो, मूदा चिकना और चमकीला हो, तो वहाँ उत्कृष्ट श्रेणी के स्वर्ण पाए जा सकते हैं। यदि इसके अयस्क का रंग लाल, पीला, सदृश्य हो तो इसका अर्थ

हुआ मध्यम श्रेणी का स्वर्ण और यदि सिर्फ लाल हो तो वह निम्नतम गुणवत्ता वाला स्वर्ण होगा। इसी प्रकार ऐसा रजत जो पूर्णतः श्वेरा, चिकना और मृदु हो। कौटिल्य के अनुसार वह सर्वोत्तम होता है। लेकिन यदि ऐसे रजत के ऊपर एक आड़ी - तिरछी रेखा स्पष्ट और चमकीली हो, तथा दही के रंग का हो तो इसको भी शुद्ध रजत की श्रेणी का माना जाता है। किंतु यदि ये रंग इसके विपरित हो और ऐसा अयस्क सहजता से बिखर जाता हो तो चाँदी की अशुद्धता को दर्शाता है।

अर्थशास्त्र में स्वर्ण अयस्क को पिघलाने या गलाने की विधि का भी वर्णन हुआ है, जिसे स्वर्णपाक कहा जाता था। यह भी कहा गया है कि स्वर्ण निष्कर्षण की शुद्धता के लिए इसे पिघले हुए शीशे के साथ प्रतिक्रिया करवाया जाना चाहिए। ठीक उसी प्रकार चाँदी का शुद्धिकरण भी पिघले हुए शीशे के साथ प्रतिक्रिया करवाया जाना चाहिए। और फिर उसे शुद्ध रूप में प्राप्त किया जा सकता है। ताम्र अयस्क का पता करने के लिए कौटिल्य ने कहा कि इसके अयस्क चट्टनों या भूगर्भ में पाए जाते हैं। यह अयस्क सामान्यतः वजनदार, मृदु और हरे एवं लाल रंग सदृश्य होते हैं। इसी प्रकार शीशा के अयस्क का रंग कौए या पनडुब्बी के रंग का हो अथवा पीले और उजले रंग का हो और उन पर श्वेत लकीरों की आकृतियों उभरी रहे तो वे शीशा प्राप्त करने के लिए उच्च श्रेणी के अयस्क समझे जाएँगे। ऐसे अयस्क जो भूरे रंग के हो अथवा पकाई गई ईंटों के रंग जैसे - हो तो उन्हें टिन का अयस्क मानना चाहिए। क्रमशः लौह अयस्क के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र यह जानकारी देता है कि ये चिकने पत्थरों से बने होते हैं, और इनके रंग कुछ

श्वेत और कुछ भूरे लाल से होते हैं। साथ ही यहाँ यह भी बतलाया गया है, कि यदि अयस्क की मात्रा में भारीपन हो तो ऐसा समझना चाहिए, कि इन अयस्कों से धातु अधिक मात्रा में निष्कर्षित होंगे। अर्थशास्त्र यह भी उल्लेख करता है, कि ताँबा, शीशा, टिन, लोहा, जस्ता एवं इनके मिश्र धातु बनाने के कारखाने (मंतास) खोले जाने चाहिए। इन धातुओं से बने सामान बाजारों में विक्रय के लिए भेजे जाने चाहिए और उनसे प्राप्त होने वाली आय राजकोष में जमा होते रहना चाहिए। अतएव कौटिल्य यह सुझाव देता है कि राज्य को खान राजकीय हिस्से की आय और इस सम्बन्ध में विभिन्न खानों से निकलने वाली 12 धातुओं एवं उनसे बने सामानों पर कर वसूली की जानी चाहिए।

इस प्रकार कौटिल्य के अनुसार राजकीय खजाने की पूँजी में अभिवृद्धि के लिए राज्य को खनन एवं खनिज पदार्थ को सर्वाधिक महत्व दिए जाने चाहिए। वास्तव में ऐसी प्रौद्योगिकी प्रगति में प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया जो शुंग, कुषाण, सातवाहन, एवं गुप्त शासनकाल में आर्थिक स्थिति निरंतर पल्लवित पुष्पित होती रही। नागसेन कृत मिलिन्दपन्हो, पंतजलि के प्रसिद्ध ग्रंथ महाभाष्य, चरक की चरकसंहिता, सुश्रुत की संहिता, नागार्जुनरचित रसरत्नाकर तथा स्फूटिध्वज लिखित यवनजातक जैसी- रचनाएँ समकालीन भारत की खनिज सम्पदाओं का हमें बोध कराते हैं। पंतजलि ने सोना के लिए इरण्य और टिन के लिए द्रव शब्द के प्रयोग किए हैं। चरक एवं सुश्रुत की संहिताओं से यह विदित होता है कि स्वर्ण, रजत, ताम्र, जस्ता, पारा, लोहा, शीशा, टिन इत्यादी का चिकित्सा के लिए विशेष कर औषधि के रूप में इस्तेमाल होता था। नागार्जुन ने धात्विक लवण

(Metallurgic Salts), प्रचलित रसायन (Alchemy) और धातु विज्ञान (Metallurgy) के सम्बन्ध में अपनी विशुद्ध विवेचना प्रस्तुत की है।

स्फूटिध्वज ने कुछ धतुओं के लिए प्रचलित नए शब्दों की जानकारी दी है। जैसे- जस्ता के लिए 'रसक' लोहा के लिए कृष्ण अयस्क और इस्पात के लिए शस्त्रम्। यद्यपि उपर्युक्त ग्रंथों में खनन क्षेत्रों के संबंध में पर्याप्त सूचना नहीं दी गई है। तथापि इस विवरण से यह तो पता चलता है कि उस काल में भी धातु निर्माण की जानकारी समकालीन निवासियों में थी। इतना ही नहीं साम्राज्य विस्तार की नीति का क्रियान्वयन अर्थ और व्यापार में अभिवृद्धि तथा सांस्कृतिक संपन्नता जैसे कारकों ने गुप्तों के राजकोष को अत्यंत समृद्ध बना दिया है। फलतः ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ प्रसारित हुईं, धातुओं के उत्खनन की तकनीक और अधिक विकसित कर दी गई तथा इससे नागरिक जीवन भी खुशहाल हुआ।

गुप्त काल एवं परवर्ती गुप्तकाल की कई रचनाएँ उपर्युक्त प्राति पाध विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। अमरसिंह कृत अमरकोष में विभिन्न खनिजों एवं धातुओं के वर्णन किए गए हैं। यहाँ लोहा के लिए 'अश्मसार' और टिन के लिए बंग जैसे- नए शब्दों के उल्लेख मिलते हैं। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में धातु निर्माण की प्राक्रियाओं से संबंधित अनेक प्रसंग आए हैं। इस प्रसिद्ध ग्रंथ में अयस्क से स्वर्ण प्राप्त करने की विधि भट्टियों में विभिन्न तापक्रम पर स्वर्ण अयस्क को पिघलाना विभिन्न आकृतियों में उसे ढालना तथा सोने की शुद्धता की जाँच जैसे विषयों के भी वर्णन किए गए हैं। चाँदी के खानों का उल्लेख रजत कर के रूप में हुआ है। लाल तप्त ताम्र अयस्क से ताँबा प्राप्त किया जा सकता है और उसे विभिन्न रूपों में ढाला भी जा सकता

है। इसके अतिरिक्त धातुओं को जोड़ने के लिए ब्रजसंधात कि विधि की भी चर्चा इस ग्रंथ में है। यह कहा गया है कि शीशा और काँसे को मिलाकर वज्रसंधात तैयार किया जाता था। यहाँ इस्पात के लिए शस्त्रपन शब्द प्रयुक्त हुआ है, और इसे कठोर बनाने के तरीके भी बतलाए गए हैं।

उपर्युक्त साहित्यिक श्रोतों के अलावे विदेशी यात्रियों के विवरण तथा पुरातात्विक साक्ष्य के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में खान-खनिज एवं धातु-विज्ञान की तकनीक अत्यंत समृद्ध थी। उदाहरणार्थ कर्नाटक के कोलार और हैट्टी खानों से सोना आता था। हैट्टी का स्वर्ण खान अशोक के शासन काल के पहले से ही प्रयोग में था। इसके साथ ही महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश में भी प्राचीन काल के स्वर्ण खान मिले हैं। चाँदी, सीसे के अर्जेंटोकेरस अयस्क से प्राप्त किया जाता था, जो ब्लूचिस्तान और राजस्थान से मिलते थे। इसी तरह से सीसा, जस्ता और चाँदी का लगभग 500 ई. पू. से खनिज राजस्थान के जोमवार, राजपुर, दरिबा, रामपुर भगूचा, जवार इत्यादि और कर्नाटक के ईगलधल से प्राप्त होता है। हिन्दुस्तान जिक लिमिटेड ने भी इस संबंध में अपने प्रकाशनों द्वारा यह सूचित किया है, कि उपर्युक्त स्थलों में खनन कार्य और उनके औद्योगिक संगठन भी खड़े थे। इसके अतिरिक्त ताम्र निष्कर्षण के पुरातात्विक साक्ष्य कई स्थलों से उपलब्ध हुए हैं, जैसे- गुजरात के अम्बाजी, राजस्थान के खेतड़ी काँपर वर्किंग्स, झारखण्ड (पूर्व बिहार) के सिंहभूम काँपर बेल्ट, हजारीबाग, रामगढ़, रामचन्द्र पहाड़ इत्यादि। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि Indian Copper Corporation Limited ने ताम्बे के उपर्युक्त उत्खनित स्थलों में से कुछ को दुबारा क्रियाशील बनाने में सफलता पाई है। प्रख्यात इतिहासकार विद्वान डी.डी.

कोशाम्बी ने यह बिल्कुल सही लिखा है, कि झारखण्ड (पूर्व बिहार) के दक्षिणी पूर्वी अंचलो में ताम्र खनन विकसित कर लिए गए थे। उत्खनन के पश्चात् हमें यह भी पता चला है, कि मौर्य साम्राज्य के समीप दो ताम्र खाने थी। (1) बारागुण्डा और (2) सिंहभूम में। यह भी कहा गया है, कि छोटानागपुर के डालभूम में स्वर्ण और ताम्र अयस्कों का उनके धातुओं का निष्कर्षण चन्द्रगुप्त मौर्य के काल से ही किया जाता था। साथ ही साथ तक्षशिला, वैशाली, प्रकाश, राजधात इत्यादि स्थलों से खुदाई होने के उपरांत इस तथ्य के प्रमाण मिले हैं कि गुप्त और उत्तरगुप्त काल में भी ताम्बे का खनन और निष्कर्षण किया जाता था।

लौह - अयस्क झारखण्ड के सिंहभूम में उड़ीसा के मयूरभंज में और तमिलनाडु के तिरुचिरापल्ली एवं सलेम में कर्नाटक के बेल्लारी और हिरियार में तथा मध्य-प्रदेश के बैलाडीला रॉंगघाट इत्यादि से पाए गए हैं। इसके अलावे आन्ध्रप्रदेश से लोह - अयस्क भी आपूर्ति की जाती थी।

यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि जस्ता का सर्वप्रथम निष्कर्षण प्राचीन भारत में ही किया गया था। साथ ही साथ जंगरहित लोहे का निर्माण भी प्राचीन भारत की एक महत्वपूर्ण खोज थी। दुर्भाग्यवश इस तकनीक की जानकारी आधुनिक वैज्ञानिकों को भी नहीं है। उदाहरण के लिए दिल्ली में मेहरौली स्थित लौह-स्तम्भ के नाम उल्लेखनीय है। यह स्तम्भ 23 फीट 8 इंच लम्बा और 6 टन वजन का है। यह चौथी सदी ई० का है। लगभग सोलह सौ वर्ष बीत जाने पर इसमें जंग नहीं के बराबर है। यह स्तम्भ शिल्पकारी के महान तकनीकी कौशल का प्रमाण है। अब तक इसमें जंग न लगने के कारण ऐसे लोहे की गुणवत्ता पर आश्चर्य प्रकट करना स्वाभाविक है।

इसी प्रकार इस्पात निर्माण के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय लोग परम कुशल थे। इस्पात बनाने की कला सबसे पहले भारत में ही विकसित हुई। भारतीय इस्पात का अन्य देशों में निर्यात प्राचीन काल में होने लगा और बाद में आकर वह उत्स (Wootz) कहलाने लगा। इस्पात निर्माण के पुरातात्विक साक्ष्य कोशाम्बी, बेसनगर, तक्षशिला इत्यादि, स्थलों से मिले हैं। भारतीय इस्पात से मध्य एशियन के देशों में तलवार और ब्लेड बनाए जाते थे।

विश्व की कोई अन्य देश इस्पात की वैसी तलवारें नहीं बना सकता था। जैसे भारतीय लोहार बनाते थे। पूर्वी एशिया से लेकर पूर्वी यूरोप तक इनके तलवारों की भारी माँग थी। विश्व का पहला हाई-कार्बन स्टील प्राचीन भारत में तैयार हुआ था।

अतः इस प्रकार प्राचीन भारतीय पुरावशेषों स्तम्भों धातुओं, भग्नावशेषों, कलाकृतियों, एवं साहित्यिक ग्रंथों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में खान-खनिज एवं धातु-विज्ञान की उन्नति पराकाष्ठा पर थी। जिसके कारण सम्पूर्ण विश्व में भारतीय धातु कला एवं विज्ञान की प्रौद्योगिकी सर्वश्रेष्ठ स्थिति में थी। साथ ही आधुनिक भारत के नवनिर्माण में काफी सहायक सिद्ध हुई, इसके फलस्वरूप तात्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति भी प्रभावित हुई और प्रगति पथ पर निरंतर अग्रसरित हो सकी।

संदर्भ

- A.K. Biswas: *Minerals and Metals in Ancient India*, D.K. Print World, Delhi, 1996
- Agrawal, D. P. : *The Copper Bronze Age in India*, New Delhi: Munshiram Manoharlal, 1971.
- Agrawal, R.C. : *Aravalli, the Major Source of Copper for the Indus Civilization and Indus related Cultures*. New Delhi: Books and Books, 1984.

पाश्चात्य शिक्षाडम्बर में समाविष्ट वैदिक शिक्षा पद्धति

राज कुमार राय

शोधार्थी

वेद अपौरुषेय है, यह सर्वतोभावेन सिद्ध है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वेद शब्द की निष्पत्ति “विद् ज्ञाने” धातु से हुआ है। वेद भारत की संस्कृति की अमूल सम्पदा है। आर्यों का अत्यन्त प्राचीनतम ग्रन्थ वेद ही है।

वेद का शाब्दिक अर्थ “ज्ञान” है। प्राचीनता तथा महानता के कारण वेदों को मानव रचित न होकर अपौरुषेय अर्थात् ईश्वर प्रदत्त माना गया है। वेद किसी व्यक्ति विशेष अथवा निश्चित काल में नहीं लिखे गए, अपितु समय-समय पर भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा लिखे गए।

पौराणिक ग्रन्थों को आधार मान कर ब्रह्मा के चारों मुखों से चारों वेदों की रचना हुई, और ये शब्द आकाश में विचरण करने लगे “शब्द गुणकमाकाशं तच्च विभुं नित्यङ्गच”। तत् ऋषियों द्वारा उन भाषाओं को संकलन किया गया जो चार वेदों के रूप में सम्पुष्ट हुआ।

- (1) ऋग्वेद
- (2) यजुर्वेद
- (3) साम वेद
- (4) अथर्ववेद।

इनमें ऋग्वेद अत्यन्त प्राचीनतम ग्रन्थ है। विभिन्न इतिहासकारों के मत से यह पुष्ट हुआ है कि ऋग्वेद की रचना सर्वप्रथम ई. पू. 1500 से 4000 ई. पू. हुई होगी। परन्तु खेद है कि उसमें किसी भारतीय इतिहासकार का नाम नहीं आता।

आर्यों का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है, यह ग्रन्थ 1017 सूक्तों में विभक्त है, साथ ही 11 वालाखिल्य सूक्तों को मिला कर कुल 1028 सूक्त विद्यमान हैं। दस संहिता मण्डल में विभक्त हैं ऋग्वेद से ही आर्यों की सामाजिक, आर्थिक,

शैक्षणिक, धार्मिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं पर व्यापक प्रकाश पड़ता है।

वैदिक युगीन शिक्षा पद्धति

वैदिक युगीन शिक्षा पद्धति का जब हम सिंहावलोकन करते हैं तो पाते हैं कि उस युग की शिक्षा पद्धति समशुद्ध थी। गुरु-शिष्य परम्परा वैदिक युगीन नहीं है। वैदिक युग में मानव जीवन को चार भागों में बांट कर आर्यों का आठ से बारह वर्ष के भीतर यज्ञोपवीत संस्कार कर के उसे गुरुजनों के आश्रमों में शिक्षा ग्रहणार्थ भेज दिया जाता था।

यमी-यम पत्र सम्वाद पूर्ण शिक्षित व्यवस्था की उपज है। यद्यपि ऋग्वेद में उपनयन संस्कार का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु उत्तर वैदिक काल में उस संस्कार का अधिक महत्व मिलता है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य धार्मिक तथा साहित्यिक शिक्षा प्रदान करना था। जिसके द्वारा आर्य-संस्कृति का प्रचार-प्रसार हो सके।²

“विध्यादमश्तमश्नुते” अथवा “सा विद्या या बिमुक्तये” ये वैदिकवान्य वैदिक युगीन शिक्षा पद्धति के महत्व को परिभाषित करते हैं। आश्रमों में कुलपति का चयन तथा 40000 छात्रों एवं 1000 अध्यापकों की व्यवस्था वैदिक युगीन शिक्षा पद्धति की ही देन है।

वी. जी. गोखले के अनुसार- “इस प्रणाली का आयोजन इस प्रकार का था कि जीवन के प्रति छात्र का दृष्टिकोण विस्तृत हो जाय, उसमें ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो, उसकी बुद्धि प्रखर हो और उसके व्यक्तित्व विकास द्वारा उसके अन्दर चरित्र बल की स्थापना हो”, कर्माधारित जाति व्यवस्था के अनुसार शिक्षा की भी व्यवस्था उस युग में की गयी थी। वैदिक काल में लोगों को लिखने का ज्ञान था या नहीं इसका पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता अतः यह सन्देहास्पद है। पाश्चात्य विचारकों का मत है कि वैदिक लोगों में लिखने का ज्ञान नहीं था। परन्तु “ऋषयों मन्त्र द्रष्टारः” यह सिद्ध करता है कि यदि ऋषि अपनी प्रज्ञा-चक्षु से आकाश में विचरित ऋचाओं को देखता था तो उसे विना लिपिबद्ध किए उन वैदिक ग्रन्थों की रचना कैसे हुई, जिसकी शिक्षा छात्रों अन्तेवासियों को दी गयी। अतः यह पुष्ट होता है कि वैदिक युगीन आर्य लिपि में भी अभ्यस्त थे।

ऋग्वैदिक काल के बाद उत्तर वैदिक काल में शिक्षा में आमूल परिवर्तन हुआ। ऋग्वैदिक काल में केवल ऋग्वेद की

रचना हुई, वहीं उत्तर वैदिक काल में शेष यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद की रचना की गयी। साथ ही ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों एवं उपनिषदों की भी रचना हुई। आर्य सभ्यता का पूरब एवं दक्षिण में विकास हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में तथा सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में भी आर्यों का सम्पूर्ण विकास हुआ।

शिक्षा का उद्देश्य जीवन को सुखमय बनाना था। वैदिक युगीन शिक्षा मात्र पुस्तकीय नहीं थी। अपितु वह शिक्षा भावी जीवन को सुखमय बनाने के लिए तथा जीवन में संघर्ष का सामना करने के लिए व्यवहारिक ज्ञान प्रदान करती थी। आध्यात्मिक एवं सांसारिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना ही सम्भवतः शिक्षा का प्रमुख ध्येय था।

उपनयन संस्कार के बाद विद्यार्थी को गुरु के आश्रम में भेजा जाता था। जहाँ गुरु व शिष्य के मध्य सीधा सम्पर्क रहता था। गुरु विद्यार्थी को वेद, उपनिषद, व्याकरण के अतिरिक्त व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा देता था। वैदिक युग में नारी शिक्षा की भी व्यवस्था उत्तर वैदिक युग में मिलती है। गार्गी, मैत्रेयी, विश्वपा, गार्गायणी, लोपाद्रुमा, प्रभृति स्त्रियाँ अपनी विद्वता के बल पर शिष्यों को शिक्षा दान के साथ ही साथ सभाओं एवं परिषदों में भी भाग लेती थीं। उपनिषदों में भी अनेकों विदुषी स्त्रियों के उदाहरण देखने को मिलते हैं।

सूत्रयुग में भी शिक्षा का व्यापक विकास हुआ। उपनयनोपरान्त शिक्षा को गुरु के आश्रम में भेज दिया जाता था। शिष्य को सूत्र काल में छात्र पद से अभिहित किया जाने लगा था कारण कि गुरु उसे अपनी छत्र छाया में आच्छादित कर रखते थे। उसका नामकरण भी गुरु के नाम के साथ अथवा उसके अध्ययन के विषयों के

आधार पर पड़ता था। उदाहरणार्थ पाणिनि के शिष्य को पाणिनीय अथवा छन्द का अध्ययन करने वाले को छान्दस कहते थे। शिष्यों को मुख्यतया वैदिक साहित्य व वेदांग की शिक्षा दी जाती थी। नैतिक आचरण पर भी विशेष बल दिया जाता था। स्त्री शिक्षा की भी उचित व्यवस्था की जाती थी। स्त्रियों का यज्ञोपवीत संस्कार भी होता था, ऐसा वर्णन मिलता है। मौंजी, मेखला धारण कर आश्रमों में साथ-साथ शिक्षा ग्रहण करती थी।

आधुनिक शिक्षा पद्धति

शिक्षा का क्षेत्र वैदिक युग से प्रारंभ कर आधुनिक युग तक अपनी अदम्य प्रतिभा का प्रस्तार करता हुआ 21वीं सदी में क्रान्तिकारी युग में प्रविष्ट हो चुका है। प्राचीन शिक्षा पद्धति जिसे हम वैदिक शिक्षा के नाम से जानते हैं, अपनी प्रतिभा के बल पर अपनी छाप से जन-मानस को आप्लावित करती हुई समय-समय पर कालचक्रों में पीसती हुई आधुनिकता का चादर ओढ़ कर आधुनिक युगीन सोपानारोहित हो गयी। शिक्षा के क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ। आज हम विज्ञान युग में जी रहे हैं जिसे आधुनिक शिक्षा पद्धति की देन मानते हैं।

वस्तुतः हमारी आधुनिक शिक्षा पद्धति पाश्चात्यों (अंग्रेजों) की देन है। भारतीय शिक्षा जो वैदिक शिक्षा पर आधारित थी, अंग्रेजों ने उसे समाप्त कर “लार्ड मैकाले” द्वारा बनाई गई शिक्षा को हम पर थोप दिया। ग्यारहवीं शताब्दी तक जहाँ इस देश की शिक्षा वैदिक युगीन थी बोल-चाल की भाषा संस्कृत थी, वहीं ग्यारहवीं शताब्दी के बाद मुगलों, यवनों, शाकों, चालुक्यों के आक्रमण के बाद शनैः-शनैः इसमें विकार उत्पन्न होने लगा।

मध्य युगीन शिक्षा की व्यवस्था एकाएक धाराशयी हो गयी। केवल सम्भ्रान्तों तक ही सीमित रह गयी। अंग्रेजों के भारत आगमन के बाद यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में कुछ सुधार हुआ, लेकिन यह भी उनकी अपनी विचारधारा के अनुसार पाश्चात्य शिक्षा पद्धति को ही प्राथमिकता दी गयी।

लॉर्ड मैकाले जो पाश्चात्य था, ने जो आधुनिक शिक्षा का दीप जलाया वह धीरे-धीरे इस देश पर अपना प्रभाव छोड़ता चला गया। यद्यपि भारत आज 21वीं सदी में प्रविष्ट है। आधुनिक शिक्षा के बल पर हम चन्द्रमा-मंगल का दर्शन कर आए हैं, स्व. राजीव गाँधी ने जिस आधुनिक शिक्षा का दीप जलाया आज वह क्रान्ति युग में प्रविष्ट हो चुका है।

संचार क्रांति स्व. राजीव गाँधी की ही देन है। विज्ञान के माध्यम से हम नित नये शोध के द्वारा अप्रत्यासित विकास कर रहे हैं। मौसम विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, वायु विज्ञान, समुद्र विज्ञान, प्रभृति के माध्यम से उन-उन तत्वों को आज हमे जानने का अवसर मिल रहा है जिसके लिए कभी हम सोचा करते थे।

आधुनिक शिक्षा पद्धति के बल पर हम चन्द्र तारों की शैर करते हैं। संचार क्रांति, मेट्रो सेवा, वायु सेवा, इन्टरनेट वेबसाइट, घर बैठे वायु टिकट, ट्रेन टिकट इनकी आने-जाने की जानकारी, कल होने वाले कार्यक्रमों की जानकारी विदेशों में बैठे अपने लोगों से सामने बैठ कर बातचीत करना, क्षण-क्षण की प्रत्येक कोणों की जानकारी आज हम आधुनिक शिक्षा पद्धति के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। आधुनिक शिक्षा की सबसे बड़ी विशेषता रोजगारोन्मुख शिक्षा है। जिसके द्वारा आज हम रोजगारोन्मुख होकर कुछ करते हैं। कम्प्यूटर शिक्षा के द्वारा आज देश का हर युवा वर्ग अपनी

मन पसन्द रोजगार को प्राप्त करता है। तकनीक की नई-नई बहु आयातित व्यवस्था भारतीय युवाओं को कुछ विशेष करने के लिए प्रेरित करती है जिसके बल पर बड़े से बड़े असम्भव कार्य को भी हम साध्य कर सकते हैं। विदेशों में भी आज हमारी शिक्षा का व्यापक प्रचार-प्रसार हो रहा है। कॉरपोरेट जगत इसका साक्षी है जिसमें क्रान्तिकारी विकास हुआ है।

समीक्षा

वैदिक युगीन शिक्षा पद्धति और आधुनिक शिक्षा पद्धति में व्यापक अन्तर है। वैदिक युगीन शिक्षा पद्धति जहाँ कर्माधारित जाति व्यवस्था जनित थी, वहीं आधुनिक शिक्षा पद्धति सर्वजनीन है। वैदिक युगीन शिक्षा पद्धति में जहाँ सीमित नारी शिक्षा की व्यवस्था थी, जो केवल सम्भ्रान्त वर्गों तक ही सीमित थी। आज प्रत्येक समाज एवं क्षेत्र का व्यक्ति नर-नारी सभी को समान शिक्षा का अधिकार प्राप्त है। वैदिक युग में यद्यपि विज्ञान कम प्रभावी नहीं था। त्रेता युगीन पुष्पक विमान जिस पर असीमित व्यक्तियों के बैठने के बाद भी एक व्यक्ति के बैठने की जगह बची रहती थी जो आज के युग में ऐसा सम्भव नहीं है। समुद्र पर सेतुबांध

रामेश्वरम् की स्थापना आज के विज्ञान युग के लिए असम्भव है। वैदिक युग में लक्ष्यभेदी बाण अपने लक्ष्य का भेदन कर पुनः अपने स्थान को लौट आते थे। यद्यपि आज हमारे इस प्राकर के राकेट मिसाइल है परन्तु ये लक्ष्य भेदन के बाद नष्ट हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हम विज्ञान के क्षेत्र में भी वैदिक युग में अग्रगण्य थे।

ज्योतिष के प्रकाण्ड ज्ञाता आचार्य भाष्कर ने सातवीं शताब्दी में यह सिद्ध कर दिया था कि आकाश में छोड़ी गयी कोई भी वस्तु पृथ्वी के आकर्षण के कारण पृथ्वी पर ही गिरती है। जिसे न्यूटन ने बाद में आकर सिद्ध किया। $2 + 2 = 4$, वैदिक अंकगणित ही आज गणित का आधार है। वैदिक गणित 1 से 9 तक संख्याओं का जनक है जिसे हम आज आधुनिक शिक्षा से जोड़ कर लक्षित करते हैं। वैदिक युगीन शिक्षा पद्धति व्यक्ति को नैतिक मूल्यों पर आधारित शिक्षा का ज्ञान देती है वहीं आधुनिक शिक्षा पद्धति में इसका घोर अभाव है। सामाजिक समरसता का ज्ञान भी शून्य सा है। वैदिक शिक्षा व्यक्ति को मानवता से उपर उठ कर “सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय” का आधार स्तम्भ माना जाता था, जो आधुनिक शिक्षा पद्धति में व्यक्ति हिताय होकर रह गयी

है। अस्तु। वैदिक युगीन शिक्षा पद्धति आधुनिक शिक्षा पद्धति से कहीं ज्यादा ही व्यापक एवं जन कल्याणकारी थी। यद्यपि आधुनिक शिक्षा पद्धति में प्रत्येक व्यक्ति को अपने अभिव्यक्ति की आजादी का अधिकार प्राप्त है।

संदर्भ

- Aiyar, R. Krishnaswami: Outlines of Vedaanta, Chetana, Bombay, 1978.
 Alper, Harvey: Mantra, Albany: State University of New York Press, 1989.
 Arnold, E. Vernon: Vedic Metre in its Historical Development, Cambridge: Cambridge University Press, 1905.
 Austin, B.: Guide to Indian Philosophy, G. K. Hall, Boston, 1989.
 B.G. Tilak: The Arctic Home in the Vedas, Kesari, Poona City, 1903.
 Bahadur, K.P.: The Wisdom of Vedaanta, Sterling Publishers Private Limited, New Delhi, 1996.
 Banerjea, J. N.: Pauranic and Vedanta Religion, University of Calcutta, Calcutta, 1996.
 Bankimchandra, C.: Essentials of Dharma, Sanskrit Book Depot, Calcutta 1979.
 Basu, Manoranjan: Dharmashastra: A General Study, Shrimati Mira Basu, Calcutta, 1976.
 Bhandarkar Oriental Series: The Religion and Philosophy of Atharvaveda, Bhandarkar Oriental Research Institute, Delhi, 1985.

ग्राम-पीर मकेर (डीही)
 थाना+पो0 मकेर, जिला-सारण

श्रेष्ठ कथा साहित्य

श्रीराधाकृष्ण प्रेम-प्रसंग व विन्धवासिनी	इंजि. प्रेमलाल सिंह/डॉ. सुधा सिंह	200.00
उत्तरांचल की लोककथाएं	राकेश चक्र	150.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 1	अन्तोन चेखव	200.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 2	अन्तोन चेखव	200.00
ओ. हेनरी की अमर कहानियां	ओ. हेनरी	150.00
ग्राम्य जीवन की कहानियां	प्रेमचन्द	150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053 फोन : 9811710900

पूर्व अधीतकालीन प्रावस्था के सामाजिक आधार

डॉ. अमृत कुमार

शोधप्रज्ञ, बीआरए बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

प्रस्तुत प्रावस्था के सामाजिक आधारों को ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, सूत्र ग्रन्थों एवं पाणिनि कृत अष्टाध्यायी जैसे मूल ग्रन्थों (सोत्रों से) और अधिक सुपुष्ट किया जा सकता है। तत्कालीन समाज की बेहतर समझ के निमित्त कतिपय सहायक ग्रन्थों की भूमिका भी सराहनीय रही है। जिनका उल्लेख प्रसंगानुरूप होता रहेगा।

प्रथम दृष्टया प्रथम अध्याय के दो उपभाग परिलक्षित होते हैं। पहला—ऋग्वैदिक समाज एवं दूसरा—उत्तर वैदिक समाज। डा. पी. एल. भार्गव ने उत्तर वैदिक युग को भी दो भागों में विभाजित किया है। (1) परवर्ती संहिता काल एवं (2) ब्राह्मण उपनिषद काल।¹ यह लगभग एक हजार वर्षों का काल (1500 ई.पू. से 500-600 ई.पू.) अपने विस्तार गति एवं विविध आयामीयता के दृष्टिकोण से तो महत्वपूर्ण है ही परिवर्तनों के लिहाज से भी विशिष्ट बन बैठा है। प्रो. जी. एस. पी. मिश्र ने कहा है कि अपने साहित्यिक क्षेत्रों के दृष्टिकोण से एक युग होने पर भी वैदिक युग सांस्कृतिक इतिहास के एक दीर्घ तथा विविध रूप प्रसार का निरूपण करता है।²

सर्वप्रथम ऋग्वैदिक समाज की संरचना की पड़ताल के क्रम में उसके जनजातीय स्वरूप से परिचय होता है, जिसका नियमन समतावादी आदर्शों पर आधृत था। परिवर्तन की प्रक्रिया के तहत कुछ विशिष्ट वर्गों की उपस्थिति अवश्य पायी जाती है जैसे ब्रह्म, क्षत्र एवं विश तथा पुरुष सूक्त में तो स्पष्टतः शूद्र की भी।³ परन्तु इतना भी तय है कि यह कहीं से भी चातुर्वर्ण व्यवस्था का जड़ी भूत रूप नहीं था। सर्वप्रथम अर्यों का द्विविध विभाजन, 'अर्य' एवं 'कृष्टि' समूहों में हुआ।⁴ पुनश्च अर्यों का त्रिविध विभाजन ब्रह्म, क्षत्र, एवं विश

में हुआ। ऋग्वेद के एक मंत्र में इन्हीं तीन वर्गों की श्री - वृद्धि की कामना की गई है।⁵ रोमिला थापर का यह मत है कि समाज का तीन वर्गों में विभाजन केवल सामाजिक एवं आर्थिक संगठन की सुविधा के लिए था।⁶ अन्ततोगत्वा वह सामाजिक व्यवस्था सतह पर आती है जिसके गर्भ में शोषण, दमन विषमता एवं भेदभाव के बीज छिपे थे जो सूत्रों एवं स्मृतियों के काल तक आते-आते वृक्ष बन गए थे और फल तो आज तक दे रहे हैं। इस चातुर्वर्ण विभाजन एवं वैश्य-शूद्रावलम्बी समाज का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में पाया जाता है⁷ लेकिन एक परवर्तीकालीन उद्धरण को आधार बना कर पूरे ऋग्वैदिक काल का आँकलन नहीं हो सकता।

डा. रोमिला थापर कहती हैं कि वर्ण चेतना का विकास उस समय तक बिल्कुल नहीं हो पाया था।⁸ इस सम्बन्ध में श्री आर. एस. शर्मा का कथन भी समीचीत जान पड़ता है कि वैश्य-शूद्रावलम्बी सामाजिक संरचना ऋग्वैदिक युग में नहीं पायी जाती।⁹ वैदिक इंडेक्स के लेखकों की राय है कि ऋग्वेद में वर्ण व्यवस्था स्वीकृति पाने के लिए संघर्षरत थी।¹⁰

ऋग्वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग 'आर्य वर्ण' तथा 'दास वर्ण' के रूप में मिलता है¹¹ जो रंग के अर्थ में व्यवहृत है। उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में बाद के कालों में वर्ण व्यवस्था समझी जाती थी। जहाँ तक ऋग्वैदिक काल का सम्बन्ध है इस काल तक ये चारो वर्ण वंशानुगत नहीं हुए थे। ये केवल वृत्ति परक नाम थे जिन्हें अपनी क्षमता एवं इच्छा से कोई भी आर्य अपना सकता था।¹² ये वर्ण स्थायी एवं रूढ़ न होकर पर्याप्त लचीले थे।

ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द का शायद सर्वप्रथम प्रयोग प्रतिभावान् या गुणवान् के अर्थ में हुआ है।¹³ पुनश्च पौरुहित्य कर्म सदैव ब्राह्मणों के ही हाथों में नहीं रहता था।¹⁴ दास, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण इस कार्य को सम्पादित करते उल्लिखित हैं। जैसा कि नाम से अभिद्योतित होता है, दिवोदास, संभवतः दास थे और पुरोहित भी थे।¹⁵ क्षत्रिय पुरोहित विश्वामित्र की प्रसिद्धि अज्ञात नहीं है। इस प्रकार एक वर्ण के रूप में ब्राह्मण की स्थिति ऋग्वेद तक तो मान्य नहीं प्रतीत होती।

इसी भाँति ऋग्वेद में 'क्षत्र' शब्द के भी अनेक आशय हैं।¹⁶ इनका प्रयोग जाति के अर्थ में न होकर शक्ति सम्पन्न व्यक्ति के रूप में हुआ है।¹⁷ ऋग्वेद में क्षत्र एवं क्षत्रियों का अर्थ राज्य क्षेत्र एवं राज्य क्षेत्र के निवासियों से है।¹⁸ मूलतः इस शब्द का अर्थ सैन्यबल¹⁹ या राज्य क्षेत्र से है। ऋग्वेद में

योद्धाओं के लिए राजन्य शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।²⁰ जिसके कई सन्दर्भ हैं। जैसे—गमन करने वाला, मार्ग दर्शक, नेतृत्वकर्ता, सैन्य-संचालक आदि। तात्पर्य यह कि वर्ण के रूढ़ अर्थों में इस वर्ण का भी विकास नहीं हो पाया था।

‘विश’ का भी प्रयोग केवल कृषक या व्यापारी के रूढ़ अर्थों में न होकर सम्पूर्ण आर्य जन समुदाय के लिए हुआ है।²¹ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के पन्द्रहवें सूक्त में स्तुति करने वाला ऋषि स्वयं को ‘वरुण का विश’ अर्थात् सामान्य जन कहता है। विश के पति या स्वामी का उल्लेख ऋग्वेद में है।²² प्रजाजनों के स्वामी के रूप में²³ भी वर्णन है। विश धातु के विभिन्न प्रयोगों जैसे आविश्, उपविश्, निविश् इत्यादि के आधार पर ऋग्वेद में इसका सामान्य सा अर्थ संचरण शील जनजाति अनुमित होता है। ‘विश’ वे थे जो नये चारागहों की खोज में निरंतर भ्रमणशील रहते थे।²⁴

वर्ण व्यवस्था का स्वरूप वृत्तिपरक बना रहा। व्यवसाय वंशानुगत नहीं हुए थे। किसी वर्ण के लिए कोई निश्चित व्यवसाय नहीं निर्धारित था। चयन में व्यक्ति को पूरी स्वतंत्रता हासिल थी। एक मंत्र का दृष्टांत बड़ा ही रोचक है:—ऋषि कहता है मैं मंत्र का रचयिता हूँ, मेरे पिता चिकित्सक हैं, मेरी माता चक्की पीसने वाली है।²⁵ एक मंत्र में एक ब्राह्मण द्वारा चिकित्सा कर्म करने का वर्णन है।²⁶ एक मंत्र में इन्द्र की प्रार्थना की गई है कि वह प्रार्थी को जन का राजा बनावे या सोमपायी ऋषि बनावें या एक धनवान व्यक्ति बनावें।²⁷ इसी तरह ब्राह्मण ऋषि भृगु के वंशजों का रथ बनाने में निपुण शिल्पियों के रूप में उल्लेख है।²⁸ वंशानुगतिकता के अभेद्य लौह आवरण में ऐसे दृष्टान्तों की कल्पना नहीं की जा सकती है।

ऋग्वैदिक काल का निर्वाह के संसाधनों का सामुदायिक उपभोग जारी रहा। प्रो. रामशरण शर्मा का अभिमत है कि “आर्थिक संसाधनों तथा उत्पादन के घटकों का संस्थाबद्ध असमान वितरण नहीं हो पाया था। इसीलिए समाज में वर्गों के गठन की ठोस नींव नहीं पड़ सकी थी”।²⁹ उच्च पदों की संभावना से विमुख तो नहीं हुआ जा सकता परन्तु सामाजिक वर्गों के रूप में उनकी स्थिति स्पष्ट नहीं की जा सकती।

प्रारम्भिक वैदिक समाज मुख्यतः पशुचारी थी। कबीलाई तत्वों की प्रधानता थी और समाज का समतावादी ढाँचा उन्हीं तत्वों में से एक था। युद्ध में लूटा गया माल और गोधन सम्पत्ति के नाम पर इतना मात्र होता था। पुरोहितों-योद्धाओं के अस्तित्व के लिए उत्पाद अधिशेष चाहिए जो कृषि आधारित अर्थ व्यवस्था के बिना संभव नहीं था।³⁰

‘परिधि द्वारा केन्द्र को हस्तान्तरण’ सिद्धान्त के आधार पर जनजातीय सरदार को जो भी मिलता था उसे बराबर बाँट दिया करता था। इसे पुनर्वितरण कहा जाता है। ऋग्वेद में भी इसके प्रमाण खोजे गए हैं।³¹ परन्तु तमाम कोशिशों के बावजूद शौर्य, बुद्धि एवं हृदय की विशिष्टताओं की मान्यता स्वरूप कुछ विशेष भी मिलता रहा होगा। ऋग्वेद के एक साक्ष्य से असमान वितरण का संकेत मिलता है³² जो बहुत संभव है भविष्य के समाज को भी संकेतित कर जाता है।

प्रो. आर.एस. शर्मा³³ अत्यन्त रोचक तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि ऋग्वेद में वेतन या वेतन भोगियों के लिए कोई शब्द नहीं है, भिखारियों के लिए भी कोई शब्द नहीं है। उनका निष्कर्ष है कि जबरन या अन्य साधनों से हस्तगत की गई सम्पत्ति, खेत या

चारागाह का जब कोई स्वयं के श्रम से बेहतर संयोजन एवं उपभोग नहीं कर सकता तो वेतन भोग की संस्था जन्म लेती है और वर्ग विभेदीकरण के फलस्वरूप जब लोग दरिद्र और बेदखल कर दिए जाते हैं तो भिखारियों का अस्तित्व सामने आता है। तत्कालीन समाज के विश्लेषण के बाद प्रो. शर्मा के तर्कों को प्रासंगिक माना जा सकता है।

परिवार पितृसात्तात्मक एवं प्रायः संयुक्त होते थे। परिवार ही समाज का आधार था। “कुल” इसके लिए सामान्य व्यवहृत शब्द था। उसमें पिता या ज्येष्ठ भ्राता ‘कुलप’ कहलाता था।³⁴ संयुक्त परिवार जाहिर है बड़ा होता होगा परन्तु वे सभी एक ही गृह में रहते थे।³⁵ यह गृह उनके गोधन³⁶ एवं भेड़ बकरियों³⁷ के लिए भी पर्याप्त था जो दिवस पर्यन्त चरकर रात को घर लौट आते थे।³⁸

परिवार के आकार का आकलन तो दुष्कर कार्य है, परन्तु एक सामान्य से अनुमान से आधार पर लगभग तीन पीढ़ियों के लोग एक परिवार में समाहित होते थे।³⁹ पति-पत्नी दोनों ही गृह के स्वामी थे अतः दम्पति कहे गए। पाणिग्रहण के बाद पत्नी, पति के घर जाती थी।⁴⁰

पिता परिवार का मुखिया होता था अतएव संरक्षक भी वही होता था। पुत्र के ऊपर पिता के असीमित अधिकारों के भी दर्शन होते हैं। ऋजाश्व की कथा⁴¹ एवं शुनः शेष की कथा⁴² से इसकी पुष्टि भी की जा सकती है। परन्तु यह कठोरता अपवाद ही समझी जा सकती है, क्योंकि सुख एवं समृद्धि की कामना से प्रार्थित देवताओं का स्मरण प्रायः पिता के रूप में ही किया गया है।⁴³ यह पिता एवं पुत्र के बीच स्नेहिल सम्बन्धों की शायद ज्यादा सटीक

व्याख्या है। पुत्रों की कामना अधिक की जाती थी इसलिए कि शायद युद्धों में योद्धा के रूप में वे अधिक सहायक होते थे। ऐसी कामना भी है कि ऐसा पुत्र उत्पन्न हो कि शत्रु कांपने लगे।⁴⁴ मरुतों से प्रार्थना है कि वे शत्रुओं को पराजित करने योग्य पुत्र दें।⁴⁵

एक बड़ा रोचक प्रश्न उभरकर सामने आता है कि ऋग्वैदिक परिवारों के पितृसत्तात्मक होने की बात उस समय के समाज की जनजातीय संगठन के कहीं प्रतिकूल तो नहीं ठहरती? पितृ शब्द का मूलतः सामूहिक पितरों के रूप में अर्थबोध तथा माता एवं पिता से सम्बन्धित रक्त सम्बन्धों की अलग-अलग संज्ञाओं का न होना कहीं मातृ सत्ता के अवशेषों के प्रतीक तो नहीं!⁴⁶ ब्राह्मण एवं उपनिषदों में उल्लिखित वैदिक ऋषियों में से 36 नाम भी मातृ नामान्त हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक समाज एवं परिवार के सन्दर्भों में मातृ सत्ता की सशक्त दखल को नकारा नहीं जा सकता।⁴⁷

विवाह की संस्था के पर्याप्त समादर एवं समुचित नियमन के बिना परिवार का ऐसा विशद् एवं समरस अस्तित्व संभव ही नहीं था। बहु पत्नीत्व अविज्ञात तो नहीं था⁴⁸, परन्तु प्रचलित एक पत्नीत्व⁴⁹ ही रहा होगा। वैदिक आर्यों में बहु पतित्व व्यवस्था के स्पष्ट प्रमाण सम्बन्धी दावों के बावजूद⁵⁰ ऐसा मानने का कोई औचित्य नहीं दिखाई देता।⁵¹ सदाचार का निर्वाह ऊँचे स्तरों तक होता था। युवक-युवतियों को जीवन साथी चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। पिता-पुत्री एवं भाई-बहन के बीच वैवाहिक सम्बन्ध को मान्यता नहीं थी।⁵² और सम्भवतः भाइयों की संतानों के मध्य भी वैवाहिक सम्बन्ध अभिहित नहीं था।⁵³ बाल-विवाह उस समय प्रचलित नहीं था हालांकि कालान्तर में

इसका प्रचलन हो गया था।⁵⁴ ऋग्वेद में कम से कम दो जगहों पर वर-वधू के लिए 'अर्भ' शब्द व्यवहृत है।⁵⁵ परन्तु यदि इस उल्लेख को सन्दर्भों से जोड़कर देखें तो 'अर्भवर' अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त कर जीवन साथी चुनता है या वरण करता है। किसी बालक से ऐसी उम्मीद करना कुछ अतिरिक्त की ही चाह रखना है।⁵⁶ अतः हम कह सकते हैं कि प्रौढ़ उम्र में विवाह का यह सक्षम साक्षी है।

कभी-कभी शादी के लिए यदि युवकों को स्त्री-मूल्य देना पड़ता था⁵⁷ तो शारीरिक रूप से अक्षम कन्याओं के विवाह के लिए वर को भी धन दिया जाता था।⁵⁸ दहेज प्रथा के प्रारम्भिक चिह्न यहाँ खोजे जा सकते हैं। ऋग्वेद का एक सूक्त जिसे विवाह सूक्त⁵⁹ कहा जाता है, वैवाहिक कर्मकाण्डों पर ही प्रकाश डालता है। इसमें नव-दम्पति के सुखमय जीवन की कामना की गयी है।⁶⁰ नव विवाहिता अपने पति गृह में जिस तरह सम्मान की अधिकारिणी बनती है इसकी चर्चा भी 'साम्राज्ञी'⁶¹ के प्रतीक के माध्यम से की गयी है। इसी सूक्त से यह भी ज्ञात होता है कि विधिवत सम्पन्न विवाह में विच्छेद की संभावना नहीं रहती थी।, विधवा विवाह अप्रचलित था यद्यपि पति के भाई के साथ (देवर के साथ) विधवा के विवाह का एक प्रसंग पाया जाता है।⁶²

एक वर्ग का व्यक्ति दूसरे वर्ग में भी विवाह कर सकता था।⁶³ अंगिरस के प्रसिद्ध ऋषिकुल में असंग नामक एक राजा का विवाह हुआ था।⁶⁴ कक्षीवान् नामक ऋषि ने राजा रचनय की कन्याओं से विवाह किया था।⁶⁵ ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे एक मर्यादा प्रिय समाज की स्वतंत्रता का बोध होता है।

किसी भी समाज के नैतिक मूल्यों, बौद्धिक दृष्टिकोण, साहिष्णुता इत्यादि

सार्वजनिक मूल्यों की व्याख्या उस समाज में स्त्रियों की स्थिति के सन्दर्भ में की जा सकती है।

ऋग्वैदिक समाज के बारे में भी यदि यही कसौटी रखी जाय तो निःसंदेह यह कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास ही नहीं अपितु विश्व इतिहास के किसी भी काल से ऋग्वैदिक कालीन नारियाँ अधिक स्वतंत्रता का उपभोग करती थीं। यह ठीक है कि किसी मंत्र में पुत्री जन्म की कामना नहीं की गई परन्तु यह भी ठीक है कि मनपसंद जीवन साथी चुनने के अपराध में किसी स्त्री को जलाने का यत्न भी नहीं किया गया।

पुत्रों के समान पुत्रियों को भी समुचित शिक्षा दी जाती थी। लोपामुद्रा, घोषा, अपाला, विश्ववारा तथा सिकता, निवावरी आदि स्त्रियों ने ऋग्वैदिक मंत्रों की रचना की थी। अधीत काल में स्त्रियाँ बिना किसी के सहारे यज्ञों का सम्पादन कर सकती थीं।⁶⁶ ऋग्वेद में ऐसी सुन्दर कन्याओं का वर्णन है जो स्वयं ही वर पा लेती थीं।⁶⁷ सुखी दाम्पत्य जीवन का संकेत करते हुए एक मंत्र में घर को अत्यन्त रमणीय स्थल कहा गया है।⁶⁸ स्त्री को ही घर एवं घर में आश्रय स्थान कहा गया है।⁶⁹ शुचिता में पवित्रता स्त्री की उपमा दी गई है।⁷⁰

तत्कालीन समाज में पर्दा-प्रथा का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता।⁷¹ विवाह सूक्त में⁷² वधू से यह अपेक्षा की गई है कि वह सार्वजनिक सभाओं में अपनी वक्तृता के प्रकाश से चमक उठेगी। स्त्रियों के 'सती' होने का साक्ष्य तो नहीं मिलता, हाँ एक संकेत है,⁷³ परन्तु उसमें भी उसे चिता पर से उतरने को ही कहा गया है। कुछ मंत्रों को आधार बनाकर हम विधवा पुनर्विवाह का अभिद्योतन मान सकते हैं।⁷⁴ तात्पर्य यह

कि ऋग्वैदिक नारी उत्तरवर्ती नारियों की अपेक्षा अधिक अधिकारों से लैस थी और एक वस्तु बनने से अभी तक बची रह सकी थी।

शिक्षा के बारे में संभावना है कि यह मौखिक ही दी जाती होगी। शिक्षक द्वारा उच्चरित शब्दों को विद्यार्थियों द्वारा सस्वर दुहराया जाता था। एक सूक्त में इस प्रक्रिया की तुलना मेढकों के टराने से की गई है⁷⁵ एक तो यह भी अभिद्योतित होता है कि उस समय गुरुकुलों की परम्परा रही होगी और दूसरा कि इसी क्रम से पाठ याद कर उसे भावी पीढ़ी को संप्रेषित किया जाता रहा होगा। 'ब्रह्मचारिन्' शब्द का उल्लेख विशिष्ट है जिससे धार्मिक विद्यार्थी का बोध होता है⁷⁶ प्रवचन और उच्चारण को अत्याधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी जिसकी स्वाभाविक परिणति वाद-विवाद में अपना हुनर दिखाने में थी।⁷⁷

संदर्भ संकेत

1. प्रो. जी. एस. पी. मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ.-45.
2. प्रो. जी. एस. पी. मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ.-45-46.
3. ऋग्वेद, 10.90.12, 'ब्रह्मणोस्य मुखासीद् वाहू राजन्यः कृतः/उरूतदस्य यद्वैशयः पदभ्यां शूद्रो*जायत्'
4. ऋग्वेद, 3.43.2. (यथाः आ अहि पूर्वोरिति चर्षणीरां अर्यः)
5. ऋग्वेद, 8.35. 16-18.
6. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृ.-26
7. ऋग्वेद 10.90.12.
8. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृ-26
9. प्रो. आर. एस. शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ.47
10. वैदिक इंडेक्स, 2,250
11. ऋग्वेद, 3.34.9. (हत्वी दस्युन्प्रार्यवर्णामावत्) 1.12.4 (यो दासवर्णमधरम् गुहाकः)
12. जी. एस. पी. मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था, पृ-58
13. वही, पृ.-59
14. ऋग्वेद, 6. 2. 80
15. ऋग्वेद, 1.130.10.
16. सच्चिदानन्द मिश्र, प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम्य जीवन, पृ.-165-171.
17. जी.एस.पी मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था, पृ.-59.
18. ऋग्वेद, 8. 25. 8.
19. ऋग्वेद, 5. 67. 1.
20. सच्चिदानन्द मिश्र, प्राचीन भारत में ग्राम एवं ग्राम जीवन, पृ.-178
21. ऋग्वेद, 1. 25. 1
22. ऋग्वेद, 7.7.4
23. ऋग्वेद, 7.39.2:3. 13.5
24. आर. एस शर्मा, मैटीरियल कल्चर एण्ड सोशल फार्मेशन्स इन एन्शयेन्ट इंडिया, पृ. -49
25. ऋग्वेद, 9. 112. 3.
26. ऋग्वेद, 10. 97. 22
27. ऋग्वेद, 3.45.5.
28. ऋग्वेद, 10.39.14.
29. राम शरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ.-48
30. पुनर्वितरण सिद्धांतः : जनजातियों के सदस्यों द्वारा उत्पादित या एकत्रित सामग्री का अपने प्रमुख को सौंप दिया जाना परिधि के क्रेन्द्र की ओर संकेन्द्रण कहा जाता है। पुनश्च समारोहों के अवसर पर प्रमुख द्वारा अपने सदस्यों के बीच उस सामग्री को समान रूप से वितरित कर दिया जाना 'पुनर्वितरण' है।
31. ऋग्वेद, 7.40. 1(2.1.4
32. आर.एस शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, राजकमल प्रकाशन, पृ.-214
33. आर.एस. शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ.-87
34. ऋग्वेद, 10.179.9
35. ऋग्वेद, 3.53.6; 2.42.3.
36. ऋग्वेद, 7.56.16.
37. ऋग्वेद, 10.106.5.
38. ऋग्वेद, 2.38.8.
39. जी.एस. पी. मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ.-60
40. ऋग्वेद, विवाह सूक्त 10.85
41. ऋग्वेद, 1.116.16
42. ऋग्वेद, 1.24.12.-15.5.2.7
43. ऋग्वेद 7.17.17
44. ऋग्वेद, 5.83.1.
45. ऋग्वेद 5.58.4
46. रमानाथ मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज अर्थव्यवस्था एवं धर्म, पृ.-11
47. आर.एस शर्मा, प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृ.91
48. ऋग्वेद, 1.62.11, 7.71.1
49. ऋग्वेद, 1.124.7, 4.3.2 10.71.4,
50. सर्वदमन सिंह, पोलिएट्री इन एन्शयेन्ट इण्डिया, 1978
51. द वैदिक, एज, पृ.-374.
52. ऋग्वेद, 10.10.10. में उस आदिम युग की बात कही गई है जब बहनें भाई के साथ सम्बन्ध रखती थीं।
53. पी.एल. भार्गव, इण्डिया इन दि वैदिक एज, पृ.243-44.
54. ऋग्वेद, 10.85. 21-22
55. ऋग्वेद, 1.5713, 1.116.1.
56. अल्लेकर, द पोजीशन आफ वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ.-58.
57. ऋग्वेद, 1.109.2, 8.2.20
58. ऋग्वेद, 6.28.5, 10.27.12.
59. ऋग्वेद, 10.85
60. ऋग्वेद, 10.58.42.
61. ऋग्वेद, 10.85.46 : साम्राज्ञी श्वसुरेभव साम्राज्ञी श्वश्रवाँ भव.
62. ऋग्वेद, 10.40.2.
63. एन.के. दत्त, द ओरिजन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट इन इण्डिया, पृ.-64 पी. एन. प्रभु, हिंदु सोशल आर्गनाइजेशन पृ.-287-288
64. ऋग्वेद, 8.134.
65. ऋग्वेद, 1.126
66. ऋग्वेद, 8.91.1
67. ऋग्वेद, 10.27.12: भद्रा वधूर्भवति सा मित्रं बनते जने चित्तु
68. ऋग्वेद, 8.91.1
69. ऋग्वेद, 3.53.4.
70. ऋग्वेद, 1.37.3 : अनवद्या पति जुष्टेन नारी
71. जी.एस.पी मिश्र, पूर्वोद्धृत, पृ.-65
72. ऋग्वेद, 10.25.26.
73. ऋग्वेद, 10.18.8.
74. ऋग्वेद, 10.18.7-8, 10.40.2.
75. ऋग्वेद, 7.103.5.
76. ऋग्वेद, 10.109.5.
77. ऋग्वेद, 10.71.

वैदिक काल में राजतंत्र, राजनैतिक एवं सामाजिक संगठन

डॉ. अमरेन्द्र कुमार

एमए, इतिहास

ऋग्वैदिक काल

आर्य विभिन्न जनों में विभक्त थे। प्रत्येक जन का एक नेता या राजा होता था। यही 'राजा' वैदिक युग के राष्ट्र या जनपद का मुखिया होता था। सामान्यतया, राजा का पुत्र ही पिता की मृत्यु के बाद राजा के पद को प्राप्त करता था। वैदिक युग में प्रजा जिस व्यक्ति को राजा के पद पर वरण करती थी, उससे वह यही आशा रखती थी, कि वह ध्रुवरूप से राष्ट्र का शासन करेगा। राजा को किसी निश्चित अवधि के लिए राजा नहीं बनाया जाता था। इसीलिये अथर्ववेद में कहा है— हे राजन्, तू सुप्रसन्न रूप से राष्ट्र में दशमी अवस्था तक शासन करता रहे। 90 साल से ऊपर की आयु को 'दशमी' अवस्था कहते हैं।

वैदिक काल में राजा से यही आशा की जाती थी कि वह दशमी अवस्था तक (अर्थात् वृद्धावस्था तक) राष्ट्र के शासन का संचालन करता रहेगा। लेकिन ऐसे अवसर भी उपस्थित हो सकते थे, जबकि राजा दशमी अवस्था तक राष्ट्र का शासन न कर सके। कतिपय कारणों से राजा को निर्वासित भी किया जा सकता था, किंतु यदि जनता उसे राजा के पद पर पुनः अधिष्ठित करना चाहे तो उसे निर्वासन से वापस भी बुलाया जा सकता था। विश या प्रजा जिस राजा का वरण करती थी, उससे वह कतिपय कर्तव्यों के पालन की आशा भी रखती थी। राजा के ऊपर विश का अंकुश रहता था।

राजा के मुख्यतः दो कर्तव्य थे— प्रथम, युद्ध में नेतृत्व करना और दूसरे, कबीले की रक्षा करना। युद्ध की आवश्यकताओं के अनुकूल राजा का पद था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के साक्ष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में विश समिति में एकत्रित होकर राजा का चुनाव करती थी। वैदिक साहित्य में दी गयी वंशावलियों से ऐसा प्रतीत होता है कि राजा का पद

वंशानुगत था और पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र उत्तराधिकारी होता था। इस आधार पर गैल्डनर महोदय का मत है कि जन साधारण द्वारा राजा का चुनाव औपचारिकता मात्र था। इस बात का द्योतक यह औपचारिकता भी है कि उत्तराधिकारी के निर्णय में जनमत की भूमिका थी।

ऋग्वैदिक काल में प्रशासन का लोकप्रिय स्वरूप राजतंत्रात्मक था। संभवतः कुछ गैर-राजतंत्रात्मक राज्य भी थे। ऋग्वेद में इसे गण कहा गया है एवं इसका प्रमुख ज्येष्ठक या गणपति होता था। इस तरह यहाँ गणतंत्र का प्रारंभिक उल्लेख मिलता है। राजा की स्थिति स्पष्ट नहीं थी और राजा की पहचान उसके कबीले से होती थी। राजा को 'जनस्य गोप्ता' तथा दुर्ग का भेदन करने वाला (पुराभेत्ता) कहा जाता था। इनके अतिरिक्त राजा की निम्नलिखित उपाधियाँ भी प्राप्त थीं, यथा—विशाम्पति, गणनांगणपति, ग्रामिणी आदि। कबीले के लोग स्वेच्छा से राजा को एक कर देते थे। इसे बलि कहा जाता था। संभवतः इस बलि की दर कुल उत्पादन के 1/16 से 1/10 भाग तक थी। इसके अलावा कुछ कबीलाई संस्थाएँ अस्तित्व में थीं। सभा, समिति, विदथ और गण। अथर्ववेद के अनुसार सभा और समिति प्रजापति की दो पुत्रियाँ हैं।

मैत्रायणी संहिता के अनुसार सभा में स्त्रियाँ भाग नहीं लेती थीं। सभा में भागीदारी करने वाले को 'समये' कहा जाता था। इसके सदस्य श्रेष्ठ जन होते थे और उन्हें 'सुजात' कहा जाता था। सभा के कुछ न्यायिक कार्य भी थे। ऋग्वेद में आठ बार 'सभा' की चर्चा की गयी है। संभवतः राजा का निर्वाचन समिति करती थी। समिति के अध्यक्ष को पति या ईशान कहा जाता था। कुछ विद्वानों का मानना है कि राजा ही समिति का अध्यक्ष होता था। ऋग्वेद में नौ बार समिति की चर्चा हुयी है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि समिति में राजकीय विषयों की चर्चा होती थी तथा सहमति से निर्णय लिया जाता था।

जीमर ने सभा को ग्राम संस्था एवं समिति को केंद्रीय संस्था कहा है। पंचालों के राजा प्रवाहण जैवलि ने समिति के समक्ष पाँच प्रश्न रखे, इनका वह उत्तर न दे पायी। अतः संभवतः समिति राष्ट्रीय अकादमी की तरह भी काम करती थी। रॉथ के अनुसार 'विदथ' संस्था सैनिक, असैनिक तथा धार्मिक कार्यों से संबद्ध थी। यही वजह है कि के.पी. जायसवाल विदथ को एक मौलिक बड़ी सभा मानते हैं, जो आगे चलकर सभा, समिति एवं सेना में विभक्त हो गयी। रामशरण शर्मा इसे आर्यों की प्राचीनतम संस्था मानते हैं। विदथ का महत्वपूर्ण दायित्व था। 'प्रथम वितरक' त्वष्टि को कहा गया है। जिन ऋभुजनों की सभा का वह प्रधान था, उन्हें

वितरण के काम में लगे होने के कारण स्वैच्छिक वितरक की संज्ञा दी गयी। इसी बात से विदथ का महत्व आंका जा सकता है कि जहाँ ऋग्वेद में सभा शब्द का उल्लेख आठ बार और समित का नौ बार हुआ है, वहीं विदथ शब्द का उल्लेख 122 बार हुआ है। यद्यपि विदथ के महत्व में परवर्तीकाल में कमी आयी, तथापि सभा और समिति के सापेक्ष में इसका भी महत्व बरकरार रहा।

सभा शब्द अथर्ववेद में सत्रह बार और समिति शब्द तेरह बार आया है, वहीं विदथ का प्रयोग 22 बार हुआ है। इसी प्रकार 'गण' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में 46 बार तथा अथर्ववेद में 9 बार हुआ है। इस तरह कुछ मायने में ऋग्वैदिक राजनीतिक संस्थायें लोकतांत्रिक प्रतीत होती हैं।

प्रशासन

ऋग्वैदिक काल में राज प्रणाली एवं प्रशासन अपनी प्रारंभिक अवस्था में थी। इस काल की अर्थव्यवस्था चूँकि एक निर्वाह अर्थव्यवस्था थी, जिसमें अधिशेष के लिए बहुत कम गुंजाइश थी। अतः करारोपण प्रणाली भी स्थापित नहीं हो पायी तथा राजकीय अधिकारियों की संख्या भी सीमित थी। अपने दायित्व निर्वाह के बदले राजा को प्रजा से बलि या कर पाने का अधिकारी माना जाता था। यह राजा को स्वेच्छापूर्वक दिया गया उपहार होता था। प्रारंभ में राजा को प्रजा से नियमित कर नहीं मिलते थे। अतः इन्द्र से प्रार्थना की गयी कि वह राजकर देने के लिए प्रजा को विवश करे। नियमित करों की प्रथा कालांतर में उत्तरवैदिक काल में प्रतिष्ठित हुई।

समाज की सबसे बड़ी इकाई राज्य के लिए 'जन' शब्द का प्रयोग मिलता है। जन शब्द का 275 बार ऋग्वेद में प्रयोग हुआ है, पर जनपद शब्द का एक बार भी नहीं। 'कुल' राज्य का आधार

थे, जिन्हें 'संजाति' एवं 'सनाभि' (एक नाभि से उत्पन्न) कहा गया है तथा अन्य राष्ट्र के लिए 'अनाभि' या 'अरण' शब्द आया है। प्रारंभ में जन अनवस्थित एवं संचरणशील थे अर्थात् ग्राम के ग्राम अपने पशुओं के साथ संचरण करते थे। समय क्रम से आर्य स्थायी रूप से निवास करने लगे। अतः कुलों के स्थायी होने से ग्राम एवं जनपदों से राष्ट्र का प्रारूप सामने आया।

समाज, 'कुल' (परिवार); ग्राम 'विशू' तथा 'जन' या 'राष्ट्र' के रूप में विभक्त था। पर यह जानकारी नहीं मिलती है कि परिवार या कुल में कितनी पीढ़ी तक लोग एक साथ रहते थे, तथापि कीथ की धारणा है कि तीन पीढ़ी तक एक परिवार या कुल के सदस्य साथ-साथ रहते होंगे। इसी तरह कीथ के अनुसार उस समय ऐसी प्रथा भी नहीं होगी कि माता-पिता की मृत्यु के बाद अलग रहा जाये, संभवतः उस काल में भूमि अथवा संपत्ति के प्रति अधिक लगाव नहीं रहा होगा, क्योंकि कृषि भूमि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी। परिवार एवं कुल में साथ रहने का उद्देश्य मात्र पारस्परिक सहयोग एवं सहायता था। कुल का संरक्षक कुलप कहलाता था। कुलप के अनुशासन को मानते हुए परिवार के समस्त सदस्य एक ही गृह में निवास करते थे। विभिन्न परिवारों के समुदाय से ग्रामों का आविर्भाव हुआ। ग्राम स्वशासी एवं आत्मनिर्भर थे तथा ग्रामीण लोगों के हितों की रक्षा का दायित्व 'ग्रामणी' नामक पदाधिकारी का होता था। वह युद्ध काल में राजा की सहायता भी करता था एवं युद्ध काल के अतिरिक्त ग्राम का सामान्य प्रशासन देखता था।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि ग्रामणी सैनिक, आर्थिक तथा सामाजिक आदि सभी मामलों में ग्राम का प्रमुख था और संभवतः ग्राम से 'कर' या 'बलि' भी वसूल करता होगा। राजा को

'बलि हन्त' (बलि कर को अपहृत करने वाला) कहा गया है। ग्राम के लोगों को गोधन के लिए उत्सुक कहा गया है। अनेक ग्रामों से मिलकर बने उपजिला का स्पष्ट वर्गीकरण ऋग्वेद में नहीं मिलता। जन के सदस्यों को सामूहिक रूप से 'विश' कहा जाता था। ऋग्वेद में इसका 170 बार उल्लेख है। ग्राम से बड़ी इकाई विश स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि इसके मुखिया विशपति का उल्लेख मिलता है। इसके अलावा पुरप (दुर्गपति), स्पश (गुप्तचर) नामक अधिकारी होते थे।

राजा के मंत्रियों में 'पुरोहित' का महत्वपूर्ण स्थान था। उसे राजा का प्रमुख परामर्शदाता माना जाता था एवं यह धारणा प्रचलित थी कि उसकी प्रार्थना 'राजा' तथा 'जन' की रक्षा करती है। पुरोहित युद्ध के समय राजा की विजय के लिए प्रार्थना ही नहीं करता था, बल्कि युद्ध में भी भाग लेता था। पुरोहित द्वारा राजा एवं उसके परिवार के धार्मिक कृत्यों के निष्पादन किये जाने के बदले उसे दान मिलता था। कीथ ने वैदिक पुरोहित को वैदिक राजनीति का अग्रज कहा है। प्रारंभिक वैदिक राज्य में विश्वामित्र एवं वशिष्ठ जैसे पुरोहितों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

पुरोहित शान्ति तथा युद्ध दोनों अवस्थाओं में राजा का शिक्षक, पथ प्रदर्शक, मित्र तथा राजनीतिक एवं धार्मिक परामर्श-दाता होता था। राजा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य युद्ध में विजय के लिए सैन्य संचालन करना था और सेनानी नामक मंत्री उसे इस कार्य में सहयोग प्रदान करता था। राजा की प्रमुख योग्यता युद्ध में नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता मानी गयी थी। स्मरणीय है कि तत्कालीन युद्धों का प्रमुख कारण एक दूसरे के क्षेत्र पर अधिकार करने की कामना के साथ पशु धन की प्राप्ति भी था। पशुधन की प्राप्ति के लिए उस काल में युद्ध इतने सामान्य थे कि ऋग्वेद में युद्ध के

लिए 'गविष्टि', 'गोषु', 'गवेषण', 'गव्यत' आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। सामान्यतः पैदल एवं रथारोही सेना में होते थे। इसके अतिरिक्त अश्वरोहियों का अस्तित्व भी रहा होगा। रथों का युद्धों में विशेष महत्व था। राजा तथा प्रमुख योद्धा रथों पर सवार होकर युद्ध करते थे।

उत्तरवैदिक काल

उत्तर वैदिक काल में भी राजतंत्र लोकप्रिय शासन तंत्र था। ऐतरेय ब्राह्मण राज्य, स्वराज्य, भोज्य, वैराज्य, महाराज्य और साम्राज्य का जिक्र करता है। वैराज्य का तात्पर्य उस राज्य से है, जहाँ राजा नहीं होता था। राजनीतिक व्यवस्था में इस काल में महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टि-गोचर होते हैं। इस समय तक राजतंत्र सशक्त ही नहीं हुआ, बल्कि बड़े प्रादेशिक राज्यों की स्थापना भी हुयी एवं प्रशासनिक व्यवस्था में भी एक निश्चित पद्धति का आविर्भाव हुआ। विभिन्न 'जन' पूर्व काल में किसी निश्चित प्रदेश से संबद्ध नहीं थे, किंतु इस काल में जनों का स्थान बड़े जनपदों ने ले लिया था। ऋग्वेद काल में राजा का प्रभुत्व 'विश' अथवा एक 'जन' के लोगों तक सीमित था, किंतु अब उसका स्वामित्व एक राष्ट्र तक विस्तृत हो गया। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का शासक 'एकराट' कहलाता था। अथर्ववेद के अनुसार एकराट सर्वोपरि शासक को कहते हैं, जो देश के अधिपति थे।

राजा का पद भी अधिक स्थायी और वंशानुगत हो गया था। इस काल के साहित्य में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं, जिनमें राजा के निर्वाचित होने का संकेत मिलता है। अथर्ववेद में एक स्थान पर विश के द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है। युद्ध अब गायों के लिए न होकर क्षेत्रों के लिए होने लगे। राजा के दैवी अधिकारों की घोषणा ऋग्वेद में हुयी है। जब एक जगह राजा पुरु यह घोषणा करता है मैं इन्द्र हूँ, मैं वरुण

हूँ। राजत्व के विकास के संबंध में ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवों एवं दानवों के मध्य युद्ध हुआ एवं इस युद्ध में देवगण परास्त हुये। अतः देवताओं ने निश्चय किया कि हमारा कोई राजा नहीं है, दानव हमें हरा देते हैं, फलतः हमें अपने एक राजा का चयन करना चाहिए। उन्होंने अपना एक राजा निर्वाचित किया और उसके निर्देशन में दानवों पर विजय प्राप्त की। इसी ब्राह्मण में यह वर्णन मिलता है कि देवताओं ने इन्द्र को अपना राजा निर्वाचित किया, क्योंकि परस्पर विचार-विमर्श के पश्चात् वे इस निर्णय पर पहुँचे कि देवताओं में वे सबसे पराक्रमी, सबसे शक्तिशाली, वीर और सबसे पूर्ण तथा किसी भी कार्य को अच्छी तरह संपादित कर सकते हैं। इस ब्राह्मण से जानकारी मिलती है कि राजा का चयन सबकी सहमति से होता था, चयन करते समय यह ध्यान रखा जाता था कि जो सामान्यतः युद्ध आदि का संचालन करने में समर्थ तथा राजकीय कार्यों का संपादन कर सके।

प्रारंभ में प्रकृति की एक ऐसी अवस्था थी, जिसमें जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत चरितार्थ होती थी। शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने के लिए एक राजा चुना गया और उसने लोगों के धन-जन की रक्षा करने का वचन इस शर्त पर दिया कि लोग उसे कर (बलि) देंगे। इस सिद्धांत का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के एक रहस्यवादी पद में मिलता है। उसमें कहा गया है कि जब कभी सूखा पड़ता है, तब शक्तिशाली लोग कमजोरों को पकड़ लेते हैं, क्योंकि पानी ही विधान हो जाता है। एक राजवंश की दस पीढ़ियों तक के उत्तराधिकार का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण एवं ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। इससे पता चलता है कि राजत्व वंशानुगत था। राजत्व के स्थायी तथा वंशानुगत होने से राजा के पद की प्रतिष्ठा में वृद्धि होना स्वाभाविक था। राजा को प्रजापति का प्रतिनिधि कहा गया। अतः वह एक होने पर भी जन समूह पर शासन करता है। राजत्व

के दैवीय विकास के सिद्धांत का इस प्रकार आविर्भाव हुआ। वैदिक देवता इन्द्र, वरुण एवं सोम की उत्पत्ति के संबंध में भी अनेक आख्यायिकाएँ हैं, जिनमें से कुछ राजा की दैवी उत्पत्ति तथा कुछ उसके लोकप्रिय निर्वाचन पर प्रकाश डालती हैं।

कहा जा सकता है कि एक ओर अराजकता की स्थिति में राजा के निर्वाचन का विचार चल रहा था, तो दूसरी ओर राजा की दैवीय उत्पत्ति का सिद्धांत भी समाज में प्रचलित होने लगा था।

राजा के दैवीय सिद्धांत का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक प्रसंग है कि इन्द्र की स्थिति देवताओं में बहुत निम्न थी, किंतु प्रजापति ने उसे देवताओं का राजा नियुक्त किया। इसमें यह भी उल्लेख मिलता है कि राजसूय एवं वाजपेय यज्ञों के संपादन द्वारा राजा प्रजापति के समान प्रभुत्व संपन्न हो जाता है। जनमत राजत्व प्रतिष्ठा का आधार था। अथर्ववेद में राजा को पदमुक्त किये जाने एवं राज्य से बहिष्कृत होकर दूसरे क्षेत्र में विचरण करने का विवरण मिलता है। एक निष्कासित राजा को अपनी प्रजा एवं विरोधियों द्वारा पुनः वरण किये जाने का भी उल्लेख आया है। एक विशेष संस्कार का पंचविंश ब्राह्मण में उल्लेख है, जिसके द्वारा पदच्युत राजा पुनः राज्य कर सकता था अथवा राज्यारूढ़ होने की स्थिति में अपनी प्रजा का पुनः समर्थन प्राप्त करता था। कहा जा सकता है कि राजा के मानवीय स्वरूप को भुलाया नहीं गया था। राजा के वंशानुगत होने से वह स्वच्छन्द रूप से कार्य करता था, परंतु उसे निरंकुश नहीं माना जा सकता। साधारण नरेश के लिए 'राजा' तथा बड़े राज्यों के शासकों के लिए अधिराज, राजाधिराज, विराट्, सार्वभौम (संपूर्ण पृथ्वी का राजा) आदि विशेषणों का प्रयोग किया जाने लगा। अपने पद के अनुरूप राजा लोग इन उपाधियों की सार्थकता सिद्ध करने के लिए विविध प्रकार के यज्ञ संपादित

करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण प्राच्य देश के शासकों के साम्राज्य पद के लिए अभिषिक्त किये जाने का उल्लेख करता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उत्तर का राजा 'विराट', दक्षिण का राजा 'भोज', पश्चिम का स्वराट, मध्य देश का राजा और पूरब का राजा सम्राट कहलाता था। जैसा स्पष्ट है कि प्रत्येक राजा बड़े भूप्रदेश पर अपने प्रभुत्व स्थापना की कामना रखता था, जिसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति राजसूय यज्ञ के अवसर पर दिखायी देती है। जिसमें वह धनुष बाण लेकर चारों दिशाओं की विजय का उद्घोष करता था। ब्राह्मण ग्रंथों में राज्यारोहण के समय राजा के अभिषेक तथा उसके द्वारा ली जाने वाली शपथ का विस्तृत विवरण मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मनोनीत राजा मातृभूमि से अनुमति इन शब्दों में प्राप्त करता था—“मातृभूमि! तुम मेरी हिंसा न करो और मैं तुम्हारी हिंसा न करूँ।”

संभवतः ऐसा करना इसलिए आवश्यक था कि शासक मातृभूमि के प्रति निष्ठावान हो। इसलिए कहा गया है, ताकि राजा एवं राष्ट्र एक दूसरे के हितैषी हों जैसे—माता और पुत्र। इस अवसर पर विभिन्न देवताओं को आहुतियाँ दी जाती थीं। अन्त में धर्म या विधि के स्वामी वरुण को आहुति दी जाती थी, क्योंकि वैदिक राजनीति में विधि (धर्म) को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है एवं राजा को दंड या शासन का प्रतिरूप माना गया है, जो धर्म की रक्षा एवं संस्थापन करता था। राजा द्वारा ली जाने वाली शपथ का उल्लेख मिलता है—“जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, इन दोनों के बीच में जो मेरा यज्ञ फल और दानादि पुण्य हैं, जो मेरा लोक में धर्म, आयु और प्रजायें हैं वे सब नष्ट हो जायें, यदि मैं तुझसे द्रोह करूँ।” यह कथन भी उल्लेखनीय है, जिसमें राज्यरोहण के दौरान राजा को कहा जाता था कि 'तुम्हें यह राष्ट्र दिया जाता है, कृषि के लिए जनता के क्षेम के

लिए और सर्वाविध पोषण के लिए एवं उन्नति के लिए' इससे पता चलता है कि राजा को राज्य एक धरोहर के रूप में सौंपा जाता था एवं राजा के उस पर अधिकृत रहने की कसौटी जनता की प्रगति एवं कुशलता थी। इस अभिषेक द्वारा राजा को अदंड्य कर दिया जाता था, अर्थात् उसे दंड से परे मान लिया जाता था।

राज्याभिषेक: राजा का राज्याभिषेक संस्कार सबसे महत्वपूर्ण था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इसका उद्देश्य परम शक्ति की प्राप्ति था। कभी-कभी दो राज्याभिषेक भी होते थे। जैसे युधिष्ठिर के दो राज्याभिषेक हुए। राज्य के कुछ विशेष मंत्रियों के भी अभिषेक होते थे। राज-पुरोहित का भी एक विशेष संस्कार हुआ करता था। 17 प्रकार के जलों से अभिषेक होता था। अभिषेक संस्कार के समय रत्नो की, एक रानी की, एक हाथी की, एक सफेद घोड़े की एवं एक सफेद बैल की तथा एक श्वेत क्षेत्र इत्यादि की उपस्थिति आवश्यक थी।

राजसूययज्ञ: अपेक्षाकृत यह एक बड़ा यज्ञ था। इसका वर्णन शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। जहाँ राज्याभिषेक एक आवश्यक कृत था, वहीं राजसूय एक ऐच्छिक धार्मिक अनुष्ठान था। वरुण देवता राजसूय-यज्ञ में पार्थिव शरीर में प्रकट होते थे। यह दो दिन चलता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा के लिए ही राजसूय यज्ञ है ऐसी मान्यता है।

अश्वमेध यज्ञ: बड़े राजा के लिए यह एक विस्तृत समारोह था। इसका उद्देश्य राजा के राज्य का विस्तार करना और राज्य के लोगों को सुख और समृद्धि प्रदान करना था। 'शतपथ ब्राह्मण' में भरतों के दो राजाओं भरत दोषयन्ति और शतानिक सत्राजित द्वारा अश्वमेध यज्ञ करने का उल्लेख है। सार्वभौमिक और चक्रवर्ती का स्तर प्राप्त करने के लिए अश्वमेध यज्ञ के विधान था।

वाजपेय यज्ञ (शक्ति का पान): इस यज्ञ का उद्देश्य राजा को नव-यौवन

प्रदान करना और उसकी शारीरिक एवं आत्मिक शक्ति को बढ़ाना था। इसी से जुड़ा हुआ समारोह रथ दौड़ होती थी, जिसमें राजा का रथ सबसे आगे निकलता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो राजा सम्राट का स्तर प्राप्त करना चाहता था, उसके लिए वाजपेय का विधान अनिवार्य था। अथर्ववेद में कहा गया है कि राष्ट्र राजा के हाथ में हो और इसे इन्द्र, वृहस्पति आदि देव सुदृढ़ बनाए। शतपथ ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय उपनिषदों में कहा गया है कि राजा राष्ट्र का पोषक होता है। इस काल में करारोपण प्रणाली नियमित हो गयी थी और बलि के अतिरिक्त शुल्क और भाग भी लिया जाने लगा था। अब बलि स्वेच्छा से दिया जाने वाला कर नहीं था, वरन् यह लोगों पर आवश्यक रूप से लाद दिया गया था। संभवतः आय का 16वाँ भाग कर के रूप में लिया जाता था। कर की अदायगी अन्न एवं पशु दोनों रूपों में होती थी। शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित 'बलिकृत' से संकेत मिलता है कि कर का बोझ वैश्य वर्ग पर अधिक था। कर संग्रह करने के लिए 'भागदुध' की नियुक्ति की जाती थी।

संदर्भ

- A.C. Clyton: *The Rgveda and Vedic Religion*, Panda, Bharatiya Kala Prakashan, Delhi, 2006.
- Abinas Chandra Das: *Rgvedic Culture*, Mohit Pub, Delhi, 2002.
- Aiyar, R. Krishnaswami: *Outlines of Vedaanta*, Chetana, Bombay, 1978.
- Ashvini Agrawal: *In Search of Vedic-Harappan Relationship*, Aryan Books International, Delhi, 2005.
- Bahadur, K.P.: *The Wisdom of Vedaanta*, Sterling Publishers Private Limited, New Delhi, 1996.
- Deusse, P.: *The System of Vedanta*, Motilal, Delhi, 1971.
- Deutsch Eliot: *Advaita Vedanta: A Philosophical Reconstruction*, The University Press of Hawaii, Honolulu, 1975.
- H G Ranade: *Illustrated Dictionary of Vedic Rituals*, Aryan Books International, Delhi, 2006.

चम्पारण और गाँधीजी

महेश कुमार

रिसर्च स्कॉलर

भू. ना. मं. विश्वविद्यालय, मधेपूरा (बिहार)

महात्मा गाँधी का आगमन भारतीय जीवन के ऐसे काल में हुआ जो अत्याधिक तनावों और दबावों का समय था। राजनैतिक दृष्टि से शासक और शासित के संबंध कटुतापूर्ण विरोध के थे। एक ओर शासकों का श्रेष्ठाभिमान और तिरस्कार-भाव था दूसरी ओर शासितों का रोष और दासता की बेबसी थी। शासकों को शासितों के अभिमत की कोई परवाह न थी और वे उन्हें बुद्धि और चरित्र में अपने से हिन मानकर उनको न तो विश्वास के योग्य समझते थे न उत्तरदायित्व वहन के योग्य, उधर बौद्धिक तथा धनी वर्ग के भारतीय अपने को असहाय तथा अपमानजनक स्थिति में पाते थे जिसका विस्फोट प्रायः निष्फल षडयंत्र और आतंकवाद के रूप में होता रहता था।

चम्पारण उत्तर बिहार के तिरहुत प्रमंडल में स्थित स्वतंत्रता संग्राम में ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। गाँधीजी अफ्रीका से वापस आने के बाद भारतीय राजनीति में सक्रिय भूमिका निभाने का कार्यक्रम बना चुके थे। गाँधीजी के नेतृत्व में नवोदित राष्ट्रवाद का पहला सफल प्रयोग अहिंसा, सत्य, एवं शोषित दलित समूह के जागरण तथा उन्मुक्ति पर बल देने के कारण सर्वथा अद्वितीय था। दुनिया के इतिहास की अनेक अन्य क्रांतियों की तरह चम्पारण का आन्दोलन एक शोषणकारी आर्थिक व्यवस्था की भयंकर बुराइयों के विरुद्ध असंतोष तथा प्रतिशोध का परिणाम था। चम्पारण में यह प्रथा पूँजीवादी व्यवस्था के प्रभाव में वर्षों से कायम थी। इस प्रथा के अन्तर्गत गोरे निलहे साहब बड़े साहब बड़े पैमाने पर नील की खेती एवं उत्पादन इस क्षेत्र में करते आ रहे थे। उन्हें केवल अपने लाभ एवं मुनाफा की धून रहती थी इसके लिए इस क्षेत्र के किसान एवं ग्रामीणों के हित की कोई परवाह वे नहीं करते। बिहार में जहाँ कहीं भी नील की खेती होती थी, वहाँ-अन्याय एवं भयंकर शोषण का सबसे विकृत रूप दिखाई पड़ता था।

यूरोपिय निलहों द्वारा उत्तर बिहार में दो तरीके से नील की खेती करवाई जाती थी। (1) जीरात (2) आसामीवार जीरात

के अन्तर्गत रैयतों के हल बैल पर गोरे निलहे नियंत्रण कर लेते थे और उन्हें बहुत कम मजदूरी का भुगतान करते थे जिस कारण किसानों की स्थिति दयनीय बन गयी थी जिस कारण उनमें असंतोष की भावना प्राप्त हो जाना स्वभाविक था। आसामीवार व्यवस्था में कोठीवाला साहब रैयतों के द्वारा उन्हीं के खेत में नील की खेती करवाते थे इस व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे प्रचलित पद्धति तीनकठिया था। यह पद्धति चम्पारण में सर्वाधिक प्रचलित था। इसके अन्तर्गत रैयत को अपने प्रति बीधा खेत में से 3 कठे में अथवा कोठी के खेत में लम्बी अवधि तक (20, 25 या 30 वर्ष) नील उपजाना पड़ता था। इसके लिए औपचारिक रूप से सट्टा के अनुसार उसे मूल्य प्राप्त करने का अधिकार होता था दूसरी ओर अनेक तरीकों से रैयतों का शोषण होता था। अपने खेत में नील उपजाने के लिए अनेक तरह से धमकी देना जबर्दस्ती बहुत कम मजदूरी देना और कभी बिना मजदूरी पर भी काम कराना, किसी कारण से अगर नील नहीं उपजा सके तो इसके लिए भारी जुर्माना करना इस अत्याचारी एवं कठोर प्रथा की कुछ विशेषताएँ थी। जब कभी बेचारा रैयत इसके विरुद्ध आवाज उठाता था सुरक्षा की मांग करता तो निलहे साहब बड़ी कठोरता से उसे दवा देते।

1857-59 के राष्ट्रीय विप्लव के बाद के वर्षों में अत्याचारों की इस दानवीय व्यवस्था के विरुद्ध कुछ प्रयत्न किए गए। 1859 में बंगाल के नदिया और यसोहर जिलों के रैयतों में निलहों के कठोर अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई। बंगाल और बिहार के विभिन्न भागों में उस समय इसको लेकर काफी उत्तेजना विरोधी दंगे हुए थे। हिन्दु पैट्रियट के सम्पादक हरीशचन्द्र मुखर्जी ने पीड़ित किसानों का पक्ष लिया। इसको लेकर काफी उत्तेजना फैली। यह दीनबन्धु मित्र लिखित बंगला नाटक “नील दर्पण” में की 1860 में अभिव्यक्त हुई।

नीलहे साहबों के दुःसहन अत्याचारों से पीड़ित चम्पारण के रैयत जहाँ कहीं से भी संभव हो अपने उद्धार का मार्ग तलाश रहे थे। शीघ्र ही उन्हें सही रास्ता मिला। पीड़ित लोगों ने भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के मंच का उपयोग अपनी बात लोगों तक पहुँचाने के लिए किया। इन लोगों ने भारतीय, राष्ट्रीय काँग्रेस के 31वें अधिवेशन (दिसंबर 1916) के दौरान महात्मा गाँधी से भेंट की थी। यह अखिल भारतीय अधिवेशन था जिसमें पूरे भारत के 2300 प्रतिनिधि, सम्मिलित हुए थे। बिहार के कई प्रतिनिधि इसमें भाग लेने के लिए आए थे जिसमें दरभंगा के ब्रजकिशोर प्रसाद के साथ लक्ष्मण प्रसाद, भुवनेश्वर मिश्र कमलेश्वरी चरण सिन्हा और रामबहादुर प्रसाद गुप्त थे। लखनऊ अधिवेशन में बिहार से सम्बंधित दो प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए। प्रथम पटना विश्वविद्यालय विधेयक और

दूसरा चम्पारण के नीलहे साहबों की ज्यादतियों और रैयतों की दयनीय स्थिति पर इस अधिवेशन में राजकुमार शुक्ल जिन्हें निलहें साहबों के अत्याचार का व्यक्तिगत कटु अनुभव था, चम्पारण के किसानों के प्रतिनिधि के रूप में लखनऊ काँग्रेस में भाग लेने के लिए आए थे। इस सम्बंध में गाँधीजी ने कहा है श्री शुक्ल बिहार के हजारों लोगों पर से नीच के कलंक को धो देने के लिए कृतसंकल्प थे।² नील सम्बंधी प्रस्ताव पर विषय निर्वाचनी समिति में वक्ताओं का चुनाव करते समय बिहार के प्रतिनिधियों ने गाँधीजी से बोलने का अनुरोध किया किन्तु गाँधीजी इसके लिए तैयार नहीं हुए। क्योंकि उन्हें चम्पारण के नीलहे रैयतों की कठिनाइयों की व्यक्तिगत जानकारी नहीं थी। उन्होंने कहा स्वयं ही स्थिति का निरीक्षण किए बिना मैं कुछ राय नहीं दे सकता। अतः अधिवेशन में प्रस्ताव आप ही प्रस्तुत करें। तत्काल के लिए मुझे स्वतंत्र छोड़ दें। काँग्रेस अधिवेशन के दूसरे दिन बाबू ब्रज किशोर प्रसाद ने निम्नलिखित प्रस्ताव किए:-

यह काँग्रेस सरकार से उत्तर बिहार में यूरोपीय कोठीवाल एवं नीलेहे रैयतों के बीच तनावपूर्ण संबंधों और कृषि समस्याओं के कारणों की जाँच तथा उन्हें दूर करने के उपायों की अनुशांसा करने के हेतु अधिकारियों तथा गैर सरकारी सदस्यों की एक संयुक्त समिति नियुक्त करने का अनुरोध करती है।³

काँग्रेस द्वारा इस प्रस्ताव को सर्वसम्मति से पारित करने के पश्चात् बिहारी प्रतिनिधियों ने विशेषकर राजकुमार शुक्ल ने गाँधीजी को चम्पारण आने का अनुरोध किया। गाँधीजी आगामी मार्च या अप्रैल महिने में चम्पारण आने का कार्यक्रम बनाया। लखनऊ से बिहार लौटकर राजकुमार शुक्ल ने गाँधीजी के पास 27 नवम्बर 1917 को एक पत्र लिखा⁴ "आप दूसरों की दुःख गाथाएँ

रोज ही सुनते रहे हैं आज हमारी भी दुःख गाथा सुनें। हमें केवल आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि चम्पारण में आपके चरण रखते ही उनका उसी तरह उद्धार हो जाएगा जैसे भगवान राम के चरणों के स्पर्श से अहिल्या का उद्धार हुआ था।"

9 अप्रैल 1917 को कलकत्ता से चलकर पटना और मुजफ्फरपुर होते हुए गाँधीजी 15 अप्रैल 1917 को मोतिहारी पहुँचे। बिहार आने का गाँधीजी का उद्देश्य "चम्पारण के कृषकों की स्थिति की जाँच तथा नीलहे साहबों से उनकी क्या शिकायतें थी इन बातों का अध्ययन करना था"⁵। 16 अप्रैल 1917 को गाँधीजी जसौली पट्टी गाँव पहुँचे वैशाख की प्रचंड गर्मी में भी गाँधीजी तत्काल किसानों से मिलना चाहते थे वस्तुतः उनके हृदय में जो आग जल रही थी उसकी तुलना में धूप, धूल और लू कुछ भी नहीं था⁶ चन्द्रहिया गाँव पहुँचने पर चम्पारण के जिला मजिस्ट्रेट डब्लू. वी. हाइकोक के अधिसूचना और वारन्ट के बारे जानकारी मिली जिसमें गाँधीजी को जिला छोड़ने का तत्काल आदेश दिया गया जिसे गाँधीजी ने टुकरा दिया। गाँधीजी अपने सहकर्मियों के साथ रैयतों का बयान लेकर उनपर होने वाले अत्याचारों की जाँच जारी रखा। अपने ऊपर किए गए मुकदमों के उत्तर में उन्होंने अदालत में अपना बयान दिया⁷ अदालत यदि अनुमति दे तो मैंने धारा 144 के अन्तर्गत दिए गए आदेश के उल्लंघन करने का गंभीर कदम क्यों उठाया..... एक मात्र सही और सम्मानजनक रास्ता वही है जिसका मैंने निर्णय लिया है अर्थात् आदेश के उल्लंघन करने की सजा बिना किसी प्रतिरोध के स्वीकार कर लूँ। 21 अप्रैल को जिला मजिस्ट्रेट ने गाँधीजी को सूचित किया लेफ्टिनेंट गवर्नर ने उन पर से मुकदमा उठा लेने का आदेश दिया। अब तक के प्रस्तावित जाँच करने को वे स्वतंत्र थे और अधिकारियों से जो भी सहायता वे चाहे,

ले सकते थे।"⁸ गाँधीजी ने इस सम्बंध में लिखा है कि देश को सविनय अवज्ञा का यह पहला प्रत्यक्ष सबक था।⁹ रैयत बड़ी संख्या में अपना बयान लिखवाने आ रहे थे।⁹ राजेन्द्र प्रसाद ने इस सम्बंध में लिखा है गाँधीजी का सत्य के लिए यह निर्भीक आग्रह का हमपर गहरा प्रभाव हुआ¹⁰ वस्तुतः भय और असत्य पर विजय किसी भी महान कार्य में विजय का एक आवश्यक स्रोत है। गाँधीजी ने चम्पारण के रैयतों का दुःख दूर करने का काम अपना काम बना लिया था। 22 अप्रैल 1917 को गाँधीजी बेतिया के लिए प्रस्थान किया। वे तृतीय क्षेणी के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे। रास्ते में हर स्टेशन पर लोग उनका अभिवादन कर रहे थे। मोतिहारी की तरह यहाँ भी बयान लेने का काम चलता रहा। बेतिया में बड़ी संख्या में रैयत आकर अपना बयान लिखवाते जिसे एक विशेष दूत द्वारा गाँधीजी के पास अग्रसारित कर दिया जाता सरकारी गुप्तचर हमेशा गाँधीजी के कार्यों पर नजर रखे हुए रहता था जिसकी चिन्ता उन्हें नहीं थी। उन्होंने इस सम्बंध में लिखा है कि "एक ओर गुप्तचर का डर किसानों के मन से दूर हो चुका था दूसरी ओर उसकी उपस्थिति अतिरंजना पर एक आवर्जना का काम करती।"। वे नीलहे साहबों को अकारण रूष्ट नहीं करना चाहते थे बल्कि अपनी विनम्रता से उनका हृदय जीतना चाहते थे। इस हेतु प्लान्टर्स एसोसियेशन के सचिव से तो उन्होंने भेंट की हीं, उसके अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से भी वे कई प्लान्टरों से वे मिले। इनमें से कुछ तो उनके प्रति घोर दुर्भावना रखते थे, कुछ उदासीन थे और कुछ अन्य ने उनके साथ शिष्टता पूर्वक बातचीत की।¹³ चम्पारण में स्थिति की गंभीरता का अंदेशा सरकार को हो गया था। सरकार की ओर से गाँधीजी को चम्पारण में कृषि की स्थिति की जाँच करने के लिए एक जाँच समिति की नियुक्ति की गयी। गाँधीजी ने इसका

सदस्य बनने में अपनी स्वीकृति इस शर्त पर दे दी कि वे जाँच के क्रम में अपने सहकर्मियों से परामर्श करने को स्वतंत्र होंगे। तदनुसार भारत सरकार की सहमति से निम्नलिखित व्यक्तियों की समिति की नियुक्ति की गई: अध्यक्ष-

एफ. जी. सलाई, आयुक्त मध्यप्रदेश

सदस्य श्री एल. सी. ऐडमी, आई. सी. एस., सुपरिटेण्डेंट एण्ड रिमेम्बरेंस ऑफ लीगल एफेयर्स बिहार-उड़ीसा

राजा हरिहर प्रसाद नारायण सिंह, सदस्य बिहार उड़ीसा-विधान सभा

श्री डी. जे. रीड, सदस्य बिहार-उड़ीसा विधान परिषद

श्री जी. रेनी, आई. सी. एस., भारत सरकार के उपविक्त सचिव

श्री एम. के. गाँधी

सचिव-ई. एल. टैनर, आई.सी.एस., सेंट्रलमेंट पदाधिकारी, दक्षिण बिहार

3 अक्टूबर 1917 को समिति ने सर्वसम्मति से एक रिपोर्ट बिहार सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया। सरकार ने प्रायः सभी अनुशंसाएँ स्वीकार कर ली। 18 अक्टूबर 1917 को इस आशय की अधिसूचना प्रकाशित कर दी गई¹⁴। लेफ्टिनेंट गर्वनर ने समिति के सभी सदस्यों को सभी पक्षों का स्वीकारणीय समझौता की शर्तों अभिस्तावित करने तथा उसके हेतु उन्होंने जो परिश्रम किया था उसके लिए धन्यवाद ज्ञापित किया¹⁵ मुख्य अनुशंसाएँ इस प्रकार थी।

- (1) तीनकठिया प्रथा नील या कोई भी अन्य फसल उपजाने हेतु पूर्णतया समाप्त कर दी जानी चाहिए।
- (2) नील उपजाने के लिए यदि किसी भी प्रकार की बंदोवस्ती की आवश्यकता हो तो वह स्वेच्छापूर्वक हो।
- (3) मोतिहारी और पिपरा संस्थानों में परिवर्द्धित मालगुजारी दरें 26 प्रतिशत कम कर दी जाएँ।

तुरकौलिया में 20 प्रतिशत कम कर दी जाय।

- (4) अववाव की वसूली सर्वथा गैरकानूनी है। भविष्य में उनके खतियान में लिखित मालगुजारी सरह से अधिक जमीन्दारों को भुगतान नहीं करना है।
- (5) रैयतों के वारिसों के नाम दर्ज कराने के लिए किसी तरह की फीस की वसूली गैरकानूनी है।
- (6) किरासन तेल बेचने के लिए लाइसेंस जारी करना गैरकानूनी है और उसे एकदम समाप्त कर देना चाहिए।
- (7) जमीन्दारों, मोकरीदारों, ठीकेदारों को अधिसूचित कर दिया जाना चाहिए कि अपने इलाके में मवेशियों के लिए पर्याप्त परती और चारागाह वे छोड़ दें।
- (8) इसके लिए रैयतों पर जुर्माना करना और उसकी वसूली करना गैरकानूनी है।
- (9) गाड़ी के सट्टा की अवधि 5 वर्ष से ज्यादा न हो।
- (10) मजदूरी जबरदस्ती नहीं होकर स्वेच्छा से करायी जाय।
- (11) मालगुजारी की प्रत्येक किस्त का भुगतान करने का उपयुक्त किस्त देने के संबंध में समिति की अनुशंसा के संदर्भ में सरकार यदि संभव हो तो एक फारम निश्चित करे।
- (12) जिला पार्षदों से कहा जाय कि प्रायोगिक तौर पर ढाढ़ो का प्रबंध वह स्वयं करे उसे कोठी या दूसरे ठीकेदारों के हाथों में नहीं सौंपे।

जाँच समिति की अनुशंसाएँ चम्पारण जिला में शीघ्र ही सरकार की ओर से एक अधिसूचना द्वारा जारी करके परिचारित कर दी गई। जिससे जिले के कोने-कोने में रैयतों को भारी राहत मिली एक ऐसी व्यवस्था से मुक्त होने

की आशा का उनमें संचार हुआ जो उनके जीवनरस का शोषण कर लेती थी तथा अभिशप्त जिन्दगी बिताने को उन्हें बाध्य करती थी। चम्पारण में गाँधीजी का कार्य मूलतः मानवतावादी था किन्तु उसके साथ ही राष्ट्रीयता के जागरण का भी अनुप्रेरक। उसका एक परिणाम चम्पारण के घोर सताए हुए किसानों के मन में जागरण की चेतना उदित करना था। किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन की यह एक आवश्यक शर्त है। सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष से राजनीतिक चेतना बढ़ाता है। गाँधीजी के शब्दों में “चम्पारण संघर्ष इस बात का प्रमाण था कि किसी क्षेत्र में जनता की निःस्वार्थ सेवा देश को राजनीतिक दृष्टि से अन्ततः सहायता प्रदान करती है।¹⁶ इसके अतिरिक्त चम्पारण सत्याग्रह ने एक महान लक्ष्य के लिए अहिंसक सत्याग्रह के उपकरण की आश्चर्यजनक क्षमता का उदाहरण प्रस्तुत किया।

संदर्भ संकेत सूची:-

1. राजेन्द्र प्रसाद “सत्याग्रह इन चम्पारण” पृ 18-19
2. गाँधी “आत्मकथा” पृ 0-494
3. 21वाँ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की रिपोर्ट पृ 68
4. इसकी एक हिन्दी प्रति बेतिया में पीर मोहम्मद मुनिस के पास मिली।
5. गाँधी “आत्मकथा” पृ 501
6. राजेन्द्र प्रसाद “सत्याग्रह इन चम्पारण” पृ 105.
7. गाँधीजी “आत्मकथा” पृ 506.
8. उपरोक्त पृ 507
9. बेतिया से लगभग 500 आदमी आए। डा० राजेन्द्र प्रसाद “सत्याग्रह इन चम्पारण” पृ 121
10. राजेन्द्र प्रसाद ‘सत्याग्रह इन चम्पारण’ पृ 122
11. गाँधी “आत्मकथा” पृ 511
12. उपरोक्त
13. उपरोक्त
14. चम्पारण ऐंगेरियन कमीटी रिपोर्ट खण्ड 1 पृ 0-19
15. उपरोक्त
16. गाँधी आत्मकथा पृ 508

दिल्ली सल्तनत के दौरान भारत की आर्थिक अवस्था

प्रियंका गौतम

एमए, इतिहास

इस काल में शासक वर्ग ने लगभग सम्पूर्ण कृषि उत्पादन के अधिशेष पर अपना अधिकार जमा लिया था और ग्रामीण मध्यस्थ वर्गों का हिस्सा बहुत घटा दिया था। तुर्क-अफगान-शासन की तीन शताब्दियों के अन्दर भारत के बहुसंख्यक लोगों की आर्थिक अवस्था का ठीक-ठीक अनुमान करना आसान नहीं है। इसके बावजूद इतिहास-ग्रंथों, अमीर खुसरो की पुस्तकों, जनविश्वासों एवं कहानियों, कविता एवं ग्रामगीतों, हिन्दू एवं मुस्लिम रहस्यवादियों की रचनाओं, व्यावहारिक कलाओं के ग्रंथों, कानून एवं नीति-शास्त्र की किताबों, विदेशी यात्रियों के विवरणों तथा कुछ सरकारी एवं व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार के आकस्मिक उल्लेखों का संग्रह कर हाल में इस बात का पता लगाने के प्रयत्न किये गये हैं।

देश उस समय अपने कथित धन के लिए प्रसिद्ध था। फरिश्ता हमें बतलाता है कि किस प्रकार महमूद गजनवी विशाल मात्रा में लूट का माल ले गया तथा यह ध्यान देने योग्य है कि मुहम्मद बिन तुगलक के अविश्वेकपूर्ण अपव्यय तथा उत्तर तुगलक-युग की बहुत समय तक रह गयी अव्यवस्था के बाद भी तैमूर ने दिल्ली में अपार धन लूटा।

कोई ऐसी व्यापक आर्थिक-नीति राज्य विकसित नहीं कर सका। जिसका ध्येय लोगों की दशा में सुधार करना हो। खिल्जियों अथवा तुगलकों ने जो थोड़े प्रयोग किये भी, उनका कोई स्थायी परिणाम नहीं हुआ।

भारत में फिर भी व्यावसायिक संगठन तथा विस्तृत आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार की परंपराएँ थीं। व्यावसायिक संगठन ग्राम-समुदायों तथा नागरिक क्षेत्रों के संघों और शिल्पों द्वारा होता था। राज्य के व्यापार, आलोच्य काल में मार्ग-प्रदर्शन एवं समर्थन के अभाव के बावजूद, राजनीतिक क्रान्तियों के आघातों के बाद भी जीवित रहा। दिल्ली के सुल्तानों तथा आगे चलकर कुछ छोटे प्रान्तीय शासकों ने केवल अपनी राजनीतिक एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए व्यवसायों

और व्यापार को प्रोत्साहन दिया। दिल्ली के शाही कारखानों में इस तरह सुल्तानों की मांगों की पूर्ति के लिए दूसरी चीजों के कारीगरों के अतिरिक्त कभी-कभी रेशम के चार हजार जुलाहे नियुक्त किये जाते थे।

कारखाने (फैक्ट्रियाँ) आज की तरह अथवा बड़े पैमाने पर व्यावसायिक संगठन नहीं थे। अधिकतर कारीगरों का सम्बन्ध सीधे व्यापारियों से रहता था, यद्यपि कभी-कभी वे अपने माल मेलों में बेच लेते थे तथा उनमें से कुछ कतिपय दिलेरे व्यापारियों द्वारा उनकी (व्यापारियों की) देखरेख में माल तैयार करने को रख लिये जाते थे।

कृषि यद्यपि अधिकतर लोगों की जीविका थी, पर देश के नागरिक एवं ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ महत्त्वपूर्ण व्यवसाय भी थे। ये थे-बुनाई का व्यवसाय, जिसमें सूती, ऊनी एवं रेशमी कपड़ों का व्यवसाय सम्मिलित था; रँगने का व्यवसाय तथा सूती कपड़े पर नकशे की छपाई; चीनी का व्यवसाय; धातु का कार्य; पत्थर तथा ईट का कार्य तथा कागज का व्यवसाय। छोटे व्यवसाय थे-प्याले बनाना; जूते बनाना; अस्त्र बनाना विशेषकर धनुष तथा बाण; इत्रों, आसवों तथा मादक द्रव्यों का व्यवसाय इत्यादि। बुने हुए सामानों के व्यवसाय और निर्यात में बंगाल तथा गुजरात विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। बंगाल के माल की उत्तमता की प्रशंसा अमीर खुसरो तथा विदेशी यात्रियों ने मुक्त कंठ से की है।

इन विदेशी यात्रियों के नाम इस प्रकार हैं-जो 1406 ई. में बंगाल आया था; बार्थेमा, जो सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग (1503-1508 ई.) में भारत आया था; तथा बारबोसा, जो यहाँ 1518 ई. के लगभग आया था। भारत के आन्तरिक व्यापार का परिमाण इस युग में बढ़ा था। “केवल राज्य के एकाधिकार अथवा कठोर प्रशासनिक नियंत्रण के कारण यह कभी-कभी निष्फल हो जाता था।” उसका बाह्य जगत् के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी ध्यान देने योग्य है।

उसका समुद्र-मार्ग से व्यापारिक सम्बन्ध यूरोप के दूरस्थ क्षेत्रों, मलय द्वीप-पुंज तथा चीन एवं प्रशान्त महासागर के अन्य देशों के साथ थे। स्थल-मार्गों से उसका संबंध मध्य एशिया, अफगानिस्तान, फारस, तिब्बत और भूटान के साथ था।

मसालिकुल-अवसर का लेखक लिखता है, “सभी देशों के व्यापारी भारत शुद्ध सोना ले जाने से कभी नहीं चूकते तथा उसके बदले जड़ीबूटियों और गोंद के सामान ले जाते हैं।” धनी वर्ग के लिए विलास की वस्तुएँ, घोड़े एवं खच्चर मुख्य

आयात थे। मुख्य निर्यात थे कृषि-सम्बन्धी माल की किस्में और बुने हुए सामान। कम महत्वपूर्ण निर्यात थे सफेद मिलावटी धातु, अफीम, नील की टिकिया आदि।

कुछ देश फारस की खाड़ी के चारों ओर के अपने भोजन की आपूर्ति के लिए भारत पर पूर्णतः निर्भर थे उस समय भारत के निर्यात व्यापार के लिए मुख्यतः बंगाल तथा गुजरात के बन्दरगाह प्रयुक्त होते थे। बंगाल को बार्थेमा ने “रूई, अदरक, चीनी, अन्न तथा हर प्रकार के मांस के लिए संसार का सबसे अधिक समृद्ध देश” समझा था। वस्तुओं के मूल्य सम्पूर्ण युग में एक से नहीं थे। दुर्भिक्ष तथा अभाव के समय में ये असाधारण रूप से बढ़ जाते थे, पर अत्यधिक उत्पादन के समय में बहुत घट जाते थे।

मुहम्मद बिन तुगलक के राज्यकाल में भीषण दुर्भिक्षों के कारण अनाज का मूल्य सोलह तथा सत्रह जीतल प्रति सेर हो गया तथा बहुत से लोग भूख से मर गये। सिंध पर फ़िरोज़ शाह के द्वितीय आक्रमण के बाद उस प्रान्त में इसके फलस्वरूप हुए अभाव के कारण अन्न का मूल्य प्रति पसेरी (पाँच सेर) आठ और दस जीतल तथा दलहन का चार और पाँच टंका प्रतिमन अथवा क्रमशः 6.4 और 8 जीतल प्रति सेर हो गया।

इब्राहीम लोदी के राज्य-काल में मूल्य बहुत ही कम थे। एक बहलोलो से, जिसका मूल्य 1.6 जीतल के बराबर था, दस मन अनाज, पाँच सेर तेल तथा दस गज मोटा कपड़ा खरीदा जा सकता था। दूसरी तरफ अलाउद्दीन के राज्य-काल के मूल्य स्वाभाविक समझे गये हैं। ये थे (प्रतिमन के हिसाब से)—गेहूँ—साढ़े सात जीतल, जौ—चार जीतल, धान अथवा चावल—पाँच जीतल, दहलन—पाँच जीतल, मसूर—तीन जीतल, चीनी (सफेद)—सौ जीतल, चीनी (मुलायम)—साठ जीतल, भेड़ का मांस—दस जीतल

तथा घी—सोलह जीतल। कपड़ों में दिल्ली की मलमल सत्रह टंके में एक टुकड़े के हिसाब से आती थी और अलीगढ़ की छः टंके में एक। प्रत्येक मोटे कम्बल का मूल्य छः जीतल था तथा प्रत्येक महीन कम्बल का छत्तीस जीतल था।

अलाउद्दीन, मुहम्मद बिन तुगलक तथा फीरोज शाह के राज्यकालों के सामानों के मूल्यों की तुलना करने पर हम पाते हैं कि साधारणतः द्वितीय सुल्तान के राज्य-काल में ये बढ़ गये थे पर फीरोज शाह के राज्य काल में ये फिर घटकर अलाउद्दीन के राज्य-काल की पुरानी सतह पर चले आये। दोआब, प्रदेश तथा प्रान्तों में सामान्यतः भोजन तथा वस्तुएँ सस्ती थीं। इब्नबतूता लिखता है कि उसने कोई भी “ऐसा देश” नहीं देखा था, जहाँ “वस्तुएँ” बंगाल से “अधिक सस्ती बिकती हों।” तीन मनुष्यों के एक परिवार के वार्षिक खर्च के लिए यहाँ आठ दिरहम काफी थे।

इक्ता व्यवस्था

इक्ता भूमि का वह विशेष भाग था जो सैनिक तथा सैनिक अधिकारियों को बाँटा जाता था। वे उस भूखण्ड के मालिक नहीं थे वरन उन्हें सिर्फ लगान वसूलने का अधिकार था। ‘इक्ता’ एक अरबी शब्द है। निजामुलमुल्क तुसी के ‘सियासतनामा’ में ‘इक्ता’ को परिभाषित किया गया है। गोरी की विजय के बाद उत्तर भारत में ‘इक्ता’ व्यवस्था स्थापित हुई। 1191 ई. में मोहम्मद गोरी ने ऐबक को हाँसी का इक्ता प्रदान किया। उसी ने मलिक नसीरुद्दीन को कच्छ का प्रदेश इक्ता के रूप में प्रदान किया।

इल्तुतमिश ने संभवतः मुल्तान से लेकर लखनौती तक का क्षेत्र इक्ता के रूप में विभाजित कर दिया। इक्ता की दो श्रेणियाँ होती थीं। पहला, खालसा के बाहर प्रांतीय स्तर की ‘इक्ता’ तथा दूसरा, कुछ गाँवों के रूप में छोटी

‘इक्ता’। गाँव के रूप में छोटी इक्ता खालसा का ही एक अंग होती थी। परिस्थिति पर इक्तादार और सुल्तान के सम्बन्ध निर्भर करते थे। अर्थात्, इक्तादारों की स्थिति तीन प्रकार की हो सकती थी।

प्रथम प्रकार के इक्तादार वे थे जिन्हें जीते हुये प्रदेश में सुल्तान के द्वारा नियुक्त किया जाता था। दूसरे प्रकार के इक्तादार वे थे जो अर्द्धविजित क्षेत्र में नियुक्त किये जाते थे और उन्हें उस क्षेत्र को पुनः जीतना होता था।

सुल्तान की पकड़ ऐसे इक्तादारों पर अपेक्षाकृत कम होती थी। और तीसरे प्रकार के इक्तादार वे होते थे जो ऐसी भूमि पर इक्तादार नियुक्त किये जाते थे जो अभी तक जीता नहीं गया होता था और वैसे इक्तादार व्यावहारिक रूप से स्वतंत्र होते थे।

मुक्ति या वलि इक्ता के प्रशासक कहलाते थे। ये सम्बन्धित क्षेत्र में भू-राजस्व का संग्रह करते थे और उस क्षेत्र का प्रशासन देखते थे। इनसे अपेक्षा की जाती थी कि प्रशासनिक खर्च और वेतन को पूरा करने के पश्चात् जो शेष रकम बचती है उसे वे केन्द्रीय खजाने में भेज दें और ऐसी रकम फवाजिल कहलाती थी। कुछ सुल्तानों के द्वारा समय-समय पर इक्तादारों पर नियंत्रण स्थापित करने की भी कोशिश की गयी। सुल्तान और मुक्ति का परस्पर सम्बन्ध परिस्थितियों पर निर्भर करता था।

मुक्ति या वलि का पद सैद्धान्तिक रूप में वंशानुगत नहीं होता था और साथ ही हस्तांतरणीय होता था। बलवन ने मुक्ति को नियंत्रित करने के लिये ‘इक्ता’ में ख्वाजा नामक अधिकारी को नियुक्त किया वह इक्ता की आमदनी का आकलन करता था।

‘इक्तादारों’ के स्थानान्तरण पर अलाउद्दीन खिल्जी ने बल दिया ताकि निहित स्वार्थ पैदा नहीं हो सके। उसने

इक्ता में नौकरशाही के हस्तक्षेप को बढ़ा दिया। इसके अतिरिक्त दीवान-ए-बज़ारत को यह अधिकार दिया गया कि वह प्रत्येक इक्ता की आमदनी का निश्चित अनुमान लगाये। इक्ता के राजस्व में से इक्तादार की व्यक्तिगत आय तथा उसके अधीन रखे गये सैनिकों के वेतन में स्पष्ट विभाजन किया गया और ऐसा गयासुद्दीन तुगलक ने किया।

एक नया कदम मुहम्मद बिन तुगलक ने उठाया। उसने भू-राजस्व संग्रह और प्रशासन के कार्यों का विभाजन कर दिया। अब मुक्ति के अतिरिक्त एक और अमीर नियुक्त किया गया। वह प्रशासन का कार्य देखता था। एक आमील नामक अधिकारी भी इक्ता के आय-व्यय के निरीक्षण के लिये नियुक्त होने लगा। मुहम्मद बिन तुगलक ने इक्ता के सैनिकों का वेतन भी केन्द्रीय खजाने से देने का प्रावधान लाया ताकि भ्रष्टाचार को रोका जा सके। सैनिकों के वेतन के बदले फिरोज तुगलक उन्हें गाँव प्रदान करने लगा और ऐसे गाँव **वजह** कहलाते थे और 'वजह' को धारण करने वाले को **वजहदार** कहा जाता था। लोदियों के समय भी स्थिति में सुधार नहीं हुआ। इस काल में 'इक्तादारों' का स्थानांतरण नहीं हो पाता था।

खालसा या महरुसा:—खालसा केन्द्र के अधीन होती थी। खालसा भूमि वह भूमि होती थी जिसकी आय सुल्तान के लिए सुरक्षित रखी जाती थी। प्रारंभिक सुल्तानों के समय भटिण्डा और ग्वालियर खालसा भूमि थी। खालसा भूमि का अलाउद्दीन खिल्जी के समय विस्तार हुआ। किन्तु फिरोज तुगलक ने उसकी नीति को उलट दिया। उसके समय खालसा भूमि कम हो गयी। खालसा के प्रभारी अफसर अमीर या **शाहना** कहलाते थे।

कर व्यवस्था:—सल्तनत में प्रारम्भ में इस्लामी करारोपण पद्धति लागू नहीं

हो पायी। सबसे पहले पंजाब में इस्लामी करारोपण पद्धति लागू हुयी थी। दिल्ली एवं आसपास के क्षेत्रों में अलाउद्दीन खिल्जी से पूर्व इस्लामी करारोपण पद्धति शुरू नहीं हुयी थी। आगे चलकर शरियत के मुताबिक चार प्रकार के कर स्थापित हुए—धार्मिक कर—**जकात**, धर्म निरपेक्ष कर—**खराज**, जजिया और खम्स

खराज और उम्र:—शुद्ध रूप से खराज भूमि कर था। जो हिन्दुओं की भूमि पर लगाया जाता था। सामान्यतः यह उत्पादन के 1/3 से कम नहीं और 1/2 से अधिक नहीं होना चाहिए था। किन्तु फिरोज तुगलक ने फतुहाते-फिरोजशाही में इसका भाग 1/5 निर्धारित किया है।

उम्र:—उम्र मुसलमानों की भूमि पर लगाया जाता था। जिस भूमि पर प्राकृतिक रूप से सिंचाई की सुविधा उपलब्ध होती थी उस पर इसकी दर कुल उत्पादक का 1/10 भाग थी जहाँ राज्य के द्वारा सिंचाई की सुविधा प्रदान की जाती थी वहाँ इसकी दर कुल उत्पादन का 1/5 भाग होती थी। किसी मुसलमान की जमीन अगर कोई हिन्दू खरीद लेता था तो उसे उस भूमि पर उम्र के बदले खराज देना पड़ता था किन्तु अगर कोई मुसलमान किसी हिन्दू की जमीन खरीदता था तो खराज का परिवर्तन उम्र में नहीं होता था।

जकात (सदका):—धानवान मुसलमानों पर यह लगाया जाता था इसकी दर उसकी आय का अढ़ाई (2.5) प्रतिशत होती थी। इसका उपयोग धार्मिक कार्यों के लिए होता था।

जजिया:—गैर मुसलमानों पर यह सैनिक सेवा के बदले लगाया जाता था। इसकी दर क्रमशः 48 दिरहम, 24 दिरहम और 12 दिरहम थी। यह प्रायः खराज के साथ लिया जाता था। फिरोज तुगलक ने इसे एक पृथक कर बनाया।

खम्स:—खम्स युद्ध के लूट के माल

पर लगता था। इसमें राज्य का हिस्सा 1/5 भाग और सैनिकों का हिस्सा 4/5 भाग होता था किन्तु अलाउद्दीन खिल्जी ने उसे उलट दिया। फिरोज तुगलक ने इसे पुनः व्यवस्थित किया।

भू-राजस्व व्यवस्था:—सल्तनत कालीन भूमि व्यवस्था वास्तव में मुस्लिम विचार धारा और पूर्ण प्रचलित देशी परम्पराओं का मिश्रण थी।

तुर्कों ने सामान्यरूप से इस्लामी अर्थव्यवस्था संबंधी सिद्धांत को अपनाया। यह व्यवस्था बगदाद के मुख्य काजी अबू याकूब द्वारा लिखित किताब-उल-खराज में लिपिबद्ध है। सल्तनत काल में भूमि निम्नलिखित भागों में विभाजित थी। 1. इक्ता 2. खालसा 3. मिल्क 4. वक्फ और 5. इनाम। सल्तनत काल में सुल्तान के अधिकार से मुक्त भूमि को मोरलैण्ड ने अनुदान कहा है। यह अनुदान मिल्क (राजा द्वारा प्रदत्त), वक्फ (धर्म सेवा के आधार पर प्राप्त भूमि) इनाम (पेंशन) होता था।

भू-राजस्व (खराज) संग्रह की पद्धति:—

1. गल्ला बख्शी या बटाई-इसके तीन भाग होते थे:—
 - (अ) **खेत बटाई:**—राज्य का जब खड़ी फसल में हिस्सा निर्धारित कर दिया जाता था तो वह खेत बटाई कहलाता था।
 - (ब) **लंक बटाई:**—राज्य का लंक बटाई में फसल कटने के बाद किन्तु भूसा अलग करने के पहले ही हिस्सा निर्धारित कर दिया जाता था।
 - (स) **रास बटाई:**—रास बटाई में भूसा अलग करने के बाद तैयार अनाज का विभाजन किया जाता था।

2. **कानकूतः**—राज्य का इसमें अनुमान के आधार पर हिस्सा निर्धारित किया जाता था।
3. **मसाहतः**—मसाहत भूमि माप की पद्धति थी और अलाउद्दीन खिल्जी ने मसाहत को पहली बार अपनाया।

‘वफा-ए-विसवा’ को उसने अपनाया जो माप की ईकाई था। अलाउद्दीन खिलजी ने किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया उसने मध्यस्थ वर्ग का अंत कर दिया। किसानों से राज्य द्वारा सीधे सम्पर्क किये जाने से राजस्व अधिकारियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी। ये अधिकारी विभिन्न नामों से पुकारे जाते थे। उदाहरण के लिये-‘उस्माल’, ‘मुतसरिफ’, मुशरिफ, मुहासिललान, नवीसिन्दगान आदि। मध्यस्थ वर्ग में मोरलैण्ड के अनुसार **खुत, मुक्कहम और चौधरी** थे। अलाउद्दीन खिल्जी ने ‘हक-ए-खूती’ और ‘किस्मत-ए-खूती’ का अंत कर दिया। राजकीय अधिकारियों में कुछ ही समय के बाद भ्रष्टाचार अत्यधिक बढ़ गया। माना जाता है कि नायब-वजीर शरीफ केनी ने भ्रष्ट अधिकारियों को दण्डित किया।

हक-ए-खूतीः—हक-ए-खूती का मतलब था—अपने पारिश्रमिक के रूप में इस वसूली का एक अंश प्राप्त करने का हक किसानों से उनकी उपज का कुछ अंश प्राप्त करना। दो महत्वपूर्ण परिवर्तन गयासुद्दीन तुगलक द्वारा किए गये मध्यस्थ वर्ग को उसने ‘हक-ए-खूती’ का अधिकार तो दे दिया किन्तु ‘किस्मत-ए-खूती’ का अधिकार नहीं दिया। साथ ही उन्हें गृहकर और चराई कर से मुक्त कर दिया गया।

भूमि को गयासुद्दीन तुगलक ने मापने की व्यवस्था भी जारी रखी परन्तु साथ ही अवलोकन और वास्तविक उपज (बर-हुकम हासिल) के अधार पर भी कर का निर्धारण जारी रखा। अलाउद्दीन

खिल्जी के काल में वस्तुतः कर-प्रणाली का आधारभूत सिद्धांत यह था कि सबल वर्ग का बोझ निर्बल वर्ग पर नहीं पड़ना चाहिए। भूमि मापने की प्रथा मुहम्मद बिन तुगलक के समय फिर अपना ली गयी। परन्तु स्थिति तब बिगड़ गयी जब अनाज के रूप में वसूली वास्तविक उत्पादन के आधार पर न कर के राज्य द्वारा निर्धारित पैदावार (वफा-ए-फरमानी) के आधार पर किया गया।

सिंचाईः—कुएँ सिंचाई के मुख्य साधन थे। मुहम्मद बिन तुगलक ने कुओं की खुदाई के लिये ऋण प्रदान किये थे। कुओं से सिंचाई के लिए एक नयी तकनीकी इस काल में विकसित हुयी, जिसे गियर प्रणाली कहते हैं। यह साकिया के नाम से जाना जाता था। नहर सिंचाई 14वीं सदी में विकसित हुई। सम्भवतः मध्य एशिया के प्रभाव से इसका विकास हुआ। गयासुद्दीन तुगलक प्रथम सुल्तान था जिसने नहर का निर्माण कराया। फिरोज तुगलक ने कई नहरें निर्मित कराईं। उसने यमुना नदी से राजवाह और उलूग खानी नामक नहर निकलवाये। उसने सतलज नदी से **फिरोजशाही** नामक नहर निकलवाया। उसने एक नहर घग्गर नदी से और दूसरा काली नदी से निकलवाया।

फिरोज तुगलक प्रथम सुल्तान था जिसने सिंचाई कर प्रारंभ किया। उसके द्वारा लगाया गया सिंचाई कर ‘हक-ए-शर्व’ के नाम से जाना जाता था और वह कुल उपज का 10 प्रतिशत होता था। रबी और खरीफ दोनों फसलें सल्तनत काल में उगाई जाती थीं। इब्नबतूता ने दिल्ली के आसपास दोनों प्रकार के फसलों की चर्चा की है। ठक्करफेरू ने, जो अलाउद्दीन खिलजी के अधीन एक अधिकारी था, 25 प्रकार के फसलों के नाम गिनाये हैं। किन्तु आश्चर्य की बात है कि उसने नील और पोस्त की चर्चा नहीं की है। पहली बार 14वीं और 15वीं शदी में मलबरी रेशम कीट पालन प्रारंभ हुआ। इस काल

में कलम लगाने की प्रथा प्रचलित नहीं थी।

कृषि सम्बन्धः—किसानों को उस समय भूमि पर स्वामित्व नहीं था। भूमि की अधिकता थी इसलिये भूमि स्वामित्व के प्रति अधिक सजगता नहीं थी।

तुर्कों के द्वारा लाये गये कुछ महत्वपूर्ण तकनीक थे :-

1. **करघाः**—मिफताह-उल-फुजाला में करघा का चित्र मिलता है।
2. **चरखाः**—यह 13वीं-14वीं सदी में लाया गया। 1350 ई. की कृति फुतुह-उस सलातीन में इसकी चर्चा की गयी है।
3. **चूना और गारा का प्रयोग और कागज व जिल्दसाजी का विकास।**
4. स्थापत्य में **मेहराब का प्रयोग व वैज्ञानिक रूप से बने हुए गुम्बदों का प्रयोग।**
5. **कलई का प्रयोग।**
6. **रकाब, नाल और बारुद का प्रयोग।**
7. नाविकों के द्वारा **कुतुबनुमा का प्रयोग।**
8. **आसवन विधि का विकास।**

संदर्भ

- Aghnides, Nicholas P.: *Muhammadan Theories of Finance*, New York, 1916.
- Babur, Zahiruddin Muhammad: *Babur Nama or Tuzuk-i-Baburi*, London, 1922.
- Bernier, Francois: *Travels in the Mogul Empire*. New Delhi: S. Chand, 1972.
- Blake, Stephen P.: *Shahjahanabad: The Sovereign City in Mughal India*. Cambridge: Cambridge University Press, 1991.
- Bose, Sugata: *Peasant Labour and Colonial Capital: Rural Bengal since 1770*. Cambridge: Cambridge University Press, 1993.
- Bosworth, C.E.: *The Ghaznavids: Their Empire in Afghanistan and Eastern Iran, 994-1040*, Edinburgh, 1963.

प्रतिरोध, प्रभाव एवं स्वीकरण (अधीत काल का परवर्तीयुग)

कविता गौतम

एमए, प्राचीन इतिहास

हमने इस अध्याय में आलोच्य कालावधि की उन तमाम विशिष्टताओं की समीक्षा का एक विनम्र प्रयास किया है जिसके चलते यह विमर्श बन बैठी। अपने आने वाले समय को यह किस रूप में प्रभावित करती हैं, इस विशिष्ट कालावधि में जो हुआ वह क्यों हुआ, क्या वह इसी रूप में होने का अभिशाप्त था या कोई और भी विकल्प था। ऐसे ही तमाम सवालात हैं जो हमेशा कौंधते रहत हैं। उन सब पर यथासम्भव विचार करने का प्रयास किया गया है। इतिहास के एक अध्येता के रूप में मुझे ऐसा लगता है कि इसके बाद का काल सामाजिक सन्दर्भों में इसके प्रतिरोध का, तो आर्थिक क्षेत्रों में लगभग इसके स्वीकरण एवं सातत्य का काल रहा।

वस्तुतः बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मणवाद के मध्य संघर्ष भारतीय इतिहास की एक सचाई है।¹ मौर्य साम्राज्य के पतन और ब्राह्मणों के राज्यारोहण को ब्राह्मण प्रतिक्रिया स्वरूप देखा जाता है।² यह सामाजिक और धार्मिक प्रतिक्रिया की राजनैतिक अभिव्यक्ति थी। यह सही है कि वर्णभेद और जातिभेद की व्यवस्था पर निर्णायक चोट तो बौद्ध और जैन आन्दोलन भी नहीं कर पाए परन्तु जन्म आधारित श्रेष्ठतापर सतत् सवाल खड़े करते रहे।³ जाहिर है कि इससे सर्वाधिक असुविधा ब्राह्मणों को ही हुई। मनुस्मृति को इस युग की रचना माना जा सकता है।⁴ इस ग्रन्थ में ब्राह्मणों की उत्कृष्टता का उत्कृष्ट निदर्शन है।⁵ बौद्धों के द्वारा की गई क्षतिपूर्ति के निमित्त ब्राह्मणों को अपनी विशिष्टताओं को बनाए रखने हेतु कुछ अतिरिक्त प्रयास भी करने पड़े जिसके तहत काफी कठोर आचार संहिता का प्रतिपादन हुआ।⁶ यह कुपित नियमन था एवं स्वाभाविक रूप से इसकी गाज शूद्रों एवं वैश्यों पर ही गिरनी थी। अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर वे इन्हीं का सर्वाधिक शोषण करते थे तो अब और अधिक विशिष्टता के तर्क पर अधिक शोषण होने लगा। बुद्ध के विचार-प्रचार और अशोक के सदाशयी क्रियान्वयन से निम्नवर्णों की बेहतरी की

जो कुछ भी थोड़ी सी आस बँधी थी, उसे सिरे से खारिज कर दिया गया।

अशोक की धारणा थी कि धर्म के प्रचार से मानव देवताओं से मिलेगे।⁷ इसी धारणा के तहत धर्म महामात्रों ने जनजातीय लोगों के बीच धर्म का प्रचार भी किया। जो धर्म प्रचारित हुआ रहा होगा, शरीर उसका जो भी रहा हो, आत्मा बौद्ध धर्म ही रहा होगा, जिससे प्रभावित होकर विशाल जनजातीय समुदाय सभ्य समाज की ओर प्रस्थान करता है। खाद्य संग्राहक न रह कर करद कृषक बनता है। यह उत्संस्करण की सुविचारित नीति थी।⁸ यानी धन और जन पर सुनियोजित कब्जा। इस तरह अशोक के राजनैतिक प्रभामण्डल के तले बौद्धों की सुविचारित नीति का यह सूत्रपात्र था कि अधिकाधिक लोग भेदभाव रहित धर्म भी स्वीकार करें और राजस्व भी दें ताकि राजनैतिक शक्ति भी बढ़े।

परन्तु इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही ब्राह्मण समाज शकों एवं यवनों को अपने में समाहित करता है। वे उत्कृष्ट योद्धा थे और विजेता थे। इस आधार पर उनकी सामाजिक और राजनैतिक हैसियत थी। वैसे इस म्लेच्छ वर्ग का स्वाभाविक सम्मिलन तो बौद्धों के साथ होना चाहिए था क्योंकि वहाँ तो जाति-वर्ण, ऊँच-नीच जन्म-कर्म का कोई विचार ही नहीं था। परन्तु ब्राह्मण धर्म झटपट इन्हें क्षत्रिय वर्ण में शामिल कर लेता है। यहाँ उनके जन्म-कर्म का कोई विचार नहीं किया जाता। तर्क यह है कि विदेशी जातियाँ मूलतः क्षत्रिय ही थी जो क्रियालोप एवं ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हुई।⁹ परन्तु पुनश्च सम्पर्क में आने के कारण उनका क्षत्रियत्व वापस लौटा हुआ माना गया एवं उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिया गया। पतंजलि ने भी शकों को विदेशी होने के बाद भी अस्पृश्य नहीं माना है।¹⁰ महाभारत के अनुशासन पर्व में वर्णित है कि युद्ध कर्म करना विदेशी जातियों का मूल कर्म था। अतः उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिया गया।¹¹ यहाँ एक स्वाभाविक जिज्ञासा सप्रश्न होती है कि यदि युद्ध कर्म ही क्षत्रियत्व का आधार था तो महान् धनुर्धारी कर्ण जीवन पर्यन्त सूत-पूत क्यों और किस आधार पर बना रहा?

विदेशी जातियों के प्रति यह सदाशयी लचीलापन कहीं आन्तरिक चुनौतियों एवं प्रतिरोधों के परिशमन हेतु बाहरी समर्थन की आवश्यकता के तहत तो नहीं था?

जीवन की व्यवस्था के सन्दर्भ में भी हल्की सी प्रतिक्रिया के दर्शन होते हैं। बौद्धों द्वारा श्रमण विचार धारा को पुष्ट किया गया। जैन मत भी इसी विचार धारा का पोषक था।

तत्कालीन समाज में इसका बड़ा असर देखा गया क्योंकि काफी बड़ी आबादी स्त्री-पुरुष श्रमण जीवन की ओर आकर्षित हुई। यह पहले से चले आ रहे ब्राह्मण धर्म की आश्रम व्यवस्था के सिद्धान्तों के प्रतिकूल बैठता था।

बहुत संभव है कि उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप मनु से सुव्यवस्थित गृहस्थ जीवन पर बल दिया हो। उन्होंने प्रतिपादित किया कि गृहस्थ हुए ही मनुष्य धर्म और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का सम्यक् निर्वहन कर सकता है। अतः गृहस्थ आश्रम ही सर्वश्रेष्ठ है।¹² अन्यत्र भी गृहस्थाश्रम की महत्ता के प्रतिपादक साक्ष्य पाये जाते हैं।¹³ संन्यास को पापिष्ठा कहा गया है।¹⁴

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धों के भिक्षु जीवन के प्रति इस युग में एक नकार का भाव स्वतः ही प्रतिक्रिया का रूप लेकर उभरता है। एक तो पहले से ही ब्राह्मण सन्यासियों की अच्छी-खासी जमात थी। उसपर जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं की बाढ़ तो वास्तव में एक बोझ थी। इसी से सन्दर्भित एक अन्य रोचक तथ्य विमर्श हो जाता है कि क्यों तत्कालीन सभी ग्रन्थ चाहे बौद्ध चाहे जैन चाहे ब्राह्मण निरपवाद रूप से दान के सद्गुणों का बखान करते नहीं अघाते।¹⁵ यह परजीवी जमात के पालन पोषण का सुनियोजित अभिमान था, जिसमें आश्चर्य जनक रूप से सभी धर्म सम्प्रदायों में आपसी एका के दर्शन होते हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लिए चयनित काल विशेष में प्राचीन भारतीय इतिहास एवं समाज की आधार शिला वर्ण व्यवस्था के विकास एवं स्वरूप को लेकर भी कुछ प्रश्न उठ खड़े हुए हैं।

प्रो. शर्मा ने अपने वैदुष्य विवेचन में इस व्यवस्था के बारे में जो अभिमत दिया है वह ज्यादा सुसंगत प्रतीत होता है। वे किसनों, कारीगरों भाड़े के मजदूरों

और खेतिहर गुलामों के द्वारा उत्पन्न सामाजिक अधिशेष के उपभोग के निमित्त वर्णव्यवस्था को आविष्कृत हुआ पाते हैं।¹⁶

ऋग्वैदिक, उत्तर वैदिक और वैदिकोत्तर यानी आलोच्य कालावधि की और क्रमिक विकास के क्रम में अर्थव्यवस्था विकसित होती है। निर्वाह की अर्थव्यवस्था जैसे-जैसे अधिशेष और उपभोग की अर्थव्यवस्था की ओर प्रयाण करती है। वर्ण व्यवस्था उतनी ही अनुदार, संकीर्ण और जटिल होती गई। दस्तकारी और कृषि में लौह तकनीक के प्रयोग से किसान भरण-पोषण के अतिरिक्त भी पैदा करने लगा। दस्तकारी में विकास ने किसानों को बेहतर औजार तो उपलब्ध कराए ही, उच्च सामाजिक तबके के लिए भोग-विलास के अवयव भी उपलब्ध कराए। यहीं पर ब्राह्मण विचारकों ने एक सर्वथा नवीन सामाजिक तंत्र की नींव डाली, ताकि आलोच्य कालावधि में आर्थिक प्रगति, विकास एवं विस्तार का फल मजदूरों एवं कृषकों को न मिल कर राजाओं और पुरोहितों को मिले।¹⁷ इस अद्भुत सामाजिक तंत्र, व्यवस्था और संगठन को वर्णव्यवस्था कहा गया। यह जन्मगत आधारों पर लोगों की स्तरीकृत करने का स्वेच्छात्मक प्रयास था,¹⁸ न कि दैवी विधान। यह ऐसी व्यवस्था थी जिसमें मूल उत्पादन कर्ता निम्नतम पायदान पर रहे और अधिशेष के व्यवस्थापक, वितरक एवं उपभोक्ता सामाजिक संगठन के शीर्ष पर विराजमान हुए। वैश्य-शूद्र श्रम पर आधारित इस सामाजिक संरचना में ब्राह्मण और क्षत्रिय किसानों और कारीगरों द्वारा किए गए श्रम एवं धन पर आराम की जिन्दगी जीते थे। चूंकि बौद्ध एवं जैन विचार धाराओं के 'प्रचार-प्रसार' या उस व्यवस्था के पोषकों की भाषा में कहें तो 'उकसावे' के कारण कभी-कभी इस व्यवस्था के गहरे संकट में पड़ जाने की आशंका भी सताती रही होगी।

अतः यह व्यवस्था निर्वाध चलती रहे, इसके लिए पुनर्जन्म सिद्धान्त की व्यूह रचना की गई। गौतम ने यह प्रतिपादन किया है कि 'अनेक जातियों तथा श्रेणियों के लोग, जो सदा अपना कर्तव्य पालन करते हुए जीवन यापन करते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त अपने सत्कर्मों का फल भोगते हैं और अपने पुण्य के अवशिष्ट भाग के प्रताप से ऐसे श्रेष्ठ देशों, जातियों तथा परिवारों में जन्म लेते हैं, जो सौन्दर्य, दीर्घ जीवन, वेदज्ञान, सदाचरण, धन, सुख तथा बुद्धिमत्ता से युक्त होते हैं। जो इसके विपरीत कार्य करते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं और पुनः विभिन्न निम्न स्थितियों में जन्म लेते हैं।'¹⁹

आपस्तम्ब की व्यवस्था कुछ और आगे की है नीची जातियों के लोग यदि अपने विहित कर्तव्यों का पालन करते हैं, निष्ठापूर्वक पालन करते हैं जो अगले जन्मों में उच्च जातियों में जन्म लेते हैं।²⁰ मनु ने व्यवस्था दी है कि वैश्य और शूद्र अपने निर्धारित कर्मों से विच्युत न हो, नहीं तो भारी दुर्व्यवस्था फैल जाएगी।²¹ चूंकि यह उनके पिछले जन्मों का कर्मफल है इसलिए कुड़बुड़ाने का कोई कारण नहीं यदि कारण हो भी तो कोई औचित्य नहीं क्योंकि इस जन्म में अपने-अपने विहित वर्ण कर्मों को निर्लिप्त भाव से करते जाने पर ही अगले जन्मों में उच्चतर वर्णों में जन्म संभव था।

इस प्रकार एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया गया जो जगत् और जीवन में प्रतिवाद की सीमा निर्धारित करती है।²² या यूँ कहें विरोधों की धार को भोथरा बनाती है। यह चालाक दिमाग द्वारा ऊसर भूमि में रुग्ण बीजों की अच्छे उर्वरकों द्वारा खेती है। भावी जीवन में दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था ब्राह्मणवाद की आधारशिला है।²³ एक तो यह मलाई मार लेने की चालाकी

थी, दूसरे जन्म-जन्मांतरों तक उसे सुरक्षित रखने की साजिश भी थी। इसीलिए जैसे-जैसे प्राविधिक शक्तियों के विकास के चलते अर्थव्यवस्था समृद्ध होती गई उसके अधिकाधिक लाभ हड़पने के लिए सामाजिक जकड़बन्दी बढ़ती गई। अधिग्रहण के मामले की लेकर पुरोहितों और राजाओं के मध्य भी वैमनस्य एवं कटुता के दर्शन होते हैं। परन्तु क्योंकि दोनों के हित एक थे अतः वैश्यों-शूद्रों के विरुद्ध एक जुट हो जाने की आपसी समझदारी उनमें विकसित हो गई थी।

कुछ विचार 'विवाह' नामक संगठन के स्वरूप और उसके निहितार्थों को लेकर भी एक अध्येता के रूप में मेरे-मस्तिष्क में उमड़ रहे हैं। विवाह चूँकि परिवार एवं समाज के लिए एक अत्यावश्यक संस्था थी। चार पुरुषार्थों में से एक 'काम' को वैध एवं मर्यादित अभिव्यक्ति की हित साधना के लिए हथियार के रूप में व्यहृत कर लिया लेकिन इस हित साधना में उच्च वर्णों की स्त्रियों को कुछ ज्यादा ही कीमत चुकानी पड़ी। पहले, मातृ सत्ता और स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता का विवाह के प्रकारों पर पड़ने वाला प्रभाव विश्लेष्य हो उठा है। विवाह के आठ प्रकारों में पहले चार जो धर्म्य एवं स्वीकृत प्रकार के हैं, उनमें केवल पिता की सहमति आवश्यक है और वे पहले दोनों वर्णों विशेषकर ब्राह्मणों के लिए विहित है।²⁴ कौटिल्य इनके धर्म्य एवं स्वीकृत होने के कारणों को पीछे पितृसत्तात्मक तत्वों की प्रमुखता बताते हैं²⁵ जो उचित ही प्रतीत होती है क्योंकि अधर्म्य या अस्वीकृत प्रकार जो निम्न वर्णों के लिए विहित थे, उनमें माता एवं पिता दोनों की सहमति आवश्यक थी।²⁶ यह विर्मश का विषय है कि माता की सहमति की आवश्यकता होते ही अन्तिम चार प्रकार अधर्म्य क्यों हो गए।

संदर्भ संकेत

1. वी.आर. अम्बेडकर, द अनटचेबिल्स, 1969, पृ. 1471
2. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारतीय का सामाजिक इतिहास, पृ. 1231
3. सुत्तनिपात, 1.7.21, 3.5.571
4. व्यूलर ने मनुस्मृति का काल ई.पू. 200 से 200 ई. तक के मध्य में माना है। द्र., सेक्रेड बुक्स आफ दि इस्ट 25 प्रस्तावना, जायवसवाल ने इसे शुंगवंश में होने वाली ब्राह्मण प्रतिक्रिया का समकालीन माना है। द्र., मनु एवं याज्ञवल्क्य, पृ. 25-321
5. मनुस्मृति 1.93, उत्तम अंग (मुख) के उत्पन्न होने के कारण, क्षत्रियादि से पहले उत्पन्न होने के कारण, वेदों के धारणकर्ता होने के नाते ब्राह्मण ही सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी है। उत्सामागोद्भा ज्येष्ठ्याद ब्राह्मणश्चैव धारणात् सर्वस्यैवावस्य सर्गस्य धर्मतोः ब्राह्मणः प्रभुः। कई अन्य उल्लेख भी दृष्टव्य हैं, मनुस्मृति 1.95, 1.96, 1.97, 1.98, 1.99 इत्यादि।
6. विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.21, इसमें सुमन्त को उद्घृत करते हुए दुराचारी ब्राह्मण प्राणदण्ड अभिहित किया गया है। बौधायन धर्मसूत्र, 1.10, 18.19 ब्रह्म हत्या गुरुतल्प, सुवर्ण स्तेय, सुरापान करने पर तप्त लोहे से दागकर निर्वासित कर देना चाहिए।
7. शर्मा रामशरण, प्रारम्भिक भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास पृ. 158।
8. उत्संस्करण की नीति द्र. वही, पृ. 158। निम्न संस्कृति के लोगों का उच्चतर संस्कृति में विलयन से सम्बन्धित नीति। महाकाव्य 'रामायण' की नर-वानर मैत्री क्या उत्संस्करण की नीति ही थी? या राम के द्वारा अपने हितों के निमित्त वानरों का उपयोग कर लिया गया और उन्हें अपने समाज में अपनी नियति के साथ छोड़ दिया गया। संभव है कि वानर जाति के प्रति राम की सदाशयता रही हो परन्तु इस मात्र से कुछ ठोस होता है? कितने वानरों को सुसंस्कृत बनाया गया। सामाजिक-राजनैतिक संरचना में कोई पद अथवा आधार दिया गया? समय समाज के अनुरूप अनुकूलित किया गया? इसकी तुलना में कम से कम अशोक ने जरूर कुछ सदाशयी क्रियान्वयन भी किया था। भले ही राजनैतिक आर्थिक हितों के लिए ही

9. मनुस्मृति 10 43-44
“शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रिय जातयः वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च” 110, 43
“पौण्ड्रकाश्चौण्ड्र द्रविणा कम्बोजा यवनाः शकाः
पारदापहल्वाशचीना किराताः दारदाः खशाः, 10.44।
10. पतंजलि महाभाष्य 2.4.10।
11. महाभारत अनुशासन पर्व, 33.21.23।
12. मनुस्मृति, 3.77
यथा वायु सामश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।
13. मनुस्मृति 6.10.1
यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम् तथैवः श्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम् व्यास स्मृतति, 4, 2-2, 13-14 महाभारत शान्ति पर्व, 12.6।
14. जयशंकर मिश्र, पूर्वोक्त पृ. 231।
15. विस्तृत विवरण के लिए दृष्टव्य। रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 159।
16. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ. 51।
17. विस्तृत विवरण के लिए देखें रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 158
अन्यत्र भी, रामशरण शर्मा, शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ. 94-99, 315-316।
18. आर.सी. मजूमदार ऐन्स्येन्ट इण्डिया, पृ. 49।
19. गौतम धर्म सूत्र 5.8.235।
20. आपस्तम्ब धर्म सूत्र, पृ., 102-3
21. मनुस्मृति, 9.418 “वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कारयेत्। तो हिच्युतो स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्स्र
22. ए. स्वीत्जर, इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेन्ट 1956, पृ. 46।
23. जे.टी. व्हीलर, ऐन्स्येण्ड एण्ड हिन्दू इण्डिया 1961, पृ. 46।
24. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ. 74-75।
25. अर्थशास्त्र, शामा शस्त्री संस्करण 1924 111.2 अन्यत्रयी द्र. गौतम 14-15। विष्णु 27-28, नारद 44। आदिपर्व, 67.10
26. अर्थशास्त्र 111.2।
पितृ प्रमाणाश्चत्वारः पूर्व धर्म्याः मातृपितृ प्रमाणाश्चोः।

सिंधु क्षेत्र के बाहर के पशुचारण तथा कृषक समुदाय का भौगोलिक विस्तार

डॉ. उपमा कुमारी राय

एमए, इतिहास

उत्तर-पश्चिम सीमांत

दो खंडों में यह क्षेत्र बंटा हुआ है। पेशावर तथा तक्षशिला के बीच का क्षेत्र, जिसमें पेशावर घाटी तथा पोतवार के पठार सम्मिलित हैं, और स्वात तथा चित्राल के बीच का क्षेत्र। कोटदीजी से संबंधित जानकारी सरायखोला का नवपाषाणिक स्तर देता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि यह सारा क्षेत्र तत्कालीन हड़प्पा से व्यापारिक स्तर पर जुड़ा था। अनेक पुरातात्विक स्थान स्वात-छित्रल क्षेत्र में मिले हैं जो यह दर्शाते हैं कि यहाँ के लोग विभिन्न प्रकार की धातु, पत्थर तथा अन्य चीजों का इस्तेमाल करते थे, जिनमें शंख, मूंगा तथा हाथी दांत संभवतः इस क्षेत्र में सिंधु घाटी से आया था। घनीगई का पत्थरनुमा स्थान जो करीब-करीब 3000 ई.पू. का है, स्वात-छित्रल की आधारशिला के बारे में बताता है।

“आद्य ऐतिहासिक कब्रिस्तान” 2000 ई.पू. का इस क्षेत्र से प्राप्त है। ऐसे कब्रिस्तानों का प्रमाण तथा संबंधित बस्तियों को “गांधार कब्र संस्कृति” के नाम से जाना जाता है और ये कब्रिस्तान नम्यतापूर्ण तथा कलश स्वरूप (फलेक्सड तथा अर्न) दफन से तथा ताम्रपाषाणिक युग से संबंधित हैं। कई स्थानों पर कब्रिस्तानों तथा संबंधित बस्तियों का अध्ययन किया गया है, जिनमें मुख्य हैं—अलीग्राम, बीरकोट घुण्दई, लेबनर, खेराटी, लालबटाई, तिमारगढ़, बालाम्बात, कालको-दीरेय तथा जरीफ करुणा जो चित्रल स्वात, दिर, बनर इत्यादि घाटियों में स्थित हैं।

कश्मीर

तीस से अधिक नवपाषाणिक स्थल कश्मीर में पाये गये हैं, जिनमें से ज्यादा बारामूला, अनंतनाग तथा श्रीनगर खंड क्षेत्रों में पाये गये हैं। इसका इतने बड़े क्षेत्रों में फैला होना इस बात की ओर इंगित करता है कि यहाँ की संस्कृति मैदानी क्षेत्रों में पायी गयी संस्कृतियों से भिन्न नहीं है। गुफकराल में कुंडलीनुमा तांबे की बालों की चिमटी तथा बुर्जहोम में कोटदीजी की तरह गोलाकार बर्तन पर “सिंहनुमा देवी” का चित्रण, कश्मीर और सिंधु सभ्यता के बीच आपसी आदान-प्रदान का प्रमाण है। यह गुफकराल का एकरमिक युग यह बताता है कि इस समय तक छोटे तथा बड़े-बड़े रहने वाले कमरों का निर्माण हो चुका था। छिछला तथा बड़े कमरों का निर्माण पहले के युगों में भी पाया गया है। दो कमरों वाला मकान बाद के युगों में भी मिलता है। चटायीनुमा आधार वाले हाथ से बने हुये भूरे रंग के बर्तन कश्मीर के नवपाषाणिक युग की एक विशेष कृति है। गुफकराल तथा बुर्जहोम में इस प्रकार के बर्तन पाये गये हैं। दो हजार ई.पू. के मध्य तक कश्मीर का नवपाषाणिक युग महापाषाणिक युग में परिवर्तित हो गया था।

लद्दाख तथा अल्मोड़ा

यहाँ से पाये गये स्रोत अनिश्चित हैं, क्योंकि अवशेषों की संख्या कम है तथा उनकी तिथियों में काफी विषमता है। फिर भी इन्हें पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता। ये आंशिक स्तर पर कराकोरम के दोनों भागों के बीच के संबंध को बताते हैं। उत्तर-पश्चिमी सीमांत तथा कश्मीर के बीच संबंध के संदर्भ में हम हिमालय के प्रागैतिहासिक काल का अध्ययन कर सकते हैं। हम लद्दाख की क्यारी में पाये गये हस्त निर्मित लाल बर्तनों की तुलना बुर्जहोम के द्वितीय नवपाषाणिक युग के बर्तनों से कर सकते हैं। चार घर तथा भेड़ बकरी आदि पालतू जानवर तीन क्रमिक स्तरों में पाये गये हैं। 1000 ई.पू. इसकी तिथि है। उसी भौगोलिक संरचना में स्थित शैक (क्यारी से 10 किलोमीटर की दूरी पर) से छठी शताब्दी ई.पू. की एक रेडियो कार्बन तिथि पायी गयी है।

उत्तर-पूर्व राजस्थान

जोधपुरा का बड़ा-सा टीला सहीबी नदी के तट पर मिला है, जो ज्ञानेश्वर-जोधपुरा संस्कृति का पहला साक्ष्य है। जो

तीसरी-चौथी शताब्दी ई.पू. का यह टीला लगता है। निदानकारी बर्तन-पहियों से बना, गुलाबी तथा कृत्थई रंगों से उत्कीर्ण चित्रित तथा अन्य विभिन्न आकारों में-ज्ञानेश्वर में पाया गया है जो दिल्ली-जयपुर रेलवे लाइन के छोटे अरावली पहाड़ों में मिला है। काफी मात्रा में तांबे के औजारों विशेषकर तीरों के ज्ञानेश्वर से मिलने के बाद इस संस्कृति पर ध्यान गया, जो यहाँ पर उत्खनन में पायी गयी थीं।

ज्ञानेश्वर का पुनः खनन पुरातत्वविदों ने किया और वहाँ काफी संख्या में इस तरह के साक्ष्य (करीब 83 की संख्या में) पाये गये जो उत्तर-पूर्व राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों-सिकर, जयपुर तथा चुरू जिलों में स्थित है। तांबे के खनन तथा संबंधित कार्यों के कारण उत्तर पूर्व राजस्थान का महत्व है। ज्ञानेश्वर, जो 3 या 4 एकड़ से बड़ा क्षेत्र नहीं है, वहाँ से लगभग 2000 तांबा निर्मित साक्ष्य मिले हैं और जब ऐसे-ऐसे 83 घटनास्थल हों तो वहाँ पर तांबे के इस्तेमाल का अनुमान लगाया जा सकता है।

दक्षिण-पूर्व राजस्थान

पुरातत्वविदों ने दक्षिण पूर्व राजस्थान के तीन ताम्रपाषाणयुगीन क्षेत्रों-अहर, गिलुन्द तथा बलथल-का अध्ययन किया है, जो वहाँ की बनास, बेरॉच तथा उसकी सहयोगी नदियों द्वारा जल प्राप्त करते थे। नब्बे से अधिक अहर या बनास संस्कृति के स्थलों की संख्या है, जो उदयपुर, चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा अजमेर, जयपुर तथा टोंक जिलों में और मध्यप्रदेश के मंदसौर जिले में पायी गयी हैं। समान रूप से संस्कृतियों की गति दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व

गिलुन्द राजस्थान की ओर तथा बेरॉच एवं बनास की ओर उन्मुख थी। नदियों के किनारे अहर स्थल स्थित थे, जिनका आकार एक-दो एकड़ से लेकर दस एकड़ तक का था और दो भिन्न स्थलों के बीच की दूरी पांच से दस मील की थी।

अहर संस्कृति की बड़ी विशेषता है-यहाँ के लोग तांबे की धातु-विद्या से परिचित थे। अहर में उपस्थित खनिज उरहित मनका, लैपिस-लाजुली तथा रंगपुर जैसे आकर्षक लाल बर्तन इस बात को दर्शाते हैं कि इनका संबंध गुजरात स्थित हड़प्पा संस्कृति से रहा होगा।

इस संस्कृति का विस्तार, मालवा की तरफ और दक्कन तक (जैसे अहर में महाराष्ट्र का जोरवे बर्तन) भी था। बहुत पहले अहर और गिलुन्द की संस्कृतियों का उत्खनन (अहर 1953-54 और गिलुन्द 1959-60) हुआ था, किंतु हाल में उत्खनित बलथल (1994-98) ज्यादा साक्ष्य प्रस्तुत करता है। इन स्थलों का आरंभिक इतिहास आद्य ऐतिहासिक काल द्वारा एक लंबे अंतराल के बाद भरा गया। बलथल के आद्य ऐतिहासिक कालक्रम ने अहर संस्कृति को समझने में एक नया आयाम दिया।

बलथल में आद्य ऐतिहासिक काल का प्रारंभ चौथी शताब्दी ई.पू. के लगभग अंत तक हुआ था। धातु से बने बर्तनों पर धातु विद्या का ज्ञान तथा इसका विशेष प्रयोग किया गया, जो प्रौढ़ हड़प्पा सभ्यता के विकास का एक उदाहरण है, इससे राजस्थान की अपनी अलग पहचान बनी है। यह दर्शाता है कि आद्य ऐतिहासिक काल में अरावली क्षेत्र की जगह महत्वपूर्ण है।

मालवा

मुख्यतया मध्य प्रदेश का आद्य ऐतिहासिक अभिलेख मालवा क्षेत्र से प्रभावित है, जो एक विस्तृत उपजाऊ पठार है तथा यह चंबल, काली सिंध, क्षिप्रा, नर्मदा, बेतवा आदि नदियों से सिंचित है। उत्तर से दक्कन को जाने वाला तथा पश्चिमी भारत को जाने वाला रास्ता इस क्षेत्र से होकर ही जाता है। इस क्षेत्र में ताम्रपाषाणिक अवशेष भी मिले हैं, लेकिन उनके वितरण और स्थान-स्थिति का कोई विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ है।

पुरातात्विक खुदायी कई स्थलों पर हुयी है, किंतु विस्तृत ब्यूरा सिर्फ नागदा, कायथा तथा नावदातोली का ही उपलब्ध है। नावदातोली इनमें अनुक्रमिका प्रदान करता है। 100 ताम्रपाषाणिक स्थल मालवा में पाये गये हैं। साक्ष्य बतलाते हैं कि नावदातोली एक नाभिकीय बस्ती थी। ईरान की बस्तियों से अलग ही चित्र उभरता है। ईरान के तीन तरफ बीना नदी और चौथी तरफ परकोटा तथा खड्ड था।

दो अवस्थायें परकोटे के निर्माण की थीं, जो ताम्रपाषाणिक युग के मध्य में बनाया गया था। मालवा के किसी भी अन्य क्षेत्रों से परकोटे के साक्ष्य नहीं मिले हैं। सबसे महत्वपूर्ण प्रकार के मृदभांड हैं-लाल पर काले रंग का मृदभांड, जो अन्य प्रकार के काले तथा लाल मृदभांड से मिलते थे। इस काल में प्रायः ताम्रपाषाणिक फलक का प्रयोग होता था। तांबे के प्रयोग का साक्ष्य कम मिला है, यद्यपि नवादातोली में तांबे की बनी चौड़ी कुल्हाड़ी मिली है। विभिन्न चीजों से बने हुये मनका शिल्प पाये

गये हैं। कई तरह की फसल भी नवादातोली में पैदा की जाती थी। मालवा संस्कृति नवादातोली की तरह ही दी गयी तिथि यानी दूसरी शताब्दी ई.पू. के मध्य में पड़ती है।

एक तरफ राजस्थान से मालवा संस्कृति जुड़ी हुयी है तो दूसरी तरफ दक्कन से, लेकिन सबसे विशेष बात मालवा में प्रौढ़ हड़प्पा का पाया जाना है। मालवा की ताम्रपाषाणिक संस्कृति में अग्निकक्ष तथा दंगवाड़ा में मंदिर पाये गये हैं, जिसमें सांड की पूजा तथा लिंग पूजा के भी साक्ष्य मिलते हैं।

महाराष्ट्र

ताम्रपाषाणिक युग से संबंधित महाराष्ट्र में पहला पुरातात्विक खनन जोरवे में (नासिक के नजदीक) हुआ। उसके बाद यह काम नेवासा में शुरू किया गया। दायमाबाद तथा इनामगांव के बारे में हाल ही में प्राप्त साक्ष्य विस्तृत सूचना नहीं देते। ताप्ति और गोदावरी नदियों के बीच में प्रारंभिक बस्तियों को प्रतिनिधित्व करने वाली सावल्दा संस्कृति स्थित है। संभवतः तीसरी शताब्दी के अंत तथा दूसरी शताब्दी ई.पू. के प्रारंभ में इस संस्कृति का उद्गम हुआ था। सावल्दा संस्कृति के बारे में कैथे क्षेत्र में हुये शोधकार्य के आधार पर यह कहा जाता है कि यह संस्कृति अर्द्धघुमक्कड़ समुदायवालों की थी। संभवतः यह व्याख्या उन स्थलों पर पाये गये घरों तथा वहाँ के स्थानीय अर्द्धघुमक्कड़ धांगर समुदाय की तुलना के आधार पर की गयी है।

सावल्दा संस्कृति के द्वारा दायमाबाद में लगभग तीन हेक्टेअर जमीन ली गयी है, लेकिन इसका अर्द्धखानाबदोशी वाला चित्रण इस बात को दर्शाता है कि यह कैथे से मिली-जुली हुयी है। आयताकार मिट्टी के घर, ताम्रपाषाणिक फलक

की फैक्ट्री, हड्डी तथा पत्थर की विविध वस्तुएँ कुछ संख्या में मनका शिल्प तथा अनेक तरीके के अनाज यहाँ पर मिले हैं। सावल्दा संस्कृति के क्षेत्र में महाराष्ट्र में पाये जाने वाले प्रौढ़ हड़प्पा के अवशेष हैं। दायमाबाद में सिंधु सभ्यता की लिपि (दो मृणमूर्ति, बटन के आकार की मोहर तथा चार बर्तन के टुकड़े, सब पर सिंधु लिपि है) पायी गयी है, उससे इसकी पहचान की धारणा विवादास्पद हो गयी है। करीब-करीब-20 हेक्टेअर में दायमाबाद की द्वितीय व्यवस्था फैली हुयी थी। कच्ची ईंटों से बनी एक कब्र 4:2:1 में पायी गयी है, जो रिहायशी इलाका था और यह कब्र हड़प्पा में निर्धारित मानदंडों से मिलती-जुलती थी।

दायमाबाद के सांस्कृतिक स्तरों पर पाये जाने वाले सामान-फलकों की समृद्ध फैक्ट्री, तांबे के बने सामान, मनकाशिल्प तथा पत्थरों के विविध सामान हैं। दायमाबाद में इस काल में महत्वपूर्ण वस्तु तांबे के बनी हुयी भारी तथा ठोस चीज का पाया जाना है, जिनमें 4 आकृतियाँ हैं (जिनका कुल वजन 60 कि.ग्रा. है) इसमें एक मनुष्य को रथ चलाते हुये दिखाया है, एक भैंस चार पहियों वाले प्लेटफार्म पर दिखायी गयी है जो चार ठोस पहियों से जुड़ी हुयी हैं, एक हाथी उस प्लेटफार्म से जुड़ा हुआ है, एक गैंडा भी चारों पहियों के कक्षों से जुड़ा हुआ दिखाया गया है। “दायमाबाद संस्कृति” के नाम से दायमाबाद की तीसरी अवस्था को जाना जाता है, जो करीब 20 हेक्टेअर के क्षेत्र में फैली हुयी थी। इसकी विशेषता काले पॉलिशकृत लाल मृदभांड हैं। दायमाबाद की चौथी स्थिति को मालवा सांस्कृतिक अवस्था समाहित करती है। अनेक साक्ष्य इस काल से संबंधित मिले हैं।

धार्मिक भावनाकृति इनमें से कुछ

को माना गया है, क्योंकि उनमें अग्नि कक्ष भी मिले हैं। इसी तरह महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में ताम्रपाषाणिक बस्तियों के अवशेष मिले हैं। जोरवे अवस्था से संबंधित साक्ष्यों का अध्ययन किया गया है। दायमाबाद में बस्तियों का आकार बढ़कर 30 हेक्टेअर तक पाया गया है। लगभग 200 बस्तियों का ‘वर्णन’ जोरवे में मिला है, जिसमें से अधिकांश गांव 1 से 3 हेक्टेअर तक के थे। जोरवे संस्कृति की प्रारंभिक अवस्था में सिंचाई सुविधा के साक्ष्य इनामगांव में मिले हैं तथा मुख्य आबादी वाले क्षेत्र के पश्चिम में एक बांध भी मिला है। हस्तचालित हल तथा बीज बोने वाली मशीन प्रयोग में लायी जाती थी। महाराष्ट्र की इस जोरवे संस्कृति में मृदभांड, सोने के गहने, तांबे, मिट्टी की बनी मूर्तियाँ, पशुओं तथा आग की पूजा इत्यादि के संकेत जो ताम्रपाषाणिक युग के गांव की जीवन शैली से मिलता है, वे सभी पाये गये हैं। लगभग 1000 ई.पू. या उसके बाद का इस संस्कृति का अंत है। जोरवे काल के साथ महाराष्ट्र ज्यादा दक्षिण मुखी हो गया, जिसके अवशेष आंध्रप्रदेश तथा दक्षिणी मैसूर तक मिलते हैं।

दक्षिणी भारत

“दक्षिणी नवपाषाणिक संस्कृति” के नाम से यह क्षेत्र जाना जाता है जो भौगोलिक विचित्रता के साथ तीन ‘राज्यों’ के मिलने से बना है। कर्नाटक का पठारी भाग इसमें समाहित है जो तामिलनाडु के उत्तर पश्चिमी भाग तथा आंध्र प्रदेश के तेलंगना और रायससीमा के बीच का दोआब है। “दक्षिणी नवपाषाणिक संस्कृति” यहाँ अध्ययन का मुख्य केंद्र है, क्योंकि यहाँ ऐतिहासिक अनुसंधान की एक लंबी परंपरा रही है और चर्चा का मुख्य विषय नवपाषाणिक युग का राख भरा टीला तथा उनकी

बस्तियों की भौगोलिक स्थिति रही है। दो दोआबों में इस क्षेत्र का एक बड़ा हिस्सा आता है—पहला रायचूर का दोआब जो कृष्णा और तुंगभद्रा नदी के बीच पड़ता है, दूसरा, सोरापुर का दोआब भीमा तथा कृष्णा नदी के बीच पड़ता है। तुंगभद्रा नदी के पूर्व में भी कुछ स्थल पाये गये हैं। इस क्षेत्र में नवपाषाणिक स्थल काफी हैं, अकेले तेकलाकोटा में उन्नीस नवपाषाणिक स्थल पाये गये हैं। इस क्षेत्र में ग्रेनाइट वाली बड़ी पहाड़ी तथा नदियों का किनारा संभवतः नवपाषाणिक लोगों के विकास के लिए एक बड़ा ही उपयुक्त स्थल था।

पुरातात्विक खनन निम्नलिखित मुख्य स्थलों का किया गया है—ब्राह्मगिरी, मास्की, पिकलीहल, उत्तनूर, कुपगल, हल्लुर, नागार्जुनकोंडा, वीरापुरम, रामापुरम, हेमीगे, संगनक्कालू, पल्लाओ, पैय्यमपल्ली, तेकलाकोटा, कोदेकल, बनहल्ली इत्यादि। दक्षिणी नवपाषाणिक संस्कृति का एक नया स्थल अभी हाल ही में वतगल है, जो पिकलीहल तथा रायचूर के मास्की क्षेत्र से काफी दूर नहीं है। वतगल यदि इस संस्कृति पर कुछ प्रकाश डाल सका तो यह निश्चित ही एक महत्वपूर्ण उपलब्धि होगी। सोरापुर दोआब में बुदीहाल ने नवपाषाणिक संस्कृति के बारे में कुछ सूचना दी है। ताम्रपाषाणिक संस्कृति आंध्र प्रदेश में काफी विस्तृत स्तर पर पायी गयी है। कुरनूल क्षेत्र में बहुत सारे स्थल मिले हैं। सिगनापल्ली एक ऐसा सांस्कृतिक क्षेत्र है, जहाँ से काफी मात्रा में रंगीन बर्तन, पत्थरों के बने हुये फलक आदि पाये गये हैं। संभवतः आंध्र प्रदेश नवपाषाणिक संस्कृति तमिलनाडु तथा कर्नाटक की संस्कृतियों के अनुरूप है और यह महाराष्ट्र से ज्यादा प्रभावित रही है, क्योंकि जोरवे के मृदभांड इस क्षेत्र में पाये गये हैं। मृतकों के दफनाने के विभिन्न तरीके महाराष्ट्र के विदर्भ

क्षेत्र तथा दक्षिणी पठार के मध्य क्षेत्र में पाये गये हैं।

ऐतिहासिक काल में भी दफनाने की पद्धति काफी विस्तृत क्षेत्र में अपनायी जाती रही है और इसमें कई तरह की मेगालिथिक आकृतियाँ जैसे—दीलानुमा वृत्त, महापाषाण तुंब, इत्यादि भी विभिन्न तरीकों से प्रयोग में लायी जाती रही है। ऐसा माना जाता था कि मेगालिथ इस क्षेत्र का एक स्वतंत्र संस्कृति क्षेत्र है। अब यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यह सिर्फ इसके दफनाने की प्रक्रिया के कारण से है, जो नवपाषाणिक-ताम्रपाषाणिक संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में उत्पन्न होकर एक बड़े क्षेत्र में फैली तथा काफी लंबे समय तक इस संस्कृति की एक अंग थी। इसे लोहे से सामान्यतः जोड़ते हैं, किंतु इस संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता है कि यह लौह युग के पहले की संस्कृति होगी। लौहावस्था संस्कृति की प्रथम अवस्था से हल्लुर तथा कुमारांहल्ली जैसे स्थल जुड़े मालूम पड़ते हैं, जो लगभग 1300 ई.पू. का है।

पूर्वी भारत

बंगाल, उड़ीसा तथा आसाम तक पूर्वी भारत फैला हुआ है और भू-आकृति विज्ञान के मुताबिक एक जैसा क्षेत्र नहीं है। उपजाऊ घाटियों तथा डेल्टा का क्षेत्र छोड़कर नवपाषाणिक अवशेष इस पूरे क्षेत्र में पाये गये हैं। इसका संग्रह इतना ज्यादा है कि इसे विभिन्न समूहों तथा उप-समूहों में बांटना पड़ा है। यहाँ की संस्कृति दो नवपाषाणिक सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभाजित है। पहला भाग बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा असम के कुछ क्षेत्रों के मिलने से बना है जो बाद में अन्य कई उप-क्षेत्रों में विभाजित हुआ है। अन्य ऐसा कोई भी साक्ष्य नहीं मिला है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि इतने बड़े क्षेत्र में कृषि

होती थी या नहीं। हस्तनिर्मित बर्तन के साथ-साथ पत्थरों की कुछ कुल्हाड़ी तथा बलुआ पत्थर से बना फलक उड़ीसा के कुचाय क्षेत्र में पाया गया है। उड़ीसा के ही अन्य क्षेत्र गोलबई शासन में नवपाषाणिक अवशेष जैसे हड्डियों से बने औजार तथा चाक निर्मित बर्तन काफी संख्या में पाये गये हैं। संभवतः द्वितीय शताब्दी ई.पू. का यह सारा संकलन है।

संदर्भ

- A.K. Sharma: *The Departed Harappans of Kalibangan*, Sundeep, Delhi, 1999.
- Agrawal, R.C.: *Aravalli, the Major Source of Copper for the Indus Civilization and Indus Related Cultures*, New Delhi, Books and Books, 1984.
- Allchin, Bridget: *Origins of a Civilization: The Prehistory and Early Archaeology of South Asia*, New York, Viking, 1997.
- Aronovsky, Ilona; Gopinath, Sujata: *The Indus Valley*, Chicago, Heinemann, 2005.
- Ashvini Agrawal: *In Search of Vedic-Harappan Relationship*, New Delhi, Aryan Books International, 1986.
- B.B. Lal: *The Earliest Civilization of South Asia*, Aryan, Delhi, 1997.
- Chakrabarti, D. K.: *Indus Civilization Sites in India: New Discoveries*, Mumbai, Marg Publications, 2004.
- D P Agrawal: *Indus Civilization : An Interdisciplinary Perspective*, Aryan, Delhi, 2007.
- Danion, Michel & Nahar, Sujata: *The Invasion That Never Was*, New Delhi, The Mother's Institute of Research & Mysore, 2000.
- David, F.: *The Myth of the Aryan Invasion of India*, New Delhi, Voice of India, 1994.
- Dilip K. Chakrabarti: *Indus Civilization Sites in India : New Discoveries*, Mumbai, Marg Pub., 2004
- Durrani, F. A.: *Frontiers of Indus Civilisation*, Delhi, Books & Books, 1984.

पूर्व अधीतकालीन प्रावस्था के आर्थिक आधार

डॉ. संजीव कुमार

शोधप्रज्ञ, बीआरए बिहार विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर

इस अध्याय को भी दो भागों में व्यवस्थित कर इसके विषयवस्तु को विश्लेषित किया गया है। प्रथम उपभाग, ऋग्वैदिक अर्थ संरचना के अनुशीलन का एक प्रयास है तो द्वितीय उपभाग उत्तरवैदिक अर्थ संयोजन के विश्लेषण का।

वस्तुतः ऋग्वैदिक अर्थ संरचना को जानने के क्रम में इसकी पृष्ठभूमि से थोड़ा बहुत परिचय आवश्यक एवं उपयोगी प्रतीत होता है। भारत का आर्थिक इतिहास कांस्य प्रौद्योगिकी की देन कहा जा सकता है। शहरी हड़प्पा संस्कृति के विकसित नगर केंद्रों के चतुर्दिक हड़प्पाई मृदभाण्डों का विस्तृत वितरण मजबूत कृषि आधार का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। 2500 ई.पू. से लेकर 1000 ई.पू. तक कोई संज्ञात्मक मौलिक परिवर्तन नहीं दिखाई देता, न कहीं प्रौद्योगिकीय प्रगति, न कहीं किसी नवीन कृषि क्षेत्रों की खोज। ऐसे में ग्रामीण आधार शहरी ढांचे को कितनी देर तक सम्पोषित करता रहता और कर भी नहीं सका।

ऋग्वैदिक समाज तो अपनी खनाबदोश आदतों, पशुपालक प्रवृत्ति एवं सतत् संघर्षशीलता के कारण उत्पाद, विनिमय वितरण एवं उपभोग न तो निश्चित कर सकता था और न ही कर सका। व्यापक युद्धरतता में व्यापार के लिए अपेक्षित अधिशेष के उत्पादन के लिए शायद समय ही नहीं था। वस्तुतः ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था निर्वाह की अर्थव्यवस्था प्रतीत होती है। जितनी सरल उतनी ही रोचक। ऋग्वैदिक लोगों के बारे में यदि उनकी युद्धरतता एक सच है तो उनकी अर्थ संरचना में पशुचारण का महत्व एक दूसरा सच है। कृषि प्रचलित तो थी परन्तु पर्याप्त प्रसरित नहीं। अर्थव्यवस्था की

नींव तो पशुधन ही था। 'गोत्र' पुंगव, गोचर जैसे शब्द शायद इसकी सबसे सही व्याख्या करते हैं।¹ ऋग्वेद में वर्णित पशुओं में 'गाय' का सर्वाधिक महत्व है।² एक उल्लेख तो ऐसा भी है जिसमें कहा गया है कि जिस घर में गायें नहीं हो उस घर में समृद्धि नहीं आ सकती।³ गाय सूचक 'गो' शब्द अपने विविध रूपों में 176 बार वंश मण्डलों में उल्लिखित है। 'गविष्टि' अर्थात् गायों की गवेषणा को युद्ध का पर्याय ही समझा जाता था।⁴ गोषु⁵, गव्यत, गव्यु⁶ तथा गवेषण इत्यादि सभी शब्द युद्ध के लिए प्रयुक्त होते थे और 'गो' से ही व्युत्पन्न थे। 'रयि' यानी-'सम्पत्ति' की गणना में मुख्यतः गाय बैल ही थे।⁷ शायद इसीलिए धनी लोगों को 'गोमत्' कहा गया है।⁸ पुत्री के लिए 'दुहितृ' अर्थात् दुहने वाली शब्द के प्रयोग से गाय के महत्व का परिवार के सन्दर्भों में, भी आकलन किया जा सकता है। असल में वे गाय और उसकी बहुविधा उपयोगिता से इतने अभिभूत थे कि 'भैंस' को भी 'गो' शब्द से ही व्युत्पन्न संज्ञाओं से अभिहित किया जैसे 'गौरी'⁹ और 'गवल'¹⁰। गायों के स्वामित्व के निश्चित दिग्दर्शन हेतु उनके कानों पर चिन्हांकन किया जाता था यह सम्भवतः इसीलिए किया जाता था कि गायों की चोरी हो जाने की आशंका बनी रहती होगी।¹¹ 'गविष्टि' को इन अर्थों में भी देखा जाना चाहिए। गाय के चमड़े से बने विविध पात्रों में सोम, रस, जल एवं घी इत्यादि रखा जाता रहा होगा।¹² 'बैलों' की भी तत्कालीन अर्थव्यवस्था में बड़ी उपादेयता थी। यह प्रमुख भारवाही था एवं खेती-बारी में हल चलाने के कारण और भी उपयोगी था। यज्ञों में इसका मांस भी अज्याहुतियों में शामिल रहता था। सम्भवतः यह इन्द्र को विशेष प्रिय था।¹³ पालतू पशुओं में घोड़ा सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। कुछ तो अपनी शक्ति एवं गति के लिहाज से, कुछ एक प्रमुख भारवाही¹⁴ होने के नाते और कुछ हलों को खींचने के लिए¹⁵ परन्तु सर्वाधिक इसलिए क्योंकि ये ही आर्यों को रथारूढ़ करते थे। वस्तुतः अपने पूर्ववर्तियों पर आर्यों को जो निर्णायक बढ़त हासिल थी वह घोड़ों के कारण थी। इसी के चलते उनकी गतिशीलता पहले से पांच गुना बढ़ी हुई थी।¹⁶ रथों ने उन्हें दुर्जेय बना दिया था और घुड़सवारी ने बेहतर आवागमन का एक नया विकल्प खोल दिया था।

भेड़, बकरी¹⁷ और गधे¹⁸ भी पालतू जानवरों में शामिल थे। गधा भारवाही था तो भेड़ एवं बकरियाँ भोज्य पदार्थों के रूप में तो उपयोगी थी ही, इनसे वस्त्र भी प्राप्त किया जा

सकता था। गंधार की भेड़ अपनी ऊनों के लिए बड़ी शोहरत रखती थी।¹⁹ भैंसें²⁰ भी अपनी दूध, जो कि आर्यों के भोजन में बड़ा महत्व रखता था, के कारण काफी संख्या में पालतू बनाई गयी थीं। ऊँट एक अन्य लोकप्रिय पालतू पशु प्रतीत होता है।²¹ एक जगह कुत्तों की चर्चा है जो चौकीदारी, रात में पहरेदारी और पशुओं की रक्षा आदि करते थे।²² बकरों के द्वारा एक छोटी गाड़ी खींचने का उल्लेख बड़ा ही रोचक बन पड़ा है।²³

हाथी के बारे में ऐसा अनुमित होता है कि तत्कालीन जीवन में अपेक्षाकृत कम परिचित पशु था।²⁴ क्योंकि एक तो इसके लिए शब्द बहुप्रयुक्त नहीं है, केवल दो स्थानों पर और वह भी 'हस्तिमृग' का प्रयोग। परन्तु हाथी के लिए 'इम' तथा 'वारण्य' शब्दों का भी प्रयोग हुआ है और 'अंकुश' द्वारा उसे नियंत्रित किये जाने का भी वर्णन होता है।²⁵ ऋग्वेद के मूल भागों में सामूहिक पशुचारण के कई उल्लेख पाये जाते हैं।²⁶ जिसमें समान वितरण के भी साक्ष्य दृष्टिगोचर होते हैं तथा इसमें देवता भी हिस्सा लेते थे। देवताओं द्वारा भी साथ बैठकर पशुधन के अपने हिस्सों का बंटवारा किये जाने को विश्वसनीयता इसलिए भी मिल जाती है कि एक जगह देवताओं को भी गायों से उत्पन्न बताया गया है।²⁷ असल में यायावरीय जीवन में अचल सम्पत्ति से अधिक चल सम्पत्ति ही आकर्षित करे तो कोई आश्चर्य नहीं। पशुधन के प्रति आर्यों के आकर्षण का यह भी एक कारण समझ में आता है।

'आर्य'²⁸ शब्द 'अर्' धातु से निष्पन्न हुआ है और अर् का अर्थ कृषि करना होता है, परन्तु अजीब विरोधाभास है

कि उन्हीं के आदि ग्रन्थ के मूल भागों में कृषि कर्म नगण्य प्रतीत होता है। कृषि के महत्ता को सन्दर्भित करने वाले मात्र तीन शब्द पाये गये हैं। 'उर्दर', धान्य एवं वपन्ति²⁹ ऋग्वेद के कुल 10,462 श्लोकों में से मात्र 24 ही कृषि से सम्बन्धित कोई वर्णन दे पाते हैं।

'कृष' जिसका अर्थ कृषि करना, जोतना लगाया गया है ऋग्वेद के वंश मण्डलों में दुर्लभ है। 'कृष्टि' शब्द पूरे 33 बार व्यवहृत हुआ है परन्तु जन के अर्थ में जैसे पंचकृष्ट्यः अर्थात् पाँचजन।³⁰ पुनश्च भाषायी साक्ष्यों को आधार बनाकर प्रो. शर्मा 'कृष्टि' को कृषि कर्म से सम्बद्ध होने की धारणा को अपमान्य करते हैं।³¹

इसी प्रकार ऋग्वेद में 'चर्षणि' शब्द के बारे में यह स्थापना कि यह 'कृष' से व्युत्पन्न है, तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती है।³² ऋग्वेद के 'पंचचर्षयणः' का तात्पर्य अगर पाँच भ्रमकारी जनों से लगाया जाय³³ तो 'चर्षणि' को 'चर' से निष्पन्न मानना ज्यादा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। 'चर' का अर्थ चलना या भ्रमण करना होता है।³⁴ 'हल' शब्द ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं है। हाँ इसके बोधक शब्द 'लाङ्गल' तथा सीर³⁵ प्राचीनतम अंशों में जरूर आये हैं। हल के फाल³⁶ एवं तद्निर्मित रेखाओं सीता³⁷ तथा सूनु की चर्चा भी ऋग्वेद में को गयी है। हलों में छः आठ या बारह तक की संख्या में बैल जोड़े जाते थे।³⁸ जुते हुए खेत क्षेत्र³⁹ तथा उपजाऊ भूमि को उर्वरा⁴⁰ कहा जाता था।

कुदाल (खनित्र)⁴¹ दारांत (दात्र⁴² व सूणी⁴³) तथा कुल्हाणी इत्यदि कृषि कर्म के कुछ सहायक औजारों के नाम हैं। कटाई के बाद गट्ठर बनाने की प्रक्रिया को 'पर्श'⁴⁴ के नाम से जाना

जाता था। तदुपरांत उस खलिहान (खल) में इकट्ठा करके मड़नी की प्रक्रिया शुरू की जाती।⁴⁵ 'धान्यकृत' जो ओसाई का कार्य करता था, उसकी संज्ञा थी।⁴⁷ माप-तौल का पात्र 'उर्दर' कहा जाता था।⁴⁸

साधारणतया कृषक वर्ग वर्षा पर ही निर्भर रहा करता था। वर्षा के लिए कई जगहों पर प्रार्थनायें किये जाने की बात⁴⁹, इसे और भी स्पष्ट करती है। परन्तु खनित्रभाः आपः⁵⁰ की अभिव्यंजना कृत्रिम सिंचाई के प्रयासों का एक तरह से उद्घोष की है, कुएं का जल सिंचाई का प्रमुख साधन था।⁵¹ कुएं (अवट) से सिंचाई का पानी खींचने के लिए चरष (कोष) वरत और गरारी (अश्मचक्र) का प्रयोग किया जाता था⁵² ऋग्वेद में कुल्याओं (नहरों) का भी जिक्र आता है।

खाद्यान्नों में 'यव' और धान्य का उल्लेख प्रायः आता है।⁵⁴ यह उनके द्वारा उत्पन्न प्रमुख अनाज जो था। यह या तो विभिन्न प्रकार के अनाजों का सामान्य नाम था या फिर बहुत सम्भव है बाद के कालों में प्रयुक्त 'जौ' का ही सूचक हो, परन्तु ऋग्वेद के कुल 15 उल्लेखों में से मात्र तीन ही मूल अंशों में पाया जाता है।

'धान्य' धान शब्द का उल्लेख कुछ मूल अंशों में भी पाया गया है।⁵⁵ परन्तु यह इतना सामान्य, अस्पष्ट एवं व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है कि किसी अन्न विशेष से इसका समीकरण थोड़ा कठिन जान पड़ता है। चावल का ऋग्वेद में सम्भवतः कोई उल्लेख नहीं है।⁵⁶ खेती को नुकसान पहुँचाने वाले तत्वों के प्रति भी ऋग्वैदिक लोग सचेत थे, अतिवृष्टि एवं अनावृष्टि के खतरों के प्रति लोग सचेत थे। अन्न के शत्रुओं के रूप में कीड़ों, चिड़ियों एवं टिड्डियों आदि का

उल्लेख है।⁵⁷ फसलों की सही सलामत प्राप्ति के लिए 'सीता' की स्तुति भी की गयी है।⁵⁸

ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था में कृषि कर्म के महत्व के विश्लेषण से एक तथ्य उभरकर सामने आता है कि कम से कम प्रारम्भिक चरणों में पशुपालन को कृषि पर बढ़त हासिल थी। इसकी पुष्टि में एक अत्यंत रोचक निष्कर्षण, कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था की प्रवृत्ति का लेकर, प्रस्तुत किया जा सकता है। ऋग्वैदिक देवमण्डल में देवताओं की अपेक्षा देवियों की स्थिति हीनतर थी जो कृषि प्रधान अर्थ व्यवस्था के संरचनागत सिद्धान्तों के प्रतिकूल बैठती है। इस काल के उत्तरार्द्ध में कृषि ने अपना क्षेत्र विस्तार किया होगा और प्रतिष्ठा हासिल की होगी, क्योंकि बहुत सम्भव है कृषि भी मनुष्यों की समृद्धि में सहायक हो सकती है, इसका ज्ञान हो गया होगा। एक स्थान पर अपाला को अपने पिता की खेती की समृद्धि के लिए प्रार्थनारत दिखाया गया है।⁵⁹ अन्यत्र, अपना सर्वस्व हार चुके जुआरी से कृषि कर्म अपनाने को कहा जाता है जिससे उसे पत्नी, धन और पशु की पुनः प्राप्ति हो सके।⁶⁰ बहुत सम्भव है कि कृषि का व्यापक प्रचार-प्रसार अनार्यों के सम्पर्क के कारण हुआ हो। शायद इसी कारण ऋग्वैदिक आर्य इसे विजित लोगों का कर्म कहा करते थे।⁶¹

ऋग्वेद में वाणिज्य एवं व्यापार के विस्तृत सिलसिले का पता चलता है यह दूरस्थ प्रदेशों एवं आर्यतर जन-जातियों से होता था या अन्तर्वर्ती प्रदेशों में भी इसके बारे में कुछ भी निश्चयात्मक साक्ष्य नहीं मिलता।

ऋग्वेद में व्यापारी के लिए 'वणिक' शब्द व्यवहृत होता है⁶² और धनार्जन हेतु परदेश गमन की सूचना⁶³ को यदि

समीकृत करें तो एक तो व्यापार कर्म की निश्चयात्मक पुष्टि होती है और दूसरी, दूरस्थ प्रदेशों से व्यापार भी साबित होता है। वस्तु विनिमय ही क्रय-विक्रय में प्रचलित प्रणाली थी परन्तु 'गाय' को हम मूल्य की एक इकाई के रूप में व्यवहृत पाते हैं⁶⁴। निष्क नामक एक आभूषण भी मूल्य की एक निश्चित इकाई बनता जा रहा था क्योंकि सौ अश्वों के साथ सौ निष्कों की प्राप्ति⁶⁵ के सन्दर्भ में सौ हारों का व्यावहारिक औचित्य नहीं जान पड़ता। ऋण का प्रचलन हो गया था⁶⁶ एक जगह आठवें या सोलहवें भाग को ब्याज या मूल किसी भी रूप में लौटाने का वर्णन है।⁶⁷

ऋग्वैदिक आर्यों के सामुद्रिक व्यापार के बारे में बड़ा मत वैभिन्य है। कीथ महोदय ऋग्वैदिक आर्यों के समुद्र संतरण की किसी भी सम्भावना से इन्कार करते हैं⁶⁸ तो जिमर लैसेन, मैक्समूलर तथा वैदिक इण्डेक्स के लेखकगण समुद्र संतरण से ऋग्वैदिक आर्यों को पूरी तरह वाकिफ बताते हैं। ए.डी. पुसलकर प्रभृति विद्वान भी इसी स्थापना को सही बताते हैं।⁶⁹ ऋग्वेद में 'समुद्र' शब्द का अर्थ निश्चित ही सागर है, जहाँ सरस्वती नदी को पर्वत से समुद्र तक प्रवाहमान प्रदर्शित किया गया है।⁷⁰ समुद्र से प्राप्त धन की व्याख्या या तो मोती से हो सकती है या फिर समुद्री व्यापार से होने वाले लाभ से।⁷¹ एक स्थान पर पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रों का उल्लेख हुआ।⁷² धनार्जन के लिए समुद्र गमन⁷³ क्या आर्यों के व्यापारिक उद्देश्यों के साथ समुद्र संतरण का साक्ष्य नहीं प्रस्तुत करता? 'भुज्यु' के जहाज के टूट जाने पर अथाह एवं आश्रय रहित समुद्र से सौ डॉड़ों वाले युक्त जहाज में अश्विनी कुमारों ने उसका उद्धार किया।⁷⁴ इतनी बड़ी नाव तो समुद्र में ही चलायी जा

सकती है। ऋग्वेद 'पणि' लोगों के उल्लेखों से भरा पड़ा है।⁷⁵ ये 'पणि' कौन थे? ये धन सम्पदा सम्पन्न लोग थे। उनके धन की प्रकृति कुछ भी सकती है। इन्हें कभी-कभी व्यापारी या कंजूस व्यक्ति के रूप में भी चिचित्र किया गया है। पणियों को अयज्ञीय कहा गया है। ये दस्युओं के रूप में भी वर्णित है जो धन अपहृत करते थे एवं पर्वतीय दुर्गों या किलों में छिपा लेते थे⁷⁶ कई उल्लेखों में इनकी निकृष्टतम निंदा की गयी है।⁷⁷ परन्तु परवर्ती कालीन उल्लेखों 'पणिक' अथवा 'वणिक', 'पण्य' तथा 'विपणि' के साथ असंदिग्ध सम्बद्धता देखते हुए ये व्यापारी ही प्रतीत होते हैं। इन्हें आर्य सामुद्रिक व्यापारी माना गया है।⁷⁸ अल्टेकर महोदय इन्हें मूल हड़प्पा वासियों के साथ समीकृत करते हैं।⁷⁹

'पूषन्' नामक देवता की आराधना शायद लक्ष्य या मंजिल तक सकुशल पहुँचाने के लिए की जाती रही होगी।⁸⁰ प्रतीत होता है कि उस समय यात्रा मार्ग सुरक्षित नहीं थे। व्यापक वनों एवं असामाजिक तत्वों के चलते भय बना रहता था। एक मंत्र में सुरक्षित यात्रा के लिए इन्द्र की प्रार्थना करते हुए अत्यंत भव्य, मजबूत एवं सुरक्षित रथ का विशद विवरण है।⁸¹ यातायात के साधनों में विभिन्न जलयान एवं रथों का उल्लेख हम देख ही चुके हैं। शकट या गाड़ी (अनस्) भी एक प्रमुख साधन रही होगी। ऋग्वैदिक समाज में मृगया या आखेट को भी समाज के बड़े वर्ग ने जीविका के तौर पर स्वीकार कर लिया था। 'निधापति'⁸² यानी बहेलिए के लिए तो अपने एवं अपने परिवार के भरण-पोषण का यही एक आधार ही था। विविध पशुओं यथा सिंह, हिरन, जंगली हाथी, जंगली भैंसे एवं वराह आदि के शिकार के कई उल्लेख प्राप्त

होते हैं। सिंह को गड्ढा बनाकर⁸³ तो कभी हॉका लगाकर⁸⁴ पकड़ा जाता था।

जंगली भैंसों का शिकार एक तरह के प्रक्षेपकों से किया जाता रहा होगा।⁸⁵ हिरन को तो खंदकों में फंसा लिया जाता था⁸⁶ और जंगली हाथियों को पालतू हथिनियाँ दिखाकर⁸⁷। जीविका के साधन के अतिरिक्त मनोविनोद एवं आत्मरक्षार्थ भी लोग शिकार करते रहे होंगे। सम्भवतः कसाई का व्यवसाय भी कुछ लोगों के द्वारा अपनाया गया था। यज्ञों में दी जाने वाली 'बलि' के सन्दर्भ में 'शमितृ' की चर्चा काफी महत्वपूर्ण है। वैदिक एज में 'शमितृ' का अर्थ 'वह जो काटता है' से लिया गया है।⁸⁸

संदर्भ संकेत

1. जी.एस.पी मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ.-77
2. ऋग्वेद के दशम मंडल में सूक्त संख्या 19 एवं 169 ये दोनों सूक्त "गौ माता" की प्रशंसा में हैं।
3. ऋग्वेद, 1.161.11
4. ऋग्वेद, 3.47.4, 5.63.5, 6.31.3, 9.76.2, 8.24.2
5. ऋग्वेद, 2.25.47, 121.15, 3.31.10, 4.38.4, 6.19.12, 5.34.8
6. ऋग्वेद, 8.53.8, 9.97.15
7. ऋग्वेद, 2.1.12, 2.13, 4.8, 6.41.9, 3.1.19, 36.8-9, 49.4, 19.5, 25.2, 30.111
8. ऋग्वेद, 2.41.7, 7.27.5, 9.41.4, 63.3
9. ऋग्वेद, 1.164.41
10. इसका तात्पर्य "गाय के समान बालो वाली" है यह ऋग्वेद में तो कहीं नहीं आया है किन्तु यह शब्द भैंस के लिए ही प्रयुक्त है, देखिए 'गबल', मोनियर, विलियमस, ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ.-351.
11. जी.एस.पी मिश्र, पूर्वोक्त, पृ.-77
राधाकुमुद मुखर्जी, हिन्दू सभ्यता, पृ.-88
12. ऋग्वेद, 1.28.9, 9.66.28
13. ऋग्वेद, 10.86.13
14. ऋग्वेद, 8.46.8
15. ऋग्वेद, 10.101.7
परन्तु प्रो. रामशरण शर्मा का कहना है कि इतना तय है कि घोड़ों को हल में

नहीं जोता जाता था। देखें प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ-135

16. शर्मा, पूर्वोक्त, पृ.-135
17. ऋग्वेद, 9.26.8
18. ऋग्वेद, 1.34.4
19. ऋग्वेद, 1.126.7, 4.37.4
20. ऋग्वेद, 9.33.1
21. ऋग्वेद, 8.46.28
22. ऋग्वेद, 4.15.'6, 8.22.2, 7.55.3
23. ऋग्वेद, 2.26.8
24. मैकडानेल, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ-148
25. ऋग्वेद, 1.106.6
26. ऋग्वेद, 1.24.3, 27.6, 102.4, 2.14.12, 3.2.12, 4.66.1, 5.52.21,
27. वही, 6.50.11
28. आर्य शब्द का अर्थ कालान्तर में जाकर "श्रेष्ठ" किया जाने लगा, शायद इसलिए कि इस जनजाति ने शेष आर्य या आर्येतर जनजातियों के मध्य अपनी श्रेष्ठता साबित कर दी थी।
29. ऋग्वेद, 2.14.11, 5.53.13, 6.6.4
30. ऋग्वेद, 2.2.16, 4.38.10
31. प्रो. आर.एस. शर्मा, भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ.-56
32. डॉ. वैदिक इंडेक्स, 'चर्षाणि' शब्द के अन्तर्गत, जि. 1, पृ.-257
33. वही, 258
34. वही, वैदिक इंडेक्स, जि. 1, पृ.-257
35. वही, 4.57.8
36. वही, 4.57.8
37. वही, 4.57.6-7
38. ऋग्वेद, 8.6.48, 10.101.4
39. ऋग्वेद, 3.2.1
40. वही, 3.8.7
41. वही, 1.129.6
42. ऋग्वेद, 8.78.10
43. वही, 1.58.4, 4.5
44. वही, 8.78.10, 10.101.3, 131.2
45. वही, 10.48.7
46. वही, 10.71.2
47. वही, 10.94.13
48. वही, 2.14.11
49. वही, 4.57.1, 7.101.3, 10.50.3
50. वही, 7.49.2
51. वही, 1.116.9, 8.49.6
52. वही, 1.55.8, 10.101, 5-6,
53. ऋग्वेद, 3.45.3
54. ऋग्वेद, 1.117.21.6.13.4

55. ऋग्वेद, 4.24.7, 5.53.13
56. पुरातत्विक साक्ष्यों में भी अंतरजीखेड़ा के तृतीय चरण से ही चावल का साक्ष्य मिला है परन्तु इसकी तिथि (1200 से 600) निर्धारण थोड़ा कठिन कार्य प्रतीत होता है पुनश्च ऋग्वेद में चावल का उल्लेख भी नहीं होता।
57. ऋग्वेद, 10.68.1
58. ऋग्वेद, 4.56.6
59. ऋग्वेद, 8.91.5-6
60. वही, 10.34.13
61. तुलनीय-आर-बी-फ्लटि ब्रदर्स, खण्ड-तीन 1962 पृ.-59
62. ऋग्वेद, 1.122.11
63. वही, 1.56.2, समुद्र न संचरणे सनिष्यवः
64. वही, 4.24.10, दस गायों के बदले इन्द्र की एक प्रतिमा लेने का उल्लेख है।
क इमं दशभिर्ममेन्द्र क्रीणाति धेनुभिः।
65. वही, 1.126.2
66. वही, 2.27.4
67. वही, 8.47.17 "यथा कलां यथा शफं यथा ऋणं सन्नयामासि"
68. डॉ. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि. 1 पृष्ठ-78.79
69. वैदिक एज, पृष्ठ-248
70. ऋग्वेद, 7.95.2, 6.61.2.8
71. वही, 1.47.6, रयिसमुद्रात 7.6.7, 9.97.44, वसूनि समुद्रात
72. वही, 10.136.5-6
73. वही, पूर्वोक्त, सन्दर्भ संख्या-64. 1.56.2 एवं 4.55.6
74. वही, 1.116.3-5, मृत्युं अस्तं शतारित्राम नावम् आतास्थिवासम्
75. वही, 1.33.3, 1.124.10, 1.151.9, 1.180.7, 5.56.2 एवं 4.55.6
76. वही, 2.24.6, 3.58.2, 5.7, 4.25.7, 6.13.3, 33.2.39.
77. वही,
78. डॉ. दि वैदिक एज, पृष्ठ-252.253
79. इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1958 का अध्यक्षीय भाषण,
80. ऋग्वेद 1.42.1 तथा 3
81. वही, 3.53.17-28
82. वही, 9.83.4
83. वही, 10.28.10
84. वही, 5.13.3
85. वही, 10.51.6 (क्षेपों जायाः)
86. वही, 10.39.8
87. वही, 8.2.6
88. वैदिक एज, पृ.-402

मौर्य प्रशासन के विविध पक्ष

डॉ. रबीन्द्र कुमार

एमए, इतिहास

वीर बहादुर सिंह विश्वविद्यालय, जौनपुर

चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक विशाल एवं शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त जहाँ एक ओर अपने पराक्रम के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है, वहीं दूसरी ओर सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित शासन-प्रणाली को जन्म देने के परिणामस्वरूप भारतीय इतिहास में विशेष महत्व रखता है। चन्द्रगुप्त के सलाहकार मंत्री चाणक्य का मौर्य प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना में विशेष योगदान रहा। चाणक्य के अर्थशास्त्र से हमें मौर्य प्रशासनिक व्यवस्था की विस्तृत जानकारी मिलती है। मौर्य साम्राज्य की स्थापना के साथ केंद्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था का आविर्भाव हुआ। अशोक के अभिलेखों से साम्राज्य के पाँच प्रांतों में विभक्त होने का संकेत मिलता है एवं केंद्रीय प्रशासन का प्रांतों पर नियंत्रण होने का उल्लेख पाया जाता है।

लिच्छवी, वज्जि, मल्लवी, कुरु, पांचाल को अर्थशास्त्र में संघ गणराज्यों में सम्मिलित किया गया है। यद्यपि इन्हें राजनीतिक विशेषाधिकार दिये गये थे, तथापि इनको साम्राज्य का एक अभिन्न अंग माना जाता था। विशाल साम्राज्य पर सम्राट के लिए सीधा नियंत्रण रखा जाना संभव नहीं था। अतः मौर्य साम्राज्य को पाँच प्रांतों में विभक्त किया गया। यद्यपि संपूर्ण मौर्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, पर वहाँ से कम्बोज, बंग और आंध्र तक विस्तृत साम्राज्य का शासन सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता था। अतः शासन की दृष्टि से मौर्यों के अधीन संपूर्ण 'विजित' को पाँच भागों में बाँटा गया था, जिनकी राजधानियाँ क्रमशः पाटलिपुत्र, तोसाली, उज्जयिनी, तक्षशिला और सुवर्णगिरि थीं। हम इन राजधानियों को दृष्टि में रखकर यह सहज में अनुमान कर सकते हैं कि विशाल मौर्य साम्राज्य पाँच चक्रों में विभक्त था।

- (1) **उत्तरापथ:** जिसके अंतर्गत कम्बोज, गांधार, कश्मीर, अफगानिस्तान, पंजाब आदि के प्रदेश थे। इसकी राजधानी **तक्षशिला** थी।

- (2) **अवन्तिपथ या पश्चिम प्रांत:** इसमें काठियावाड़-गुजरात से लेकर राजपूताना, मालवा आदि के सब प्रदेश शामिल थे। इसकी राजधानी **उज्जैनी** थी।
- (3) **दक्षिणापथ:** विंध्याचल के दक्षिण का सारा प्रदेश इस चक्र में था, इसकी राजधानी **सुवर्णगिरि** थी।
- (4) **प्राच्यपथ:** अशोक ने अपने नये जीते हुए प्रदेश का एक पृथक् चक्र बनाया था, जिसकी राजधानी **तोसाली** थी।
- (5) **मध्य देश या केंद्रीय प्रांत (मगध):** इसमें वर्तमान बिहार, उत्तर प्रदेश और बंगाल सम्मिलित थे, इसकी राजधानी **पाटलिपुत्र** थी। यह संपूर्ण साम्राज्य की भी राजधानी थी।

प्रायः इन पाँचों चक्रों का शासन करने के लिए राजकुल के व्यक्तियों को नियत किया जाता था, जिन्हें **कुमार** कहते थे। कुमार अनेक महामात्यों की सहायता से अपने-अपने चक्र का शासन करते थे। राजा बनने से पूर्व **अशोक** और **कुणाल उज्जयिनी**, तक्षशिला आदि के 'कुमार' रह चुके थे। इन पाँच चक्रों के अंतर्गत अनेक छोटे शासन-केंद्र या मंडल भी थे, जिसमें 'कुमार' के अधीन 'महामात्य' शासन करते थे। उदाहरण के लिए तोसाली के अधीन **समापा** में, पाटलिपुत्र के अधीन **कौशाम्बी** में और सुवर्णगिरि के अधीन **इसिला** में महामात्य रहते थे।

सौराष्ट्र या काठियावाड़ का एक पृथक् 'देश' **उज्जयिनी** के अधीन था, जिसका शासक चन्द्रगुप्त के समय में वैश्य पुष्यगुप्त था। अशोक के समय में वहाँ का शासन **यवन तुषास्फ** के अधीन था। मगध सम्राट की ओर से जो आज्ञाएँ प्रचारित की जाती थीं, वे चक्रों के 'कुमारों' के महामात्यों के नाम होती थीं। अशोक ने जो आदेश भेजे, वे सुवर्णगिरि के कुमार या आर्यपुत्र के द्वारा भेजे गये थे। इसी प्रकार कलिंग में समापा के महामात्यों और तोसाली के कुमार की नियुक्ति नहीं होती थी, उसका शासन सीधा सम्राट के अधीन था। अतः उसके अंतर्गत कौशाम्बी के महामात्यों को अशोक ने सीधे ही अपने आदेश दिये थे। प्रांतीय शासक कुमार या आर्यपुत्र की सहायता के लिए प्रांतीय मंत्रिपरिषद् होती थी।

इस बात का **दिव्यावदान** में उल्लेख है कि प्रांतीय परिषद् का सम्राट से सीधे संपर्क होता था। इसके माध्यम से सम्राट प्रांतीय शासकों की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाता था। वस्तुतः पूरा मौर्य प्रशासन रोक और संतुलन की अवधारणा पर आधारित था। कुमार की सहायतार्थ चक्रों के शासन के लिए, जो महामात्य नियुक्त होते थे, उन्हें शासन-संबंधी बहुत अधिकार प्राप्त थे। अतएव अशोक ने चक्रों के शासकों के नाम जो

आज्ञाएँ प्रकाशित कीं, उन्हें केवल कुमार या आर्यपुत्र के नाम से नहीं भेजा गया, अपितु कुमार और महामात्य दोनों के नाम प्रेषित किया गया। जब कुमार भी इसी प्रकार अपने अधीनस्थ महामात्यों को कोई आज्ञा भेजते थे तो उन्हें वे अपने नाम से नहीं, अपितु महामात्य सहित कुमार के नाम से भेजते थे। मौर्य-साम्राज्य के मुख्य पाँच चक्र या विभाग थे, ये चक्र अनेक मंडलों में विभक्त थे। प्रत्येक मंडल में बहुत-से जनपद होते थे। ये जनपद संभवतः, प्राचीन युग के जनपदों के प्रतिनिधि थे। शासन की दृष्टि से जनपदों के भी विविध विभाग होते थे, जिन्हें कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटिक, संग्रहण और ग्राम कहा है। ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई थी। दस ग्रामों के समूह को संग्रहण कहते थे। बीस संग्रहणों (या 200 ग्रामों) से एक खार्वटिक बनता था। दो खार्वटिकों (या 400 ग्रामों) से एक द्रोणमुख और दो द्रोणमुखों (800 ग्रामों) से एक स्थानीय बनता था। संभवतः स्थानीय, द्रोणमुख और खार्वटिक शासन की दृष्टि से एक ही विभाग को सूचित करते हैं। स्थानीय में लगभग 800 ग्राम हुआ करते थे। पर कुछ स्थानीय आकार में छोटे होते थे, या कुछ प्रदेशों में आबादी घनी न होने के कारण 'स्थानीय' में गाँवों की संख्या कम रहती थी। ऐसे ही स्थानीयों को द्रोणमुख या खार्वटिक कहा जाता था। ग्राम का शासक ग्रामिक, संग्रहण का गोप और स्थानीय का स्थानिक कहलाता था। संपूर्ण जनपद के शासक को 'समाहर्ता' कहते थे। मंगल-महामात्य, समाहर्ता के ऊपर होते थे, जो चक्रों के अंतर्गत विविध मंडलों का शासन करने के लिए केंद्रीय सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे। इन मंडल-महामात्यों के ऊपर कुमार और उसके सहायक महामात्य रहते थे। सबसे ऊपर पाटलिपुत्र का मौर्य सम्राट था।

शासक वर्ग: शासन कार्य में सम्राट की सहायता करने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होती थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इस मंत्रिपरिषद् का विस्तार से वर्णन किया गया है। राजा द्वारा मुख्यमंत्री तथा पुरोहित का चयन उनके चरित्र की भली-भाँति जाँच करके किया जाता था। इस प्रक्रिया को उपधा-परीक्षण कहा जाता था। अशोक के शिलालेखों में भी उसकी परिषद् का बार-बार उल्लेख है। चक्रों के शासक कुमार भी जिन महामात्यों की सहायता से शासनकार्य करते थे, उनकी भी एक परिषद् होती थी। जो राज-कर्मचारी साम्राज्य में केंद्रीय सरकार की ओर से शासन के विविध पदों पर नियुक्त थे, उन्हें पुरुष कहते थे। ये पुरुष उत्तम, मध्यम और हीन तीन दर्जों के होते थे। जनपदों के समूहों (मंडलों) के ऊपर शासन करने वाले महामात्यों की संज्ञा संभवतः प्रादेशिक या प्रदेष्टा थी। उनके अधीन जनपदों के शासक समाहर्ता कहलाते थे। निःसंदेह, ये उत्तम 'पुरुष' होते थे। 'युक्त' आदि विविध कर्मचारी इनके अधीन मध्यम व हीन दर्जों में रखे जाते थे।

स्थानीय स्वशासन: जनपदों के शासन का संचालन करने के लिए जहाँ केंद्रीय सरकार की ओर से समाहर्ता नियत थे, वहाँ जनपदों की अपनी आंतरिक स्वतंत्रता भी अक्षुण्ण रूप से कायम थी। अर्थशास्त्र में उल्लिखित 'प्रदेष्टा' नामक अधिकारी मंडल का प्रधान होता था। प्रदेष्टा, समाहर्ता के प्रति उत्तरदायी था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र बार-बार इस बात पर जोर दिया गया है कि जनपदों, नगरों व ग्रामों के धर्म, चरित्र और व्यवहार को अक्षुण्ण रखा जाय। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इसमें अपना स्थानीय स्वशासन पुरानी परंपरा के अनुसार जारी था। एक ही प्रकार की स्थानीय स्वतंत्रता सब जनपदों में नहीं थी। हम जानते हैं कि मगध-साम्राज्य

के विकास से पूर्व कुछ जनपदों में गणशासन और कुछ में राजाओं का शासन था। उनके व्यवहार और धर्म अलग-अलग थे। जब वे मगध के साम्राज्यवाद के अधीन हो गये, तब भी उनमें अपनी पुरानी परंपरा के अनुसार स्थानीय शासन जारी रहा और ग्रामों में पुरानी ग्रामसभाओं और नगरों में नगरसभाओं (पौरसभा) के अधिकार कायम रहे। जनपद सभा की सत्ता ग्रामों के समूहों या जनपदों में भी विद्यमान रही। साथ ही केंद्रीय सरकार की ओर से भी विविध करों को एकत्र करने तथा शासन का संचालन करने के लिए 'पुरुष' नियुक्त किये जाते रहे।

सम्राट-विविध जनपदों और गणराज्यों को जीतकर जिस विशाल मगध-साम्राज्य का निर्माण हुआ था, उसका केंद्र राजा या सम्राट था।

चाणक्य के अनुसार राज्य के सात अंगों में केवल दो राजा और देश की प्रधानता है, प्राचीन परंपरा के अनुसार राज्य के सात अंग माने जाते थे-राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कर या कोष, सेना और मित्र। पुराने युग में जब छोटे-छोटे जनपद होते थे और उनमें एक ही 'जन' का निवास होता था तो राजा की उनमें विशेष महत्ता नहीं होती थी।

आचार्य भारद्वाज की दृष्टि में राजा की अपेक्षा अमात्य की अधिक महत्ता थी। अन्य आचार्यों की दृष्टि में अमात्य की अपेक्षा जनपद, दुर्ग या कोष आदि का महत्व अधिक था।

प्राचीनकाल के ऐसे जनपदों में जिनमें एक ही 'जन' का निवास था, राजा की अपेक्षा अन्य अंगों या तत्वों की प्रमुखता सर्वथा स्वाभाविक थी। जनपदों को जीतकर जिन साम्राज्यों का निर्माण किया जा रहा था, उनका केंद्र राजा ही था, वे एक महाप्रतापी महत्वाकांक्षी व्यक्ति के ही कृत थे। उसी ने कोष, सेना, दुर्ग

आदि का संगठन कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। कौटिल्य के शब्दों में, 'मंत्री, पुरोहित आदि भृत्य वर्ग की और राज्य के विविध अध्यक्षों व अमात्यों की नियुक्ति राजा ही करता है। जब साम्राज्य में राजा का इतना अधिक महत्व हो तो राजा को भी एक आदर्श व्यक्ति होना चाहिए। कोई साधारण पुरुष राज्य में कूटस्थानीय नहीं हो सकता।

चाणक्य के अनुसार राजा में निम्नलिखित गुण आवश्यक हैं—“वह ऊँचे कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि और दैवी शक्ति हो, वह वृद्ध (Elders) जनों की बात को सुनने वाला हो, धार्मिक हो, सत्य भाषण करने वाला हो, परस्पर-विरोधी बातें न करे, कृतज्ञ हो, उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो, उसमें उत्साह अत्यधिक हो, वह दीर्घसूत्री न हो, सामंत राजाओं को अपने वश में रखने में वह समर्थ हो, उसकी बुद्धि दृढ़ हो, उसकी परिषद् छोटी न हो और वह विनय (नियंत्रण) का पालन करने वाला हो।” इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से गुणों का चाणक्य ने विस्तार से वर्णन किया है, जो राजा में अवश्य होने चाहिए।

मंत्रिपरिषद्: इसका उल्लेख चौथे और छठे शिलालेख में मिलता है। पातंजलि द्वारा रचित महाभाष्य में 'चन्द्रगुप्त सभा' का उल्लेख किया गया है।

आचार्य चाणक्य के अनुसार **राजवृत्ति** तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। जो अपने सामने हो, वह प्रत्यक्ष है। जो दूसरे बतायें, वह परोक्ष है। किये हुए कर्म के बिना, किये का अनुमान लगाना **अनुमेय** कहलाता है। सब काम एक साथ नहीं होते। राजकर्म बहुत-से स्थानों पर होते हैं। अतः एक राजा सारे राजकर्म अपने आप नहीं कर सकता। इसलिए उसे अमात्यों की नियुक्ति करने की आवश्यकता होती है। मंत्रियों और पुरोहितों

का चुनाव एक विस्तृत प्रक्रिया के अनुसार किया जाता था। चारित्रिक जाँच की यह प्रक्रिया **उपधा-परीक्षण** कहलाती थी।

परिषद् में कितने मंत्री हों, इस विषय में विविध आचार्यों के विविध मत थे। मानव (मनु) बार्हस्पत्य (बृहस्पति), औशनस (उरानश) आदि संप्रदायों के मत में मंत्रि परिषद् में क्रमशः बारह, सोलह और बीस मंत्री होने चाहिए। पर **चाणक्य** किसी निश्चित संख्या के पक्ष में नहीं थे। उनका मत था कि जितनी सामर्थ्य हो जितनी आवश्यकता हो, उतने ही मंत्री परिषद् में रख लिए जायें। अत्यधिक गुप्त बातों पर राजा मंत्रिपरिषद् में सलाह नहीं करते थे। वे एक-एक मंत्री से अलग-अलग परामर्श करते थे। इस संबंध में चाणक्य का यह आदेश था कि जिस बात पर सलाह लेनी हो, उससे उलटी बात इशारे से पूछी जाय, ताकि किसी मंत्री को यह मालूम न पड़े कि राजा के मन में क्या योजना है और वह वस्तुतः किस बात पर सलाह लेना चाहता है। बड़ी मंत्रिपरिषद् के अतिरिक्त एक छोटी उपसमिति भी होती थी, जिसमें तीन या चार खास मंत्री रहते थे। इसे **'मंत्रिण'** कहा जाता था। जरूरी मामलों पर इसकी सलाह ली जाती थी। राजा प्रायः अपने 'मंत्रियों' और 'मंत्रिपरिषद्' के परामर्श से ही राजकार्य का संचालन करता था। वह भली-भाँति समझता था कि मंत्रिसिद्धि कभी अकेले नहीं हो सकती। जो बात मालूम नहीं है उसे मालूम करना, जो मालूम है उसका निश्चय करना, जिस बात में दुविधा है, उसके संशय को दूर करना, और जो बात केवल आंशिक रूप से ज्ञात है, उसे पूर्णांश में जानना, यह सब कुछ मंत्रिपरिषद् के 'मंत्रिणा' द्वारा ही हो सकता है।

जनपदों का शासन—धीरे-धीरे मगध के साम्राज्यवाद ने भारत के सभी पुराने जनपदों को अपने अधीन कर लिया था। पर इन जनपदों की अपनी भाषाएँ

होती थीं। जनपद की राजधानी या पुर की सभा को 'पौरा' और शेष प्रदेश की सभा को 'जनपद सभायें' कहा जाता था। प्रत्येक जनपद के अपने धर्म, व्यवहार और चरित्र भी होते थे। मगध के सम्राटों ने इन विविध जनपदों को जीतकर इनकी आंतरिक स्वतंत्रता को कायम रखा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में एक प्रकरण जिसका शीर्षक **'लब्धप्रश्नम्'** है, इसमें यह निरूपित किया गया है कि नये जीते हुए प्रदेश के साथ क्या व्यवहार किया जाय और उसमें किस प्रकार शांति स्थापित की जाय। इसके अनुसार नये जीते हुए प्रदेश में राजा को चाहिए कि वह अपने को जनता का प्रिय बनाने का प्रयत्न करे। जनता के विरुद्ध आचरण करने वाले का विश्वास नहीं जम सकता, अतः राजा जनता के समान ही अपना शील, वेश, भाषा और आचार बना ले। देश के देवताओं, समाजों, उत्सवों और विहारों का आदर करे और वहाँ के धर्म, व्यवहार आदि का उल्लंघन न करे।

जनपदों का शासन करने के लिए सम्राट की ओर से **समाहर्ता** नामक राजपुरुष की नियुक्ति की जाती थी। पर, वह जनपद के आंतरिक शासन में हस्तक्षेप नहीं करता था। जो जनपद देर से मगध साम्राज्य के अधीन थे, उनकी अपेक्षा नये जीते हुए जनपदों की पृथक् सत्ता अधिक सुरक्षित थी। अशोक के अभिलेख में जिला स्तर के आधिकारियों का क्रम इस प्रकार है: **युक्त, रज्जुक (राजुक) और प्रादेशिक**। प्रादेशिक अपने जिले से होने वाली आय की देख-रेख करता था तथा कानून-व्यवस्था को बनाये रखना उसका उत्तरदायित्व था। अभिलेखों से इस बात के संकेत मिलते हैं कि अशोक ने प्रति पाँचवें वर्ष इन्हें निरीक्षण पर जाने का निदेश दिया। रज्जुक, राजस्व प्रशासक था। इसका काम ग्रामीण क्षेत्र तक सीमित था। यह भूमि का सर्वेक्षण करता था तथा उसकी कीमत निर्धारण करता था। अपने

शासनकाल के सत्ताइसवें वर्ष में अशोक ने रज्जुकों को दंड और अभिहार की स्वतंत्रता देते हुए न्यायिक कार्य भी सौंपा।

चौथे स्तंभ अभिलेख में इसका उल्लेख मिलता है तथा तीसरे शिलालेख में इनको निरीक्षण पर जाने का आदेश दिया गया। **प्रादेशिक** रज्जुक के प्रशासनिक और अदालती कार्य का निरीक्षण करेगा तथा **युक्त** उसकी रिपोर्ट तैयार करेगा। तीसरे शिलालेख में जिला स्तर के एक और अधिकारी **युक्त** का जिक्र आता है, जो न केवल शीर्ष स्तर पर न्याय का काम देखता था, वरन् सचिव और लेखाकार्य भी संपन्न करता था। यहाँ **समाहर्ता**, **प्रादेशिक** और **स्थानिक के अंतर्संबंध** को लेकर होने वाले भ्रम का निराकरण जरूरी है।

समाहर्ता को अगर हम चीफ कलक्टर मानें, तो **प्रादेशिक** कलक्टर होता था और **स्थानिक** डिप्टी कलक्टर। स्थानिक प्रादेशिक के अधीन काम करता था तथा उसका प्रमुख काम कर वसूली था। मौर्य प्रशासन में स्थानीय स्तर के उन अधिकारियों की भूमिका महत्वपूर्ण थी, जो केंद्रीय प्रशासन और स्थानीय प्रशासन के बीच कड़ी का काम करता थे। **पुलिसा** अर्थात् पुरुष, युक्त की तरह का निम्न अधिकारी होता था तथा वह जनमत की सूचना राजा को देता था।

छठे वृहद् शिलालेख में प्रतिवेदिक का उल्लेख मिलता है, जो कानून-व्यवस्था से संबंधित विशेष रिपोर्टर होता था। अर्थशास्त्र में प्रतिवेदिक की तुलना चर्चित गुप्तचरों से की गयी है तथा इन्हें इस बात की छूट होती थी कि बेधड़क राजा से कहीं भी मिल सकते थे, अर्थात् उनकी सम्राट के पास सीधी पहुंच थी। एक अन्य कनिष्ठ अधिकारी होता था, जो राजा के फरमानों को जनता के समक्ष पढ़ता था। इसी प्रकार **आयुक्तिक** राजा द्वारा नियुक्त विशिष्ट अधिकारी था और इसका काम महामाव्यों की सहायता करना था।

सैन्य प्रशासन: कौटिल्य सेना के तीन भागों का उल्लेख करता है—पुश्तैनी सेना, किराये की सेना और नगरपालिका से संबंधित सेना। पिलनी ने मौर्य सैनिकों की संख्या छह लाख, मेगास्थनीज ने चार लाख तथा प्लूटार्क ने दो लाख बतलायी है। मेगास्थनीज पाँच-पाँच सदस्यों वाली छह उप-समिति का उल्लेख करता है, जिसके माध्यम से सैन्य प्रशासन को विनियमित किया जाता था। ये समितियाँ **पैदल**, **घुड़सवार**, **हाथी**, **रथ**, **नौ** तथा **रसद** विभाग से संबंधित थीं।

कौटिल्य **नावाध्यक्ष** का उल्लेख करता है, जो नौसेना विभाग का अधिकारी था और इसे युद्ध से संबंधित समस्याओं पर विचार करना था। सिकंदर के अभियान के क्रम में सर्वप्रथम एक जहाज का प्रयोग किया गया था। एरियन उत्तर-पश्चिम में जथोई जाति के पास जहाज होने का उल्लेख करता है। स्ट्रैबो के अनुसार पोत-निर्माण पर राज्य का एकाधिकार था।

नगरों का शासन: मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र के नगर-शासन का विस्तार में वर्णन किया है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र की नगर सभा छः उप-समितियों में विभक्त थी और प्रत्येक उप-समिति में पाँच-पाँच सदस्य होते थे। इन उप-समितियों के कार्य निम्नलिखित थे:

पहली उप-समिति का कार्य औद्योगिक तथा शिल्प-संबंधी कार्यों का निरीक्षण करना था। इसी उप-समिति का कार्य मजदूरी की दर तथा मजदूरों के कार्य का समय निश्चित करना था और इस बात पर विशेष ध्यान देना कि शिल्पी लोग शुद्ध तथा पक्का माल ही काम में लाते हैं या नहीं। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में शिल्पियों का समाज में बड़ा आदर था। प्रत्येक शिल्पी राष्ट्र की सेवा में नियुक्त माना जाता था। यही कारण था कि यदि कोई मनुष्य किसी शिल्पी के ऐसे अंग को विकल कर दे, जिससे कि उसके हस्त-कौशल में न्यूनता

आ जाय, तो उसके लिए मृत्यु-दंड की व्यवस्था थी।

दूसरी उप-समिति विदेशियों का सत्कार करने का कार्य थी। आज कल जो काम विदेशों के दूतमंडल करते हैं, उनमें से अनेक कार्य यह समिति किया करती थी। यह उप-समिति पाटलिपुत्र में आनेवाले विदेशियों पर भी निगाह रखती थी। साथ ही विदेशियों के निवास, सुरक्षा और समय-समय पर औषधोपचार का कार्य भी इस उप-समिति के सुपुर्द था। यदि किसी विदेशी की पाटलिपुत्र में मृत्यु हो जाय, तो उसके देश के रिवाज के अनुसार उसे दफनाने का प्रबंध भी इसी उप-समिति के द्वारा किया जाता था। मृत परदेशी की जायदाद व संपत्ति का प्रबंध भी यही करती थी।

तीसरी उप-समिति का **कार्य मर्दुमशुमारी** (जनगणना) करना काम था। मृत्यु और जन्म की सूची रखना इसी उप-समिति का कार्य था। कर लगाने के लिए यह सूची बड़ी उपयोगी होती थी।

चौथी उप-समिति क्रय-विक्रय के नियमों का निर्धारण करती थी। इस उप-समिति का कार्य, भार और माप के परिमाणों को निश्चित करना, व्यापारी लोग उनका शुद्धता के साथ और सही-सही उपयोग करते हैं या नहीं, इसका निरीक्षण करना था।

संदर्भ

- A. Sen : *Asoka's Edicts*, Calcutta, 1956.
A. Seneviratna : *King Asoka and Buddhism*, Kandy. Scheduled for 1993.
Aitken, Robert : *New Mahayana: Buddhism for the Postmodern World*, Berkeley, CA: Asian Humanities Press, 1991.
Armstrong, Karen : *Buddha*, New York: Penguin Books, 2001.
Arnold, Edwin : *The Light of Asia*, Wheaton, 1969.
Basham, A. L. : *The Wonder That Was India*, New York, 1954.
Birnbaum, Raoul : *The Healing Buddha*, Boston, MA: Shambhala, 1989.

1000-1300 ई. के बीच भारत में साहित्य की स्थिति

डॉ. मंजु पाठक

एमए, इतिहास

उत्तर, मध्य तथा पूर्वी भारत की आर्य-भारतीय भाषाओं ने 1000-1300 ई.पू. के बीच एक विशेष क्षेत्रीय स्वरूप प्राप्त कर लिया था। इनमें से हिन्दी, मराठी, बंगाली, आसामी तथा उड़िया विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। उनका प्रारम्भिक विकास तथा मध्यकालीन भारतीय संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के साथ संबंध एक रोचक विषय है।

भक्ति पंथ का क्षेत्रीय भाषाओं तथा साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान था। कुछ पंथों के संस्थापक संस्कृत नहीं जानते थे। क्षेत्री भाषाओं में इसी कारण वे अपने विचार प्रकट करते थे। परन्तु इनमें से संस्कृत जानने वाले ब्राह्मण भी आम लोगों तक पहुँचने हेतु क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग कर रहे थे। इस आंदोलन को प्रारंभ करने वाले अनेक सन्तों ने महत्वपूर्ण साहित्यिक रचनाओं के द्वारा क्षेत्रीय भाषाओं को धनी बनाने में अपना योगदान दिया।

मंदिरों तथा राजवंशों के अभिलेख भी इसके अलावा महत्वपूर्ण हैं। सभी बड़े मंदिरों ने अपने इतिहास पर संस्कृत में महात्म बनवाए जिन्हें शीघ्र ही क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवादित किया गया। तीर्थयात्रियों को उत्साहित करने वाले पुजारियों ने भी देश के विभिन्न भागों में इस दिशा में अपना योगदान दिया।

राजाओं तथा स्थानीय शासकों के अभिलेख (राजवंशावली) का भी यही कार्य होता था। ये आमतौर पर कवियों द्वारा राजसंरक्षण प्राप्त करने के उद्देश्य से तैयार किए जाते थे जिनमें राजा के पूर्वज को किसी बड़े वंश अथवा प्राचीन वीर व्यक्तियों से संबंधित दिखाया जाता था। इनमें राजवंशों द्वारा

स्थापित मंदिरों के बारे में कहानियाँ भी होती थीं। इस काल में साहित्य के क्षेत्र में भी प्रगति हुई।

सुधारवादी आन्दोलनों ने महत्वपूर्ण सामाजिक एवं धार्मिक परिणामों को उत्पन्न करने के अतिरिक्त, भारत के विभिन्न भागों में भारतीय साहित्य के विकास को बहुत प्रोत्साहन दिया। पुराणपंथी विद्वान् संस्कृत में लिखते रहे, पर धार्मिक सुधारक अशिक्षित जन-समूहों में उपदेश देने के ध्येय से, ऐसे माध्यम से लिखते तथा बोलते थे, जिसे वे (जनसमूह) आसानी से समझ सकें।

रामानन्द तथा कबीर ने इस प्रकार हिन्दी में उपदेश दिया तथा इसके काव्य को भरसक समृद्ध किया। भक्ति-भावना से ओतप्रोत कबीर के दोहे तथा साखियाँ हिन्दी साहित्य के उज्ज्वल नमूने हैं। मराठी साहित्य के विकास में नामदेव ने बड़ी सहायता की। मीराबाई तथा राधाकृष्ण-भक्ति-संप्रदाय के कुछ अन्य उपदेशकों ने ब्रजभाषा में गीत लिखे। पंजाबी तथा गुरुमुखी को नानक तथा उनके शिष्यों ने प्रोत्साहन दिया।

वैष्णव उपदेशकों का बंगला साहित्य अत्यधिक ऋणी है। प्रसिद्ध वैष्णव कवि चंडीदास की, जिनका जन्म शायद चौदहवीं सदी के अन्त में पश्चिम बंगाल के वीरभूम जिले के नानूर ग्राम में हुआ था, अभी भी बड़ी प्रतिष्ठा होती है तथा उनके रचे गीत बंगाल के जनसाधारण तक को ज्ञात हैं। उनके समकालीन विद्यापति ठाकुर यद्यपि मिथिला के निवासी हैं, पर बंगाल के कवि माने जाते हैं तथा इस प्रान्त के लोग उनका श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। साहित्य के विकास में राजदरबारों के संरक्षण से भी काफी सहायता मिली। **विद्यापति** शिव सिंह नामक एक हिन्दू नायक के राजकवि थे।

बंगाल के मुस्लिम शासकों ने रामायण एवं महाभारत का संस्कृत से बंगला में, जो वे समझते तथा बोलते थे, अनुवाद करने के लिए विद्वानों को नियुक्त किया। इस युग में हिन्दी साहित्य का भी विकास होने लगा। चन्द्रवरदाई, सारंगधर, जगनक, रघुनन्दन मिश्र आदि प्रसिद्ध साहित्यकार इसी काल में हुए।

बरबकशाह ने जो स्वयं एक विद्वान् था, अनेक रचनाओं के अत्यन्त ही गुण-सम्पन्न और प्रसिद्ध प्रणेता रायमुकुट

बृहस्पति मिश्र, मालाधर बसु, जिसने 1473 ई. में अपनी रचना श्री कृष्ण-विजय को लिखना प्रारम्भ किया तथा जिसे इस सुल्तान ने गुणराज खाँ की उपाधि प्रदान की, और कृत्तिवास, जिसकी रामायण का बंगला अनुवाद कुछ के द्वारा “बंगाल की बाइबिल” समझा गया है सरीखे विद्वानों को आश्रय प्रदान किया। **गौड़ के सुल्तान नुसरत शाह ने महाभारत का बंगला में अनुवाद करवाया।** विद्यापति इस सुल्तान की तथा सुल्तान गयासुद्दीन की भी बड़ी प्रशंसा करते हैं। हुसैन शाह के सेनापति परागल खाँ ने परमेश्वर से, जिसे कवीन्द्र भी कहा जाता था, महाभारत का एक दूसरा अनुवाद करवाया। परागल खाँ के पुत्र चूटी खाँ ने, जो चटगाँव का सूबेदार था, श्रीकर नन्दी को महाभारत के अश्वमेध-पर्व का बंगला में अनुवाद करने के लिए नियुक्त किया। हमारी आधुनिक भाषा के विकास का बहुत कुछ श्रेय भक्ति आन्दोलन को है।

संस्कृत में साहित्यिक कार्य

संस्कृति तथा कला के क्षेत्र में हिन्दुओं ने तुर्कों की श्रेष्ठता कभी स्वीकार न की। तुर्कों की विजय से मस्तिष्क पर जो संकुचित करने वाला प्रभाव पड़ा उसकी चिन्ता न करते हुए वे साहित्य सेवा में लगे रहे। संस्कृत में यह युग महत्त्वपूर्ण धार्मिक एवं धर्म-निरपेक्ष रचनाओं से पूर्णतः शून्य नहीं था, यद्यपि इस विषय में इसमें पिछली दो या तीन सदियों की तुलना में कुछ विशेष कार्य नहीं हुआ। 1300 ई. के लगभग पार्थसारथी मिश्र ने **कर्म मीमांसा** पर कई ग्रंथ लिखे, जिनमें ‘शास्त्रदीपिका’ का सबसे अधिक अध्ययन हुआ।

ऐसी पुस्तकें इस युग में लिखी गयीं, जो दर्शन की योग, वैशेषिक तथा न्याय शाखाओं के सिद्धान्तों की व्याख्या करती थीं। उस युग के अधिक महत्त्वपूर्ण नाटक थे-जय सिंह सूरी (1211-1229 ई.) द्वारा लिखित ‘हम्मीर मदमर्द; केरल के राजा रविवर्मन् का **प्रद्युम्न-अभ्युदय**; विद्यानाथ (1300 ई.) का प्रताप रुद्र कल्याण; वामन भट्ट बाण (1400 ई.) का **पार्वती-परिणय**; गंगादास का गांदास प्रताप-विलास, जिसमें गुजरात के मुहम्मद द्वितीय के विरुद्ध चम्पानेर के एक राजा के युद्ध का वर्णन है; तथा बंगाल के हुसैन शाह के समकालीन रूप गोस्वामी द्वारा संस्कृत के पचीस ग्रंथों का लेखक था, ने ‘विदग्ध माधव’ और ‘व्यक्ति माधव’ नामक दो महत्त्वपूर्ण रचनाओं का प्रणयन किया।

इस युग में मिथिला तथा बंगाल में स्मृति एवं व्याकरण-संबंधी साहित्य का उत्कर्ष हुआ। सबसे प्रसिद्ध लेखक थे **पद्मनाभ, मिथिला के विद्यापति** एवं वाचस्पति तथा बंगाल के रघुनन्दन। इस युग में धर्म-निरपेक्ष एवं धार्मिक जैन साहित्य भी बहुलता से रचा गया।

12वीं सदी में जयदेव ने गीत गोविन्द की रचना की। हिन्दुओं के प्रसिद्ध कानून ‘मिताक्षरा’ की रचना विज्ञानेश्वर ने इसी युग में की। विजयनगर के शासकों ने सायण, उसके भाई माधव विद्यारण्य इत्यादि के समान विद्वानों का पर्याप्त संरक्षण किया, जिसके फलस्वरूप विस्तृत संस्कृत सभ्यता फैल गयी। संस्कृत के ज्ञान से सम्पन्न कतिपय मुसलमान विद्वानों के उदाहरण भी हम पाते हैं। कल्हण की राजतरंगिणी की रचना भी 12वीं सदी के मध्य हुयी होगी।

फारसी साहित्य

कुतुबुद्दीन से लेकर सिकन्दर लोदी तक प्रत्येक सुल्तान के दरबार में फारसी लेखकों, कवियों, दार्शनिकों, नैयायिकों, शास्त्रज्ञों तथा विधिविज्ञों का जमाव रहता था।

दिल्ली के सुल्तान एवं अमीर तथा प्रान्तों के मुस्लिम शासक एवं सरदार स्वभावतः फारसी में साहित्यिक कार्यों को प्रोत्साहित करते थे, क्योंकि वे इसे अच्छी तरह समझते थे। गर्व के साथ अमीर खुसरो ने घोषित किया कि दिल्ली मध्य एशिया के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नगर बुखारा की बौद्धिक प्रतिद्वन्दिनी बन गयी।

भारत के तत्कालीन मुस्लिम शासक उन फारसी विद्वानों का संरक्षण किया करते थे, जो मंगोलों के आक्रमणों के दबाव के कारण एशिया के भिन्न-भिन्न भागों से भागकर उनके दरबारों में एकत्र होते थे। उन्होंने दिल्ली, जालंधर, फीरोज़ाबाद तथा अन्य स्थानों में मुस्लिम शिक्षा के लिए संस्थाएँ स्थापित कीं। उन्होंने पुस्तकालय स्थापित किये जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण, दिल्ली राजकीय पुस्तकालय था, जिसका पुस्तकालयाध्यक्ष जलालुद्दीन खल्जी द्वारा नियुक्त किया गया अमीर खुसरो था। उन्होंने मुस्लिम साहित्य परिषदों की वृद्धि में भी योग दिया।

इस युग में सबसे प्रसिद्ध भारतीय विद्वान्, जिसने फारसी में लिखा था, अमीर खुसरो था। इस लेखक ने काफी लिखा। उसकी प्रतिभा काव्य, गद्य तथा संगीत में प्रस्फुटित हुयी तथा उसे विधाता ने लम्बा जीवन प्रदान किया। वह सर्वप्रथम बलबन के शासन-काल में प्रसिद्धि को

प्राप्त हुआ तथा सुल्तान के ज्येष्ठ पुत्र शाहजादा मुहम्मद का शिक्षक था। आगे चलकर वह अलाउद्दीन खल्जी का राजकवि बना। उसे गयासुद्दीन तुगलक़ का संरक्षण भी प्राप्त था। 1324-1325 ई. में उसकी मृत्यु हुई।

एक दूसरा कवि, उस काल का जिसकी ख्याति भारत के बाहर मानी जाती थी, शेख नज्मुद्दीन हसन था, जो हसन दिहलवी के नाम से प्रसिद्ध था। विद्या का संरक्षण करना पहला खल्जी शासक नहीं भूला। उसका उत्तराधिकारी अलाउद्दीन भी इसका (विद्या का) उत्साही मित्र मालूम पड़ता है। बरनी “हमें बतलाता है कि सबसे आश्चर्यजनक वस्तु जो लोगों ने अलाउद्दीन के राज्यकाल में देखी वह सभी जातियों के महान् पुरुषों, प्रत्येक विज्ञान के विज्ञ तथा प्रत्येक कला के विशेषज्ञों की बहुतायत।

खुसरो पहला मुसलमान लेखक था जिसने हिन्दी शब्दों तथा भारतीय अलंकारों और विषय वस्तु का प्रयोग किया। इन अद्वितीय महामेधावी पुरुषों की उपस्थिति से दिल्ली राजधानी बग़दाद की ईर्ष्या, काहिरा की प्रतिद्वन्द्विनी तथा कुस्तुनतुनिया की समकक्ष बन गयी थी।” धर्मनिष्ठ एवं शिक्षित विद्वान् निज़ामुद्दीन औलिया तथा बहुत से अन्य विद्वान इसी राज्यकाल में हुए।

विद्वानों को गयासुद्दीन तुगलक़ भी प्रोत्साहन देता था। अपनी काल्पनिक योजनाओं के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुगलक़ जो स्वयं गुण-सम्पन्न व्यक्ति था, कवियों, नैयायिकों, दार्शनिकों तथा वैद्यों का धड़ल्ले से रक्षण करता था तथा उनके साथ अपने राज दरबार में वादविवाद किया करता था। उसके समय के साहित्यिक व्यक्तियों में सबसे प्रमुख

मौलाना मुईनुद्दीन उमरानी था, जिसने हुसैनी, तलखीस तथा मिफ़ताह पर भाष्य लिखे।

फ़ीरोज़ शाह ने, जो स्वयं फतुहाते-फ़ीरोज़शाही का लेखक था, शिक्षा के लिए बहुत उत्साह दिखलाया तथा बहुत-से कालेज स्थापित किये, जिनके साथ मस्जिदें लगी हुयी थीं। उसके समय के विद्वान् पुरुषों में सबसे प्रसिद्ध थे काज़ी अब्दुल मुक़्तदिर शानिही, मौलाना ख्वाजगी तथा अहमद थानेश्वरी। लोदियों में सुल्तान सिकन्दर स्वयं कवि था तथा विद्या को बहुत प्रोत्साहन देता था। प्रान्तीय दरबारों में भी कवि तथा विद्वान रहते थे जिन्होंने फारसी में प्रचूर साहित्य की रचना की।

बहमनी राज्य तथा दूसरे स्वतंत्र मुस्लिम वंशों-जैसे बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा, मालवा, जौनपुर, बंगाल तथा मुल्तान तक-के वंशों के अधिकतर शासक भी विद्या के संरक्षक थे। अध्ययन की एक वैसी शाखा में मुस्लिम लेखकों ने अपना कौशल दिखलाया, जिसकी हिन्दू अपेक्षाकृत उपेक्षा करते थे। उन्होंने सुन्दर गद्य में बहुत-से प्रथम श्रेणी के ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे। इस प्रकार का एक ग्रंथ मिन्हाजुद्दीन की तबक़ाते-नासिरी है, जो इस्लामी जगत् का सामान्य इतिहास है तथा जिसका नामकरण उसके एक आश्रयदाता सुल्तान नासिरुद्दीन के नाम पर हुआ था।

अमीर खुसरो की ऐतिहासिक मसनवियाँ महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से भरी हुयी हैं और खासकर उसकी तारीखे अलाई “अलाउद्दीन खल्जी के राज्यकाल के पहले कुछ वर्षों के दिलचस्प वर्णन से परिपूर्ण है।” जियाउद्दीन बरनी इस युग का सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार था,

जो मुहम्मद बिन तुगलक़ तथा फ़ीरोज़ शाह का समकालीन था। उस समय के दो और महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ थे-‘शम्से-सिराज अफ़ीफ़’ की ‘तारीखे-फ़ीरोज़ शाही’, जो फ़ीरोज़ शाह के राज्यकाल में लिखी गयी तथा यहिया बिन अहमद सरहिन्दी की ‘तारीखे-मुबारक शाही’, जो मुहम्मद बिन तुगलक़ की मृत्यु के लगभग अस्सी वर्षों के बाद लिखी गयी तथा जिसका बाद के लेखकों ने धड़ल्ले से इस्तेमाल किया। सुल्तान लोग साहित्य तथा कला के प्रेमी थे किन्तु उन्होंने एक सीमित प्रकार की संस्कृति को आश्रय दिया।

संदर्भ

- Abbott, Nabia : *Historical Texts, Studies in Arabic Literary Papyri*, Chicago, University of Chicago Press, 1957.
- Al-Hujwiri : *The Kashf al-Mahjub, the Oldest Persian Treatise on Sufism*, London, Luzac Press, 1959.
- Arberry, A.J. : *Sufism : An Account of the Mystics of Islam*, Cosmo, Delhi, 2003.
- Athar Abbas Rizvi : *A History of Sufism in India: From Sixteenth Century to Modern Century*, Munshiram Manoharlal, Delhi, 1992.
- Austin, R.W.J. : *Sufis of Andalusia*, Gloustershire: Beshara Publications, 1988.
- Basham, A.L. : *A Cultural History of India*, Oxford: Clarendon Press, 1975.
- Beeston, A. F. L., : *Arabic Literature to the end of the Umayyad Period*, Cambridge, Cambridge University Press, 1983.
- Benjamin Rowland : *The Art and Architecture of India: Buddhist-Hindu-Jain*, The Pelican History of Art, Penguin Books, 1974.
- Bhattacharyya, A.K. : *A Pageant of Indian Culture : Art and Archaeology*, Abhinav, Delhi, 1995.
- Birkland, Harris : *The Lord Guideth: Studies on Primitive Islam*, Oslo, I Kommissjon Hos H. Aschehoug & Co, 1956.

अधीतकालीन अर्थ संयोजन (ई.पू. 600-ई.पू. 200 तक)

डॉ. आभा सिंह

एमए, प्राचीन इतिहास
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अधीतकालीन अर्थ संयोजन अपने द्रुतगामी लेकिन बुनियादी परिवर्तनों के लिहाज से तो विशिष्ट है ही उपयोगिता एवं व्यापकता के मद्देनजर भी इसके निर्णायक दखल को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। जहाँ एक ओर यह क्रान्तिकारी परिवर्तनों के साथ प्रयाण करती है वहीं दूसरी ओर कुछ नए आयाम, कुछ नए प्रश्न भी प्रक्षिप्त करती है। कुछ तो इतिहास के स्वाभाविक विकासक्रम के तहत और बहुत कुछ मानवीय मेधा के अमन्द उन्नयन के फलस्वरूप विशिष्ट बन बैठी आलोच्य कालावधि की अनोखी अर्थ संरचना के उत्प्रेरक तत्व कई हैं, मसलन-लौह तकनीक का कृषि में अनुप्रयोग, मध्य गंगाघाटी में शहरों का अभ्युदय एवं विकास, विविध हस्त शिल्पों का बड़े तफसील में सूक्ष्मतरंग विभाजन, व्यावसायिक संघो-श्रेणी संगठनों का विकास, मुद्रा अर्थ व्यवस्था, उद्योग धन्धे तथा व्यापार एवं वाणिज्य।

महान् मौर्यों का अभ्युदय इस विशिष्ट कालावधि की अति विशिष्ट परिघटना थी। अर्थ व्यवस्था में एक नई चीज का अनुभव किया जाने लगा और वह था राज्य नियंत्रित अर्थव्यवस्था और उसका सुचारू प्रशासनिक नियमन। विभिन्न आर्थिक गतिविधियों में राजकीय समर्थन से एक उछाल सा आया। अर्थार्जन की हर संभावना को तालाश गया। लगभग सभी वस्तुओं पर कराधान राजस्व की वृद्धि में सहायक हुआ। खानाबदोश चारागाही अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान ग्रामीण अर्थव्यवस्था में रूपान्तरित हो चली थी। महज निर्वाह वाली अर्थव्यवस्था, अधिशेष और उपभोग की अर्थव्यवस्था हो गई। लौह तकनीक ने विविध शिल्पकारों की दक्षता एवं कार्य

क्षमता दोनों को बढ़ावा दिया। शिल्पियों की तकनीकी दक्षता से किसानों की पैदावार को बढ़ावा मिला। इस अधिशेष ने उपभोक्ता वर्ग को स्थापित कर दिया। कारीगरों को उनकी दक्षता एवं कला का मूल्य मिलने लगा था और वह भी मुद्रा के रूप में। मुद्राओं के प्रचलन ने लेन-देन को काफी सुगम बना दिया जिससे व्यापारिक गतिविधियों को बहुत बढ़ावा मिला। बड़े भू-भाग पर एक केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था से आवागमन सुगम हुआ होगा एवं आन्तरिक तथा वाह्य व्यापारिक सिलसिले शुरू हुए होंगे।

नगरीकरण के लिए एक आधारभूत संरचना विकसित हो चुकी थी और प्रो. रामशरण शर्मा ने अपने वैदुष्य विवेचन में पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के तर्क पूर्ण समायोजन से आलोच्य कालावधि में नगरों के अस्तित्व को एक ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध कर दिया है।¹

आर्थिक क्षेत्र में हुए इन परिवर्तनों ने तत्कालीन सामाजिक संगठन को भी कुछ सर्वथा नई भंगिमाओं से लैस कर दिया।² समृद्धि एवं ऐश्वर्य का ग्राफ जहाँ उच्चतम बिन्दुओं को दर्शा रहा था वहीं निर्धनता एवं गरीबी भी उसी ग्राफ में निम्नतम बिन्दुओं को प्रदर्शित कर रही थी।³

अधीत कालीन अर्थ संयोजन को अध्ययन की सुविधा के लिहाज से एवं अवश्य ही बेहतर समझ एवं उसकी तर्क संगत व्याख्या के लिए मौर्य पूर्व यानी 600 ई. पू. से 322 ई. पू. एवं मौर्ययुगीन यानी 322 ई. पू. से 200 ई. पू. के रूप में वर्गीकृत किया गया है।

इसके विभिन्न अवयवों की गहन गवेषणां एवं विस्तृत विवेचन के क्रम में सबसे पहले पड़ताल होगी कृषि एवं तत्सम्बन्धी विविध गतिविधियों की। आलोच्य कालावधि में लोगों की बहुसंख्या जीविकोपार्जन हेतु कृषि पर आश्रित थी। बौद्ध विनय में कृषि को उत्कृष्ट व्यवसायों में उत्कृष्टतम माना गया है।⁴ परन्तु यह उत्कृष्टतम व्यवसाय भी भूमि के बिना तो हो नहीं सकता था, अतः सबसे पहले तो भूमि स्वामित्व की प्रकृति पर विचार आवश्यक प्रतीत होता है कि आखिर भूमि किसके अधीन थी और उस पर स्वामित्व निर्धारण का मानक क्या था?

वस्तुतः यह विषय बड़ा विवादित है। कुछ विचारक राजा के स्वत्व को स्थापित करते हैं तो कुछ व्यक्ति के स्वत्व को

महत्व देते प्रतीत होते हैं। वी.ए. स्मिथ⁶ जे. एन. समदर⁷ तथा व्यूलर⁸ इत्यादि ने भू-स्वामित्व के प्रसंग पर विचार करते हुए भूमि पर राजा के स्वामित्व का अभिनिश्चयन किया है। परन्तु विद्वानों का एक बड़ा वर्ग⁹ भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की अवधारणा के साथ खड़ा प्रतीत होता है, जो अध्येय युग में भी भू-अवधारणा की प्रचलित पद्धति प्रतीत होती है¹⁰। पालिमहावग्ग का एक उद्धरण तो बड़े स्पष्ट शब्दों में अभिव्यंजित करता है कि भूमि भी पशु अथवा धन की तरह व्यक्तिगत सम्पत्ति है एवं इसका स्वामी कोई भी स्त्री अथवा पुरुष हो सकता है¹¹। विनय पिटक से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य कालावधि में भूमि बेची या गिरवी रखी जा सकती थी।¹² आम्रपाली ने अपनी वाटिका बौद्ध संघ को दान स्वरूप दे दिया था।¹³ गौतम ने भी स्पष्ट किया है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु का स्वामी क्रय-विक्रय, दाय स्वरूप प्राप्ति, बंटवारा, अभिग्रहण इत्यादि के आधार पर होता है।¹⁴ राजकुमार जेत तथा राजगृह के श्रेष्ठी के मध्य उठा वह प्रसिद्ध विवाद जो जेतनवन के क्रय-विक्रय को लेकर उत्पन्न हुआ था, प्रकारान्तर से भूमि पर व्यक्ति के स्वत्व की कानूनी मुहर प्रतीत होता है।¹⁵ उपरोक्त स्थितियों का अवलोकन इस तथ्य में संदेह की संभावना ही नहीं रहने देता कि बुद्धकालीन भारत या कर्हें मौर्य पूर्व उत्तरी भारत में भूमि पर व्यक्तिगत स्वत्व की अवधारणा एक आम हकीकत थी।

अब मौर्य युग में भू-स्वामित्व की संकल्पना की शल्य क्रिया के अन्तर्गत मेगस्थनीज के इस विवादस्पद कथन को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया है कि राजा भूमि का स्वामी होता था,¹⁶

क्योंकि अन्य साक्ष्यों के आलोक में इतना भर ही अनुमित किया जा सका कि राजा भूमि का मालिक नहीं अपितु संरक्षक मात्र था¹⁷ और वार्षिक कर के रूप में उपज का एक निश्चित भाग प्राप्त करता था।¹⁸

सच तो यह है कि मौर्य साम्राज्य इतना विस्तृत था कि भूमि पर मिल्कियत की कोई भी एक विधि सर्वत्र नहीं पाई जा सकती थी। फिर भी व्यक्तिगत स्वामित्व की अवधारणा बलवती एवं सुप्रचलित प्रतीत होती है। कौटिल्य ने भूमि की बिक्री से उत्पन्न विवादों के हवाले से भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की अभिव्यंजना की है। एक व्यक्ति द्वारा खेत के स्वामी की अनुमति के बिना उस खेत विशेष से पशु लेकर जाने का उद्धरण आया है।¹⁹ सीमा निर्धारण को लेकर उपजे विवादों का अगर विवरण है²⁰ तो जबरन किसी के खेत के अधिग्रहण पर दण्ड का भी विधान है।²¹ मनु महाराज भी खेत उसी का मानते हैं जिसने उसे खेती के योग्य बनाया।²²

एक अवलोकन इस बात का भी उचित या कर्हें प्रसंगोचित प्रतीत होता है²³ कि कौटिल्य और मनु जैसे राजतंत्र के समर्थक और साम्राज्यवादी सिद्धान्तों के पोषक विचारक व्यक्ति के स्वत्व की बात कैसे करने लगे। जहां एक तरफ कौटिल्य ने²⁴ राजा के भूमि पर स्वामित्व की उद्घोषणाएं की हैं तो मनु ने भी कोई कोर कसर नहीं छोड़ी है।²⁵ परन्तु ये तथ्य कुछ विश्लेषण की मांग कर रहे हैं। कौटिल्य ने कहा है कि जो व्यक्ति खेती करने में अक्षम हो राजा को चाहिए कि उनके खेत जब्त कर लें।²⁶ इसमें भी प्रथम अधिकार व्यक्ति के स्वत्व का ही अवबोधक है। यदि

वह अक्षम हैं, तब राजा का अधिकार बनता है। अन्यत्र भी कौटिल्य ने राजा को स्तत्व तभी प्रदान किया है जब या तो वाद-विवाद के चलते या वंशजों के न होने की स्थिति में कोई जमीन परती रह जाने की संभावना रहती रही हो।²⁷

कौटिल्य की मंशा अधिकाधिक राजस्व की उगाही थी जिससे इतनी विशाल राजशाही निर्वाध चलती रहे। उसने भूमि पर व्यक्ति के स्तत्व को बढ़ावा दिया ताकि किसान अधिक उत्पादन के लिए उत्प्रेरित हों परन्तु किसी भी स्थिति में भूमि खाली न रहे इसलिए एक कृषि अधीक्षक के निरीक्षण में ऐसी भूमि पर भी खेती को बढ़ावा दिया जो राज्य द्वारा अधिग्रहीत की जाती थी। वस्तुतः यह अर्थ व्यवस्था में कृषि के महत्व का अभिघोषण तो है ही, कृषि की अधिकतम संभावनाओं की खोज एवं उनके अधिकतम दोहान की सुचारु सुव्यवस्था भी है।

अब कृषि योग्य भूमि के वर्गीकरण की विवेचना वाजिब होगी क्योंकि जब कृषि की महत्ता इतनी अधिक बढ़ चुकी थी तो उसके वर्गीकरण एवं उसके प्रकारों पर भी ध्यान दिया जाता रहा होगा। पालिविनय के एक दृष्टान्त में 'जाता पथवी' और 'अजाता पथवी' यानी उपजाऊ और अनुपजाऊ भूमि के रूप में वर्गीकरण प्राप्त होता है।²⁸

एक सुत्त में खेत के तीन प्रकारों की चर्चा है-1 उत्कृष्ट, 2. मध्यश्रेणी के 3. निम्न श्रेणी के, जो संभवतः जंगल या ऊसर रहा होगा। भिक्षुओं की तुलना उत्कृष्ट श्रेणी के खेत से, उपासकों की मध्यम श्रेणी से एवं अन्य धर्मानुयायियों की तुलना तीसरी श्रेणी यानी निम्नतम कोटि के खेत से की गई है।²⁹ खेत सुत्त में³⁰ आठ अच्छे प्रकार के खेतों का विवरण है तो आठ कम

उपजाऊ श्रेणियां भी वर्णित हैं।³¹ वह भूमि जो पथरीली रेतीली न हो तथा जिसमें सिंचाई सुलभ हो, वह अच्छी एवं उपजाऊ भूमि मानी जाती थी।³² एवं इसके विपरीत भूमि अनुपजाऊ मानी जाती रही होगी। खेतों के आकार प्रकार सुविधानुसार निर्धारित किए जाते रहे होंगे। उन पर मेड़ बांधी जाती थी। इससे जहां सीमांकन आसान हो जाता रहा होगा वही सिंचाई की सुविधा भी बढ़ जाती रही होगी। उपरोक्त तथ्यों के मद्देनजर यह अनुमानित होता है कि कृषि योग्य भूमि छोटे-छोटे खेतों में बंटी रहती होगी क्योंकि सुविधा इस तरह इस समय भी है और उस समय भी रही होगी।³³ हां, फसलों के आधार पर खेतों की पहचान की परम्परा दृष्टिगोचर होती है क्योंकि विनय में³⁴ 'यवखेत, (जिस खेत में यव बोया गया हो) एवं 'सालिखेत' (जिसमें सालि बोया गया हो) का उल्लेख तो आता ही है पाणिनि³⁵ ने भी त्रैहैय (एक तरह का चावल 'ब्रीहि' जिसमें बोया गया हो) शालेय, (शालि का खेत) यव्य इत्यादि का जिक्र किया है।

अब आलोच्य कालावधि में कृषि के स्वरूप उसकी प्रक्रिया, प्रविधि एवं उपकरणों का लेखा जोखा उपादेय ही नहीं अपितु आवश्यक भी प्रतीत होता है। ताकि यह पता चले कि कैसे प्राविधिक शक्तियों के विकास ने कृषि के स्वरूप को प्रभावित किया, उत्पादन बढ़ा कर अधिशेष एवं उपभोग की अर्थव्यवस्था का सूत्रपात किया।

अपने पूर्ववर्ती काल की तुलना में बुद्ध का काल यानी मौर्य पूर्व काल कृषि क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि का काल है। चुल्लवग्ग के हवाले से प्रो.जी.एस. पी मिश्र³⁶ कृषि प्रक्रिया के सिलसिले वार व्यौरा का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

पाणिनि ने भी कृषि कार्यों का काफी तफसील में जाकर विवरण प्रस्तुत किया है।³⁷ गृहय सूत्रों में कृषि तथा पशुपालन की वृद्धि सुरक्षा तथा संरक्षा के निमित्त कई यज्ञों के प्रतिपादन का विधान दिया गया है।³⁸

सर्वप्रथम खेतों की जुताई का विवरण आता है। पाणिनी खेतों के दो या तीन बार जोते जाने की बात कहते हैं और इस कार्य के लिए 'हल' को व्यवहृत बताते हैं।³⁹ हल के लिए 'लांगल' शब्द का प्रयोग हम वैदिक काल में देख-जान चुके हैं।⁴⁰ और पालि बौद्ध ग्रन्थों में हल के लिए 'हल' शब्द के अतिरिक्त 'सीर' का भी प्रयोग किया है।⁴¹ हल की फाल निश्चित ही लोहे की बनी रहती होगी।⁴² लोहे के हल के फाल के विकल्प के तौर पर 'कुद्याल' अथवा फावड़ा भी प्रयुक्त होता रहा होगा।⁴⁴ इन उदाहरणों से यह निष्कर्षित होता है कि तत्कालीन परिस्थितियों में जुताई के प्रति विशेष सावधानी बरती जाती थी और जैसा कि डॉ.वी.एस. अग्रवाल ने पाणिनी मेगस्थनीज और कौटिल्य का हवाला देते हुए स्थापित भी किया है कि जुताई तीन बार, सात बार या इससे भी अधिक बार की जाती थी।⁴⁵

हल खींचने के लिए बैलों का जोड़ा उपयोग में लाया जाता था।⁴⁶ आज भी कृषि-प्रौद्योगिकी की इतनी प्रगति के बावजूद व्यापक रूप से बैलों द्वारा ही जुताई होती है और तब तो कृषि कार्यों में पशुओं का उपयोग अपने आप में उच्च तकनीक का प्रवर्तन था। खेत जोतने के क्रम में हल के द्वारा धरती पर पड़ी लकीरों 'हराई' के लिए 'सीता' शब्द का व्यवहार होता था।⁴⁷

अच्छी तरह से जुताई के बाद तैयार खेत में बीज-बपन होता था। विनय की टीका करते हुए बुद्धघोष ने 'उदकवप्प'

तथा 'थूलवप्प' नामक बोवाई की दो विधियाँ भी बताई है।⁴⁸ प्रथम प्रकार जलमग्न खेत में बोआई से तो दूसरा सूखे खेत में बोआई से सम्बद्ध प्रतीत होता है। बोवाई के काम में स्त्रियों की भी भागीदारी होती थी⁴⁹ जो सम्भवतः निम्न वर्णों की ही होती रही होगी जिनके पतियों को भी कृषि कार्य में नियोजित किया गया रहा होगा⁵⁰ बीजों की भी कम से कम पांच कोटिया निर्धारित पाये हैं,⁵¹ 'मूल बीज', जड़ का बीच के रूप में प्रयोग, 'खंधबीज' या 'स्कन्ध' बीज जिसमें तना बोया जाता था, 'फलबीज' जिसमें जोड़ों को बोया जाता था, 'बीज बीज' जिसमें बीज का ही बपन होता था।

आलोच्य कालावधि में कृषि के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण विकास था धान रोपने की पद्धति का प्रवर्तन।⁵² प्रारम्भिक पालिग्रन्थों के आधार पर धान की रोपाई को ई.पू. 500 के आस-पास प्रचलित हुआ माना जा सकता है, क्योंकि धान की रोपाई के सम्बद्ध कई शब्द तत्कालीन पालि ग्रन्थों में खोजे जा सकते हैं।⁵³ एक और पालि शब्द 'बीजनि पतिट्ठापोत्ति' स्पष्टतः पौधों की रोपाई अभिव्यंजित करता है।⁵⁴

संदर्भ संकेत

1. प्रधानतया लोहे के फाल की खेती से आशय है।
- (क) एक परवर्ती पालि ग्रन्थ में 'अयंगल' अथवा लोहे के हल के फाल का विवरण प्राप्त होता है (पालि इंग्लिश डिक्सरी, पालिटेक्ट सोसायटी, लंदन 1921 में 'अयनंगल' शब्द के अन्तर्गत टी. डब्लू. राइज डेविड्स इत्यादि विद्वान)
- (ख) सुत्तनिपात के कोकालिक सुत्त में लौह फाल को दिन भर धूप में तपाए जाने का उल्लेख है।
- (ग) पाणिनि ने लोहे की फाल को 'अयोविकार कुशी' कहा है। पुनश्च पाणिनि एवं प्रारम्भिक पालिग्रन्थ 'अयोधन' की चर्चा भी करते हैं जो शायद 'हथौड़ा' को

- अभिव्यक्त करता है, उपरोक्त सन्दर्भों के लिए देखें रामशरण शर्मा की 'प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं' पृ.-138, एवं विवरण हेतु, वही, पृ.-137, 38, 39, 40, 41, 42, 43,
2. शर्मा आर.एस, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, राजकमल प्रकाशन, पृ.-156-57
शर्मा आर.एस, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ.-146-47,
3. कौसाम्बी डी.डी, द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन आफ इण्डिया इन हिस्टारिकल, आउटलाइन, लन्दन 1965 पृ.-100.1021
4. जहां श्रेष्ठियों एवं गृहपतियों के ऐश्वर्य पूर्ण जीवनचर्या के दृष्टान्त भरे पड़े हैं वहीं दरिद्रता के भी अनेकशः उद्धरण मिलते हैं, जैसे-महावग्ग, पृ.-230, 266 एवं पाराजिक पृ.-91
5. पाचितिय पृ.-11
6. स्मिथ, वी.ए., अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ.-173
7. समददर, जे.एन., लेक्चर्स आन दि इकानामिक कन्डीशन इन एन्ग्रैट इण्डिया, कलकत्ता 1922, पृ.-168।
8. द. सैक्रेड बुक्स आफ दि इस्ट, जि.-35 पृ.-259, मनु 8.39 पर टिप्पणी
9. द्र., के.पी जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ.-330 के.आर. आर्यंगार, ऐन्ग्रैट इण्डियन इकानामिक थॉट, पृ.-104, अन्यानेक विद्वान भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व की पुष्टि के लिए वैदिक साक्ष्यों का हवाला देते हैं। जैसे श्रेडर, मैकडानेल और कीथ, वन्दोपाध्याय तथा धोपाल इत्यादि। इनके विस्तृत विवरण के लिए ओम प्रकाश की पुस्तक 'प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, चतुर्थ संस्करण के आर्थिक इतिहास खण्ड के द्वितीय अध्याय की सन्दर्भ संख्याएं 1,2,3 और 4 देखी जा सकती है, अपरंच जी.एस.पी मिश्र की 'प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था' पृ.-148 भी द्रष्टव्य है।
10. यवरवेत्त सामी ब्राह्मणवल्थु, पाचितिय, पृ. 362, वही पृ. 71 आचारंग सूत्र (जैन सूत्र भाग 1) पृ. 19, यहाँ स्पष्ट शब्दों में भूमि और गृह की चर्चा सम्पत्ति के व्यक्तिगत मद में है। जातक, 3, 301 आगे, दीघ निकाय, 12.71
11. महावग्ग, पृ. 156, द्र मिश्र जी.एस.पी., प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ. 184-“इधधन भिक्खवे...हिरण्यं वादे देमि, सुवण्णं वाते देमि खेत्त वाते देमि.. चीवर”
12. विनय पिटक 2, 158, 159
13. महावग्ग, पृ. 248, थेरी गाथा, 340
14. गौतम, 10, 39, 41
15. चुल्लवग्ग, पृ. 252-253
16. थापर रोमिला, अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, पृ. 61
17. जायसवाल, के.पी., हिन्दू पालिटी, खण्ड 2, पृ.-137, 88
18. श्रीमती राइज डेक्विट्स, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि. 1, अं. 8, पृ. 176।
19. अर्थशास्त्र 3.9.7
20. वही 3, 10, 26
21. अर्थशास्त्र, 3, 17, 8
22. मनुस्मृति, 9.44
“पृथोरपीमां पृथिवीं भार्या पूर्व विदो विदुः स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम्॥”
23. मिश्र जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ.-599
24. अर्थशास्त्र 2.24, 2.1
भट्टस्वामी का भाष्य, अर्थशास्त्र 2.24
25. मनुस्मृति, 8.39, मेघातिथि, मनु 8.39
26. अर्थशास्त्र, 2.1.10
27. अर्थशास्त्र, 3.9
28. पाचितिय, पृ. 53, 'जाता पथवी' और 'अजाता पथवी' का अर्थ उपजाऊ और अनुपजाऊ भूमि ज्यादा तर्कसंगत प्रतीत होता है, जिसे जी.एस.पी. मिश्र ने अपनी पुस्तक 'दि एज आफ विनय' की पृ. सं. 243-44 पर टि. 24 के रूप में प्रस्तावित किया है। 'बुक आफ दि डिसिप्लिन' भाग-2 पृ. 233-24 पर आई. वी. हार्नर ने इसका अर्थ 'नेचुरल' तथा 'आर्टीफिसिलय' बताया है परन्तु बाद में उन्होंने भी प्रो. मिश्र के अनुवाद को ही संस्तुति प्रदान की है।
29. संयुक्त निकाय, 4, 314-17
30. अंगुत्तर निकाय, 4. 237-38
31. अंगुत्तर निकाय, 4.237
32. मिश्र, जी.एस.पी 'प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था पृ.186।
33. विस्तृत विवरण के लिए देखें, मिश्र जी. एस.पी 'प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था, पृ.-185-86
34. पाराजिक, पृ. 28
35. अष्टाध्यायी, 5.2.2
36. जी.एस.पी मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ. 186।
37. अग्रवाल, वी.एस., पाणिनि कालीन भारतवर्ष, हिन्दी, वाराणसी, 1996 पृ. 201।
38. रामगोपाल, इण्डिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज, अध्याय 19।
39. अग्रवाल, ऊपर उल्लिखित, पृ. 199।
40. द्र. वैदिक इंडेक्स, जि. 2, पृ. 311
41. चुल्लवग्ग, पृ. 279।
अत्यत्र, पालि इंग्लिश डिक्शनरी में 'नंगल' शब्द के अन्तर्गत यह बताया गया है कि प्रारम्भिक पालिग्रन्थों के यह शब्द बहुशः प्रयुक्त है।
42. अष्टाध्यायी, 3.2.183, 4.3.124, 4.4. 81।
43. लोहे की फाल के प्रयोग से सम्बन्धित विवरण के लिए देखें इसी अध्याय की सन्दर्भ संख्या-10।
44. बौधायन धर्मसूत्र, 3.2.5.6।
45. अग्रवाल, पूर्वोद्धृत, पृ. 200।
46. सोमदत्त जातक, जातक, जि. 2. संख्या 211, पृ. 115।
47. जी.एस.पी मिश्र, दि एज आफ विनय, पृ. 245. सीता का कृषि की देवी के रूप में उल्लेख, ऋग्वेद तथा परवर्ती संहिताओं में और गृह्यसूत्रों में सीता का हराइयो की देवी के रूप में वर्णन जरूर एक ही तथ्य की ओर इशारा करते हैं कि इनका आपसी सह सम्बन्ध है। हराई से ही 'सीता' जनक की पुत्री का जन्म भी आकस्मिक नहीं प्रतीत होता।
48. आई.वी. हार्नर, द बुक आफ दि डिसिप्लिन भाग 1 पृ. 220. टि.1
49. पाराजिक पृ. 189।
50. विशेष विवरण के लिए देखें प्रस्तुत पुस्तक का आगामी अध्याय एवं उसकी सन्दर्भ सं. 28।
51. जी.एस.पी. मिश्र, दि एज आफ विनय, पृ. 245-46।
52. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 143।
53. पालि इंग्लिश डिक्शनरी में 'रोपेति' शब्द के अन्तर्गत।
54. अंगुत्तरनिकाय, 1, पृ. 239-40 'पतिटोपेति' शब्दा को पालि इंग्लिश डिक्शनरी में भी देखा जा सकता है जिसकी इसका अर्थ, 'स्थापित करना' प्रतिष्ठापित करना, में रख देना इत्यादि किया गया है।

विजयनगर साम्राज्य का आर्थिक एवं समाजिक जीवन

डॉ. कुमारी अनीता सिंह

एमए, इतिहास
राँची विश्वविद्यालय, राँची

आर्थिक जीवन

विजयनगर का आर्थिक जीवन खुशहाल था। विजयनगर साम्राज्य के विषय में पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं सदियों में भारत का भ्रमण करने वाले विदेशी यात्रियों ने देदीप्यमान विवरण लिख छोड़े हैं।

लेखकों के अनुसार विजयनगर शहर विशाल दुर्गों से घिरा तथा बृहदाकार था। इटली का यात्री **निकोली कोण्टी**, जिसने, लगभग 1420 ई. में यहाँ भ्रमण किया था, लिखता है : “नगर की परिधि साठ मील है। इसकी दीवाले पहाड़ों तक चली गयी हैं तथा उनके अधोभाग में घाटियों को परिवेष्टित करती हैं, जिससे इसका विस्तार बढ़ जाता है। अनुमान किया जाता है कि इस नगर में अस्त्र धारण करने के योग्य नब्बे हजार आदमी हैं। राजा भारत के सभी अन्य राजाओं से अधिक शक्तिशाली है।”

यात्री **अबदुर्रज़ाक**, जो फारस से भारत आया था तथा 1442-1443 ई. में विजयनगर गया था, लिखता है : “उस देश में इतनी अधिक जनसंख्या है कि कम स्थान में उसका अन्दाज देना असम्भव है। राजा के कोष में गड्ढे-सहित प्रकोष्ठ हैं, जो पिघले हुए सोने के थोक से भरे हैं। देश के सभी निवासी-ऊँच अथवा नीच, यहाँ तक कि बाजार के शिल्पकार तक कानों, गलों, बाँहों, कलाइयों तथा अंगुलियों में जवाहरात एवं सोने के आभूषण पहनते हैं।”

एक अन्य यात्री **डोमिंगोस पीज़** (पेज या पेइस) जो एक पुर्तगीज था तथा जिसने विजयनगर का एक विस्तृत विवरण लिखा है, कहता है : “इसके राजा के पास भारी खजाना है। उसके पास बहुत सैनिक एवं बहुत हाथी हैं, क्योंकि इस देश

में ये बहुतायत से मिलते हैं।.....इस नगर में आपको प्रत्येक राष्ट्र एवं जाति के लोग मिलेंगे, क्योंकि यहाँ बहुत व्यापार होता है तथा बहुत-से बहुमूल्य पत्थर मुख्यतः हीरे पाये जाते हैं। यह संसार में सबसे सम्पन्न नगर है। यह चावल, गेहूँ, अन्न, मकई-जैसे खाद्य पदार्थों तथा कुछ मात्रा में जौ एवं सेम, मूंग, दलहन, चने (घोड़े का दाना) तथा इस देश में उपजने वाले बहुत-से अन्य बीजों से परिपूर्ण है। ये लोगों के भोजन हैं, और यहाँ इनका बड़ा भंडार है, तथा ये बड़े सस्ते हैं। गलियाँ तथा बाजार अनगिनत लदे हुए बैलों से भरे रहते हैं।

1516 ई. में एडोअर्डो बारबोस जो भारत में उपस्थित था, विजयनगर का वर्णन करते हुए लिखा है, “अत्यन्त विस्तृत, अति जनाकीर्ण तथा देशी हीरों, पेगू की लाल-मणियों, चीन एवं अलेक्जेंड्रिया के रेशम और मालाबार के सिंदूर, कपूर, कस्तूरी, मिर्च एवं चन्दन के क्रियाशील व्यापार के स्थान” के रूप में करते हैं।

आर्थिक अवस्था

साम्राज्य के विभिन्न भागों में खेती का कार्य उन्नति पर था। स्थानीय शासकों द्वारा कर कड़ाई से वसूल किए जाते थे।

भू-राजस्व प्रशासन :—राजस्व नगद और जिंस दोनों में वसूल किया जाता था। **सिद्धदाय** नगद राजस्व को कहा जाता था। भू-राजस्व से सम्बंधित विभाग **अठनवे** विभाग कहलाता था और भू-राजस्व को **शिष्ट** कहा जाता था। विजयनगर साम्राज्य में विभेदकारी कर पद्धति प्रचलित थी।

जमीनों को कई भागों में विभाजित किया जाता था, यथा भीगी जमीन, सूखी जमीन और वन एवं जंगल। भू-राजस्व की राशि उपज के 1/6 भाग से 1/3 भाग तक निर्धारित थी। ब्राह्मणों को उत्पादन का 1/20 भाग कर के रूप में देना पड़ता था और मंदिरों को 1/30 भाग देना पड़ता था।

कन्दाचार सैनिक विभाग को कहा जाता था और उसके प्रमुख महादण्डनायक कहलाते थे। न्यायालय चार प्रकार के होते थे:—1. तिष्ठिता 2. चल 3. मुद्रिता और 4. शास्त्रिता। कानून के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य स्मृति और पराशर स्मृति पर माधव का टीका महत्वपूर्ण ग्रंथ था।

व्यवसायों एवं मकानों पर भी भू-राजस्व कर के अतिरिक्त कर लगते थे। राजमहल की सुरक्षा से सम्बन्धित अधिकारी **कवलकरस** था। वह नायको के अन्दर कार्य करता था।

कभी-कभी पुलिस के अधिकारों को बेच दिया जाता था जिसे **पदिकावल** कहा जाता था। पुलिस कर को **अरसुस्वतंत्रम्** कहा जाता था।

विजयनगर साम्राज्य में विदेशी विवरणों एवं अन्य साधनों से भी यह स्पष्ट है कि असीम समृद्धि थी। राज्य के विभिन्न भागों में खेती उन्नति पर थी तथा राज्य सिंचाई की एक बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का अनुसरण करता था। सिंचाई में भूमि अधिकार के एक श्रेणी के अन्तर्गत पूंजी निवेश के द्वारा आय प्राप्त की जाती थी। तमिल क्षेत्र में इसे **दशवन्दा** एवं आन्ध्र तथा कर्नाटक में **कटटूकोडगै** कहा जाता था। भूमि ग्राम में कुछ विशेष सेवाओं के बदले प्रदान की जाती थी, ऐसी भूमि को **उबलि** कहा जाता था। युद्ध में मारे जाने वाले व्यक्ति के परिवार को दी गयी भूमि को **रत्कोडगै** कहलाती थी।

कुट्टगि पट्टे पर ली गयी भूमि को कहा जाता था। भू-स्वामी एवं पट्टेदार के बीच उपज के हिस्सेदारी को **वारम** कहा जाता था। कृषक मजदूर कुट्टि कहलाते थे। भूमि की खरीद बिक्री के साथ कभी-कभी कृषक मजदूर भी हस्तांतरित कर दिये जाते थे। विदेशी व्यापार उन्नत अवस्था में था। मालावर तट पर सबसे महत्वपूर्ण बन्दरगाह कालीकट था। अब्दुर रज्जाक के अनुसार सम्पूर्ण साम्राज्य में 300 बन्दरगाह थे।

निर्यात की मुख्य वस्तुएँ थीं कपड़ा, चावल, शोरा, लोहा, चीनी एवं मसालें। साम्राज्य में आयात की मुख्य वस्तुएँ थीं घोड़े, मुक्ता, ताँबा, मूंगा, पारा, चीनी, रेशम और मखमल। अब्दुर रज्जाक के अनुसार चुंगीघर के आफीसर व्यापारिक सामानों की देख-रेख करते थे और बिक्री पर 40वाँ हिस्सा कर के रूप में लेते थे।

काली मिर्च का मलक्का के साथ अच्छा व्यापार था। इतालवी यात्री बार्थेमा

(1505 ई.) के अनुसार कौम्बे के निकट बहुत बड़े परिमाण में सूती वस्त्र बनते थे और हर साल सूती और सिल्क वस्त्र से लादे हुए 40 या 50 जहाज विभिन्न देशों में भेजे जाते थे।

सिक्के बनाने के लिए विजयनगर साम्राज्य में तीन प्रकार के धातु प्रयुक्त होते थे—सोना, चाँदी और ताँबा। अब्बदुर रज्जाक भी शाही टकसाल का उल्लेख करता है। बराह और पेरदा सोने के सिक्के कहलाते थे जबकि मिश्रित धातु (सोना और चाँदी) **परतब** (वराह का आधा), **फनम** (परतब का आधा हिस्सा) कहलाते थे।

फनम इन सब सिक्कों में सबसे ज्यादा उपयोगी था। चाँदी का सिक्का **टार** (फनम का छठा हिस्सा) था और ताँबा का सिक्का **डिजटेल** कहलाता था। वस्तु विनमय की अपेक्षा विदेशी व्यापार में मुद्रा की अधिक आवश्यकता थी। विजयनगर साम्राज्य में अनेक टकसालें थीं तथा प्रत्येक प्रांतीय राजधानी की अपनी टकसाल होती थी।

तटीय क्षेत्रों में स्थानीय मुद्राओं के अतिरिक्त विदेशी मुद्रा भी प्रचलित थी:—जैसे पुर्तगाली **मुद्रा कुजेडो**, **फारसी-दीनार**, इटली का **फ्लोरीन** तथा **दुकत**। ग्रामीण विकास में मंदिरों की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। मंदिर कृषि और व्यापार के अतिरिक्त सूद पर भी रुपये देते थे। ऋण पर ब्याज की दर 12 प्रतिशत से 30 प्रतिशत तक वार्षिक होता था। जब कर्जदार ऋण नहीं चुका पाता था तो उसकी भूमि मंदिर की हो जाती थी।

बंजर भूमि मंदिर ही खरीद कर और उस पर जुलाहों को बसा कर अथवा सिंचाई योजनाओं का निरीक्षण कर ग्राम विकास को प्रोत्साहन देते थे। प्रमुख व्यवसाय बुने हुए कपड़ों, खानों की खुदाई तथा धातुशोधन विद्या से सम्बन्धित थे तथा छोटे व्यवसायों में सबसे महत्वपूर्ण

गंधी का पेशा था। राज्य के आर्थिक जीवन में शिल्पियों एवं व्यापारियों के संघों का एक महत्वपूर्ण भाग था। इस विषय पर अब्दुरज्जाक लिखता है : “प्रत्येक पृथक् संघ अथवा शिल्प के व्यापारियों की दूकानें एक दूसरे के निकट हैं।” पीज भी कहता है : “प्रत्येक गली में मंदिर हैं, क्योंकि ये (मंदिर) सभी शिल्पियों तथा व्यापारियों की संस्थाओं (ये संस्थाएँ हम लोगों के देश के गिल्ड के समान होती हैं जिन्हें आप जानते हैं) के होते हैं।”

देश के भीतर का, तटवर्ती एवं सामुद्रिक व्यापार। राज्य की आर्थिक अवस्था की सबसे उल्लेखनीय विशेषता थी मालाबार तट पर सबसे महत्वपूर्ण बन्दरगाह कालीकट तथा अब्दुरज्जाक के लेखानुसार साम्राज्य में “तीन सौ बन्दरगाह” थे। साम्राज्य का भारत में हिन्द महासागर के द्वीपों, मलय द्वीपसमूह, बर्मा, चीन, अरब, फारस, दक्षिण अफ्रिका, अबिसीनिया एवं पुर्तगाल के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। निर्यात की मुख्य वस्तुएँ कपड़ा, चावल, लोहा, शोरा, चीनी एवं मसाले थे।

विजयनगर साम्राज्य के आयात घोड़े, हाथी, मुक्ताएँ, ताम्बा, मूंगा, पारा, चीनी रेशम एवं मखमल थे। देश के आन्तरिक व्यापार के यातायात के सस्ते साधन कांवाड़ी, सिर पर बोझ ढोने वाले, लददू घोड़े, लददू बैल, गाड़ियाँ एवं गधे थे। जहाजों का तटवर्ती एवं सामुद्रिक व्यापार के लिए व्यवहार किया जाता था। बारबोसा के लेखानुसार दक्षिण भारत के जहाज मालदीप द्वीपों में बनते थे।

अभिलेख-सम्बन्धी प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि विजयनगर के शासक जहाजी बेड़े रखते थे तथा पुर्तगीजों के आगमन के पहले वहाँ के लोग जहाज-निर्माण कला से परिचित थे। इस बात का कोई निश्चित ज्ञान नहीं है कि किस प्रकार विजयनगर-साम्राज्य

“समुद्री यातायात के महत्वपूर्ण प्रश्न को हल करता था।” विजयनगर-साम्राज्य के सिक्के विभिन्न प्रकार के होते थे। ये सोने और ताँबे दोनों के थे; चाँदी के सिक्के का एक ही नमूना था। सिक्के पर विभिन्न देवताओं एवं पशुओं के प्रतीक रहते थे, जो शासकों के धार्मिक विश्वास के अनुसार बदलते रहते थे। वस्तुओं के मूल्य कम थे।

रहन-सहन के विषय में विदेशी यात्रियों के विवरणों से हमें मालूम होता है कि उच्च वर्ग के लोगों के रहने का स्तर ऊँचा था। पर अभिलेखों से हम जानते हैं कि साधारण जनता भारी करों के बोझ से कराह रही थी, जो स्थानीय शासकों द्वारा कड़ाई से वसूले जाते थे। कभी-कभी सर्वोच्च शासक इन स्थानीय शासकों पर प्रतिबन्ध लगाते थे।

सामाजिक जीवन

विजयनगर साम्राज्य में ब्राह्मणों को उच्च स्थान प्राप्त था। विदेशी यात्रियों के विवरणों, अभिलेखों तथा साहित्य में विजयनगर-साम्राज्य के लोगों के सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के संकेत प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिनमें हम यहाँ केवल अधिक महत्वपूर्ण पहलुओं का अध्ययन कर सकते हैं। सामान्यतः स्त्रियों का समाज में ऊँचा स्थान था तथा देश के राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक जीवन में उनके सक्रिय भाग लेने के दृष्टान्त दृश्य प्राप्त नहीं हैं।

स्त्रियों को कुश्ती लड़ने, तलवार एवं ढाल चलाने तथा संगीत एवं अन्य ललित कलाओं में प्रशिक्षित होने के अतिरिक्त कम-से-कम कुछ अच्छी साहित्यिक शिक्षा दी जाती थी।

इस विषय में नूनज लिखता है : “उसके (विजयनगर के राजा के) पास मल्ल युद्ध करने वाली, ज्योतिष-विद्या जानने वाली एवं भविष्यवाणी करने वाली स्त्रियाँ भी हैं। उसके पास ऐसी स्त्रियाँ

हैं, जो फाटकों के अन्दर किये गये खर्चों का पूरा हिसाब लिखती हैं। अन्य स्त्रियाँ भी हैं, जिनका कर्तव्य है राज्य के कार्यों को लिखना तथा अपनी पुस्तकों की बाहरी लेखकों की पुस्तकों से तुलना करना। उसके पास संगीत के लिए भी स्त्रियाँ हैं, जो वाद्य बजाती तथा गाती हैं। राजा की पत्नियाँ तक संगीत में दक्ष हैं।.....कहा जाता है कि उसके पास न्यायाधीश एवं नाजिर हैं और पहरेदार भी हैं, जो हर रात राजमहल में पहरा देते हैं; “तथा ये स्त्रियाँ हैं।”

धनी वर्गों में पत्नियों की अनेकता विशेष रूप से प्रचलित प्रथा थी। बाल-विवाह सामान्य रीति थी। सामाजिक जीवन में सम्भ्रान्त लोगों में अत्यधिक दहेज ऐंठने की कुप्रथा उग्र रूप में प्रचलित थी। कभी-कभी विभिन्न सम्प्रदायों में झगड़ों को सुलझाने के लिए राज्य सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप किया करता था। सती प्रथा विजयनगर में बहुत प्रचलित थी तथा ब्राह्मण स्वच्छन्दता से इसके लिए अनुमति देते थे।

ब्राह्मणों का शासकों से उच्च सम्मान पाने के कारण महत्वपूर्ण प्रभाव केवल सामाजिक एवं धार्मिक बातों में ही नहीं, बल्कि राज्य के राजनीतिक मामलों में भी था। उनके विषय में नूनज उनका वर्णन “ईमानदार, व्यापार में संलग्न, बहुत चतुर, अत्यंत मेधावी हिसाब-किताब में परम दक्ष, दुबले-पतले तथा सुगठित, पर कठिन कार्य के अयोग्य व्यक्तियों” के रूप में करता है।

भोजन के मामलों में कड़े प्रतिबन्ध नहीं थे। फलों, सब्जियों तथा तेल, के अतिरिक्त, साधारण लोग बैलों एवं गायों का, जिनके लिए लोगों में बड़ी श्रद्धा थी, मांस छोड़ कर, सभी प्रकार के मांस खाते थे। पर ब्राह्मण किसी “जीवित वस्तु” को कभी मारते अथवा खाते नहीं थे।

नूनज विजयनगर के राजाओं के भोजन का विवरण इस प्रकार देता है : “विसनग (विजयनगर) के ये राजा हर प्रकार की वस्तु खाते हैं, पर बैलों अथवा गायों का मांस नहीं। इन्हें वे कभी नहीं मारते, क्योंकि वे इनकी पूजा करते हैं। वे भेड़ का मांस, सूअर का मांस, हरिण का मांस, तीतर, खरगोश, पंडुक, बटेरें तथा सब तरह की चिड़ियाँ-यहाँ तक कि गौरैया, चूहे, बिल्लियाँ तथा छिपकिलियाँ भी खाते हैं। ये सभी चीजें, विसनग (विजयनगर) शहर के बाजार में बिकती हैं। हर चीज को जीवित बेचना पड़ता है, ताकि हरेक आदमी यह जान सके कि वह क्या खरीद रहा है। यह बात कम-से-कम आखेट के जानवरों और पक्षियों के साथ है। नदियों से मछलियाँ भी अधिक परिमाण में आती हैं।”

इस विषय पर डाक्टर स्मिथ लिखते हैं कि यदि पीज एवं नूनज के विवरण सत्य हों, तो यह राजकुमारों तथा लोगों के लिए “एक विचित्र भोजन-तालिका थी, जो कृष्णदेवराय एवं अच्युत राय के समय में जो कट्टर हिन्दू थे तथा विष्णु के कुछ रूपों के प्रति विशेष भक्ति रखते थे।” इस बारे में अधिक सम्भावना यह है कि चूहे, बिल्लियाँ तथा छिपकिलियाँ समाज के निम्न वर्ग के लोग खाते थे, जो विजयनगर के जन-समाज के अनार्य तत्त्व थे।

राज्य में विदेशी यात्री बहुत से बलिदानों का वर्णन करते हैं। पीज के लेखानुसार राजा चौबीस भैंसों और डेढ़ सौ भेड़ों का बलिदान होते देखा करता था, जिसमें एक बड़े हँसुए के एक ही बार में जानवर का सिर काट लिया जाता था। प्रसिद्ध “नवरात्रि पर्व” के अन्तिम दिन अढ़ाई सौ भैंसों तथा साढ़े चार हजार भेड़ों की बलि चढ़ाई जाती थी।

तीन प्रकार की विजयनगर की सामाजिक संरचना की विशेषताएँ थीः—

1. **दक्षिण भारत के ब्राह्मणों की धर्म निरपेक्ष भूमिका:**—महत्त्वपूर्ण राजनीतिक पदों को दक्षिण भारत के ब्राह्मण सुशोभित करते थे। वे मंत्री, सेनानायक, दुर्ग रक्षक आदि पदों पर नियुक्त होते थे।
2. **निचले सामाजिक समूहों में दोहरा विभाजन:**—दाएँ हाथ और बाएँ हाथ में निचले सामाजिक समूह विभाजित थे। **दाएँ हाथ से जुड़ी हुयी जातियाँ वैष्णव** होती थी और **बाएँ हाथ से जुड़ी हुयी जातियाँ शैव** होती थी। दाएँ हाथ से जुड़ी हुयी जातियाँ कृषि उत्पादन तथा कृषि उत्पादों एवं स्थानीय व्यापार में संलग्न थीं जबकि बाएँ हाथ से जुड़ी जातियाँ गैर कृषि उत्पादन, व्यापार तथा शिल्प से संबद्ध थी।
3. **समाज का क्षेत्रीय खंडीकरण:** समाज के क्षेत्रीय खंडीकरण से तात्पर्य है, समाज का प्राकृतिक उपक्षेत्रों में विभाजन अर्थात् एक क्षेत्र में निवास करने वाली जाति दूसरे क्षेत्र के उसी जाति से रक्त संबंध नहीं जोड़ पाती थी और इसी का स्वाभाविक परिणाम था कि दक्षिण में भाई-बहन और मामा-भांजी में वैवाहिक संबंध वर्जित थे। सुनारों, लोहारों एवं बढ़ईयों की हैसियत समाज में ऊँची थी, किन्तु जुलाहों एवं कुम्हारों का स्थान नीचा था।

1632 ई. के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्रीरंग के शासन-काल में उसने कुछ ग्रामों के निवासियों को आदेश दिया कि दस्तकार समुदायों में बढ़ई, लोहार और सुनार के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया जाए और इसका उल्लंघन करने वालों पर 12 पण जुर्माना लाद दिया गया। तेलियों, कलालों और चमारों

की हैसियत समाज में नीची थी। ब्राह्मण जाति सर्वप्रमुख जाति थी। क्षत्रियों के विषय में जानकारी प्राप्त नहीं होती। मध्य वर्गों में शेठ्टी या चेठ्टी नामक एक बड़े समूह का उल्लेख मिलता है। चेठ्टियों के ही समतुल्य व्यापार करने वाले तथा दस्तकार वर्ग के लोग थे उन्हें वीरपंचाल कहा जाता था।

इसके अतिरिक्त **विप्रविनोदिन** नामक एक जातीय श्रेणी थी, इसमें **लोहार, स्वर्णकार** और **दस्तकार** शामिल थे। कैकोल्लार (जुलाहे), कंबलतर, शस्त्रवाहक और गड़ेरिया नाई और रेड्डी कुछ क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण समुदाय थे। इस काल में उत्तर भारत के बहुत सारे लोग दक्षिण भारत में बस गये थे। उन्हें **बड़वा** कहा जाता था। दक्षिण भारत के व्यापार को उन्होंने अपना शुरु किया। इसने एक प्रकार के सामाजिक विद्वेष को जन्म दिया। मंदिरों की परिसीमा में भी जुलाहे (कैकोल्लार) रहते थे और मंदिर के प्रशासन एवं स्थानीय करारोपण में उनका बहुत बड़ा हाथ था। जोगी और मछुआरों की दूसरी तरफ डोम, का भी सामाजिक स्थिति बहुत हेय थी। विजयनगर में दास प्रथा प्रचलित थी और दासों की खरीद बिक्री को **'बेसबग'** कहा जाता था।

स्त्रियों की स्थिति : एक दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति अच्छी और बुरी दोनों थी। किन्तु कुल मिलाकर उनकी स्थिति निम्न ही थी। यात्री नूनज के अनुसार राजप्रसाद में रहने वाली महिलाओं में अनेक ज्योतिष, भविष्य वक्ता, संगीत और नृत्य में प्रवीण और राज्य की अंग रक्षिकायें भी होती थीं। कुछ महिलायें इसके अतिरिक्त कुशती लड़ती थीं और मल्ल युद्ध भी करती थीं। देवदासी की प्रथा विजयनगर में प्रचलित थी। डोमिंगोपायस देवदासी प्रथा की सूचना देता है। इस काल में सती प्रथा का प्रमाण भी मिलता है बारबोसा कहता है कि सती प्रथा शासक वर्ग में प्रचलित थी।

मालगौरा नामक एक महिला के सती होने का प्रमाण 1534 ई. के एक अभिलेख में मिलता है। विजयनगर काल में वैश्यावृत्ति भी प्रचलित थी। विजयनगर साम्राज्य में बाल-विवाह और दहेज प्रथा का भी प्रचलन था। विधवा विवाह की व्यवस्था थी। विवाह-कर से विधवा से विवाह करने वाले मुक्त कर दिये जाते थे। युद्ध वीरता दिखाने वाले पुरुषों को **गंडप्रेद** प्रदान किया जाता था जो सम्मान का सूचक था।

राज्य का सांप्रदायिक विवादों के मामलों में भी हस्तक्षेप होता था। श्रवणवेलगोल से प्राप्त एक अभिलेख में जैन एवं वैष्णव के विवाद में राज्य के हस्तक्षेप की चर्चा है। कृष्णदेव राय शतरंज का प्रेमी था।

संदर्भ

- A. Krishna Swamy : *The Tamil Country under Vijayanagara*, Published by Annamalai University, Annamalai Nagar, 1964.
- A. V. Narasimha Murthy : *Coins and Currency Systems in Karnataka*, Museums in Karnataka, 1997.
- Abdul Gani Imaratwale : *History of Bijapur Subah (1686-1885)*, Islamic Wonders Bureau, 2007.
- Adapa Ramakrishna Rao : *Krishnadevaraya - Makers of Indian Literature - Sahitya Akadmi*, New Delhi- 1995.
- Anila Verghese : *Archaeology, Art and Religion : New Perspectives on Vijayanagara*, Oxford University Press, 2000.
- Brajadulal Chattopadhyaya : *Coins and Currency Systems in South India C225 - 1300*, New Delhi - 1977.
- C. Sivaramamurthi : *Vijayanagara Paintings Publication Division*, Government of India, New Delhi - 1985.
- D.P. Karmarkar : *Vijayanagara Sex Centenary Commemoration Volume*, Dharwar - 1936.
- Devaraj, D. and Channabasappa S. Patil: *Vijayanagara: Progress of Research*, Directorate of Archaeology and Museums, Mysore, A series of reports spanning 1984 to 1991.

मुगल शासन का दक्कन में विस्तार

डॉ. संजीव कुमार

शोध छात्र

एलएन मिश्रा मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

राज्यकाल के प्रथमार्द्ध में औरंगजेब का ध्यान उत्तर के मामलों में उलझा हुआ था तथा दक्कन सूबेदारों पर छोड़ा हुआ था। हासोन्मुख दक्षिणी सल्तनतें अब तक अपने ऊपर किये गये आघातों से पूर्णतः नहीं उबर सकी थी। उनसे लाभ उठाकर मराठों का उत्थान हो गया।

मुगल-साम्राज्य के लिए चुनौती के रूप में मराठों के उत्थान से दक्कन की राजनीतिक परिस्थिति उलझ गयी, जिसका पूरा महत्व बादशाह पहले नहीं समझ सका। उसके राज्य-काल के पहले चौबीस वर्षों में दक्कन में उसके सूबेदार इन सल्तनतों अथवा मराठों के विरुद्ध कोई निश्चित सफलता नहीं प्राप्त कर सके थे।

1680 ई. में शिवाजी की मृत्यु से दक्कन में बादशाह की स्थिति किसी भी तरह नहीं सुधरी थी, यद्यपि औरंगजेब अपनी प्रभुता को दृढ़ करने में कृतसंकल्प था। विद्रोही शाहजादा अकबर के मराठा राजा शम्भूजी के पास जाने तथा दोनों के बीच संधि हो जाने से उसकी दक्कन-नीति में पूर्ण परिवर्तन आ गया। उसने अब साम्राज्य के हित के विरुद्ध उपस्थित इस संकट को रोकने के लिए स्वयं सेना लेकर जाने की आवश्यकता का अनुभव किया और जून, 1681 ई. में मेवाड़ के साथ झटपट संधि कर ली।

8 सितम्बर, 1681 ई. को दक्कन के लिए अजमेर से प्रस्थान कर वह 23 नवम्बर, 1681 ई. को बुरहानपुर तथा 1 अप्रैल, 1682 ई. को अहमदनगर पहुँचा। वह यह नहीं सोच सका कि नियति उसे दक्षिण में उसकी तथा उसके साम्राज्य की कब्रें खोदने के लिए घसीट कर ले जा रही है।

पहले चार वर्ष शाहजादा अकबर को पकड़ने की असफल चेष्टाओं तथा मराठों के विरुद्ध विनाशकारी आक्रमणों में व्यतीत हो गये। मराठों के कुछ दुर्ग शाही दल द्वारा जीत लिये

गये। किन्तु हट्टे-कट्टे लोग, जिन्हें शिवाजी ने नयी अभिलाषाओं से प्रेरित किया था, पूर्णतः दबाये नहीं जा सके। इसके बाद अवनतिग्रस्त सल्तनतों की विजय की ओर बादशाह का ध्यान आकृष्ट हुआ।

दक्कन की शिया सल्तनतों के प्रति शाहजहाँ की तरह औरंगजेब का रुख भी अंशतः साम्राज्य के हित तथा अंशतः धार्मिक विचारों से प्रभावित था। बीजापुर ने गुटबन्दियों एवं मराठों के उत्कर्ष से दुर्बल हो जाने के कारण आक्रमणकारियों की अधीनता स्वीकार कर ली।

बीजापुर नगर का मुगलों द्वारा अन्तिम घेरा 11 अप्रैल, 1685 ई. को आरम्भ हुआ तथा बादशाह स्वयं वहाँ जुलाई 1687 ई. में पहुँचा। घिरी हुयी सेना ने वीरता से सामना किया। परन्तु भोजन की सामग्री के अभाव तथा दुर्भिक्ष के कारण अनगिनत मनुष्यों एवं घोड़ों की मृत्यु से थककर उन्होंने सितम्बर, 1686 ई. में आत्म-समर्पण कर दिया।

अन्तिम आदिल शाही सुल्तान सिकन्दर ने बादशाह के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया तथा यूसुफ आदिल शाह के द्वारा स्थापित राजवंश का अंत हो गया। इसके बाद गोलकुंडा के कुतुबुशाही राज्य की बारी आयी।

फरवरी, 1687 ई. के प्रारम्भ में औरंगजेब स्वयं गोलकुंडा के समक्ष उपस्थित हुआ तथा कुछ दिनों के अन्दर मुगल फौज ने स्थानीय गढ़ पर घेरा डाल दिया। परन्तु उस किले में पर्याप्त भोजन एवं युद्ध-सामग्री संचित थी, जिससे घिरे हुए व्यक्ति लगभग आठ महीनों तक वीरतापूर्वक डटे रह सके।

इसके बावजूद उन्हें कोई निश्चित सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। बल्कि दुर्भिक्ष एवं महामारी से उन्हें क्लेश ही हुआ तथा अपने शत्रुओं के प्रतिशोध के कार्य से उन्हें भारी हानियाँ हुईं। फिर भी औरंगजेब पूरी धुन के साथ डटा रहा तथा उसने और सेना इकट्ठी की।

अब्दुल्ला पनी नामक एक अफगान सिपाही था, जो उस समय गोलकुंडा के सुल्तान अबुल हसन के यहाँ नौकरी करता था। बादशाह ने उसे घूस दे दी। फलतः उसने किले का प्रमुख द्वार खोलकर मुगलों को इसमें प्रवेश करने दिया।

परन्तु अब्दुर्रज्जाक लारी नामक गोलकुंडा के एक स्वामिभक्त सरदार ने बादशाह द्वारा दिये गये रुपये-पैसे के

प्रलोभनों पर लात मारी। वह अकेला लड़ता रहा और सत्तर घाव खाकर गिर जाने के बाद ही कहीं उसका लड़ना बंद हुआ। मुगलों ने उसकी सेवा शुश्रूषा कर उसे स्वस्थ किया तथा उसने अन्त में बादशाह के अधीन एक उच्च पद स्वीकार किया। अबुल हसन को पचास हजार रुपये वार्षिक पेंशन देकर अपने अन्तिम दिन व्यतीत करने को दौलताबाद के किले में भेज दिया गया। गोलकुंडा को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया (सितम्बर, 1687 ई.)।

अपनी दक्कन-नीति के दो उद्देश्यों में एक की प्राप्ति कर लेने के पश्चात्, अर्थात् दक्कन की हासोन्मुख सल्तनतों को मिला लेने के बाद, औरंगजेब दूसरे उद्देश्य की ओर मुड़ा, अर्थात् नवोदित मराठा शक्ति का दमन करने में संलग्न हुआ। पहले उसके प्रयास सफल हुए।

शम्भूजी 11 मार्च, 1689 ई. को फाँसी पर चढ़ा दिया गया। उसकी राजधानी रायगढ़ जीत ली गयी। यद्यपि उसका भाई राजाराम बच निकला, पर उसके छोटे लड़के शाहू के सहित उसका शेष परिवार बन्दी बना लिया गया। बादशाह ने दक्षिण में अपने प्रभुत्व का विस्तार किया तथा तंजोर एवं त्रिचिनापल्ली के हिन्दू राज्यों पर कर लगाया। इस प्रकार 1690 ई. तक औरंगजेब अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया तथा काबुल से लेकर चटगाँव और काश्मीर से लेकर कावेरी तक फैले हुए लगभग सम्पूर्ण भारत का परम स्वामी बन गया। “ऐसा प्रतीत होता था कि औरंगजेब ने अब सब कुछ प्राप्त कर लिया है; परन्तु वास्तव में सब कुछ खो चुका था। यह उसकी इतिश्री का श्रीगणेश था। अब उसके

जीवन का सबसे दुःखपूर्ण एवं आशाशून्य अध्याय खुला। मुगल साम्राज्य इतना विस्तृत हो गया था कि एक व्यक्ति द्वारा अथवा एक केन्द्र से उस पर शासन करना सम्भव नहीं था। उसके शत्रु सब ओर खड़े हो गये। वह उन्हें पराजित कर सकता था, पर सदा के लिए उन्हें नष्ट नहीं कर सकता था।...उत्तरी तथा मध्य भारत के बहुत-से स्थानों में अराजकता फैल गयी।

सुदूर दक्कन में बैठे बूढ़े बादशाह का हिन्दुस्तान के अपने अफसरों पर सारा नियंत्रण जाता रहा। शासन शिथिल एवं भ्रष्टाचारपूर्ण हो गया। नायक एवं जमींदार स्थानीय अधिकारियों की उपेक्षा कर अपनी प्रभुता स्थापित करने लगे। देश में उन्होंने हलचल मचा दी। विशेष रूप से आगरा प्रान्त में अव्यवस्था पुरानी हो चुकी थी।

शाही संरक्षण के हट जाने से कला एवं विद्या की अवनति होने लगी। एक भी भवन, सुन्दर लिखावट वाली पांडुलिपि अथवा उत्तम चित्र औरंगजेब के राज्य-काल का स्मरण नहीं दिलाता।

दक्कन के अंतहीन युद्ध के कारण उसका कोष रिक्त हो गया। सरकार दिवालिया हो गयी। वेतन बाकी रहने के कारण सैनिक भूख से मरने लगे तथा उन्होंने बलवा कर दिया।

उसके राज्य-काल के अन्तिम वर्षों में बंगाल का राजस्व, जो योग्य दीवान मुर्शिद कुली खाँ नियमित रूप से भेजता था, बादशाह के परिवार अथवा उसकी सेना का एकमात्र सहारा बन गया था तथा इसके आने की उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती थी।

“दक्कन के फोड़े ने औरंगजेब को नेस्तनाबूद कर दिया।” बादशाह मराठों को अधीन करने अथवा उनके देश को जीतने में असफल रहा।

1691 ई. तक मराठों की स्थिति में सुधार हुआ और वे मुगलों के विरुद्ध राष्ट्रीय प्रतिरोध का युद्ध फिर करने लगे। पहले यह युद्ध राजाराम तथा कुछ अन्य योग्य मराठा नायकों के अधीन चलाया गया। 1700 ई. में राजाराम की मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् उसकी वीर विधवा ताराबाई ने अपने हाथों में इसकी बागडोर ले ली।

संदर्भ

- Ali, M. Athar : *Mughal India: Studies in Polity, Ideas, Society and Culture*, Oxford University Press, 2006.
- Anup Taneja: *Sufi Cults and the Evolution of Medieval Indian Culture*, Northern Book Centre, Delhi, 2003.
- Atul Chandra: *History of Bengal: Mughal Period (1526-1765 A.D.)*. Calcutta, 1968.
- Bérinstain, Valérie : *India and the Mughal Dynasty*, New York: Abrams, 1998.
- Bernier, Francois : *Travels in the Mogul Empire*, Oxford, 1934.
- Firoz Shah Tughlaq : *Futuh-i-Firoz Shahi*, Aligarh, 1954.
- Ghani, M. A.: *Pre-Mughal Persian in Hindostan*. Allahabad, 1941.
- Gommans, Jos: *Mughal Warfare: Indian Frontiers and High Road to Empire 1500-1700*. London, 2002.
- Gulbadan Begum : *Humayun Nama*, London 1902, Indian Reprint, Delhi, 1972.
- Gurcharn Singh Sandhu: *A Military History of Medieval India*, Vision Books, Delhi, 2003.
- Habib, Irfan : : *An Atlas of the Mughal Empire*, New York: Oxford University Press, 1982.
- Habibullah, A. B. M.: *The Foundations of Muslim Rule in India*. Lahore, 1945.

मुगलों का राजपूतों के साथ संघर्ष

अभय प्रताप सिंह

पूर्व व्याख्याता, दिल्ली विश्वविद्यालय

राजपूतों ने साम्राज्य के विकास में बड़ी सहायता की थी। औरंगजेब उनकी मित्रता का मूल्य समझने में असफल रहा। 'उसने उनके प्रति राज्य की नीति में परिवर्तन कर दिया। अम्बर के राजा जयसिंह को वह अपनी नीति के विरुद्ध राजपूत विरोध का एक प्रबल नेता समझता था। उसे (राजा जय सिंह को) 1667 ई. में दक्कन में अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। इसके बाद एक से अधिक कारणों से मारवाड़ की विजय की ओर उसका ध्यान आकृष्ट हुआ। इसका युद्धकौशल की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि मुगल राजधानी से पश्चिमी भारत के समृद्ध नगरों एवं बन्दरगाहों के कुछ सैनिक एवं व्यापारिक रास्तों पर इसका नियंत्रण था। उस समय उत्तर भारत में एक प्रबल सैनिक राज्य के रूप में इसकी स्थिति औरंगजेब को फूटी आँखों भी नहीं सुहाती थी। उसे संदेह था कि इसका प्रधान जसवन्त सिंह, जो पहले दारा शिकोह के दल का था, उसकी नीति के विरोधियों का नेता बनकर खड़ा हो सकता है।

शीघ्र ही बादशाह को मारवाड़ के विरुद्ध अपनी योजनाएँ कार्यान्वित करने का अनुकूल अवसर मिल गया। राजा जसवन्त सिंह खैबर की घाटी और पेशावर जिले में मुगल सीमान्त दस्तों का संचालन कर रहा था। इसी समय 10 दिसम्बर, 1678 ई. को जमरूद में उसकी मृत्यु हो गयी। इस समाचार को सुनते ही औरंगजेब ने तुरंत मारवाड़ को मिला लेने के लिए कदम उठाया। उसने वहाँ अपने अफसरों को फौजदार, किलादार कोतवाल एवं अमीन के रूप में नियुक्त कर लिया तथा उसे सीधे मुगल शासन में ले आया।

राठौर अपने राजा की मृत्यु से व्यग्र एवं त्रस्त हो जाने के कारण संयुक्त राष्ट्रीय प्रतिरोध उपस्थित करने में असफल रहे। मई के महीने में नागौर के नायक तथा जसवन्त के पोते (भतीजे के बेटे) इन्द्र सिंह राठौर को उत्तराधिकार शुल्क" के रूप में छत्तीस लाख रुपये देने पर जोधपुर का राणा मान लिया गया। परन्तु मुगल अफसरों से घिरा हुआ वह केवल नाम का शासक रहा। इस प्रकार बादशाह की नीति सफल प्रतीत होने

लगी। परन्तु मारवाड़ वास्तव में अधीन नहीं किया गया था। उस राज्य का प्रत्येक राजपूत गृह बादशाह के तीव्र आघात का अन्त करने को कृतसंकल्प हो गया। "अब शाही नीति को बाधा पहुँचाने तथा अन्त में उसे पराजित करने को एक नया तत्त्व घटनास्थल में आ घुसा।"

इधर फरवरी, 1679 ई. में जसवन्त की मृत्यु के पश्चात् लाहौर में उसके दो पुत्रों का जन्म हो चुका था। एक तो जन्म के तुरंत बाद मर गया; परन्तु दूसरा, जिसका नाम अजीत सिंह था, जीवित रहा। उसके पिता के प्रमुख अनुगामी उसे दिल्ली ले आये। उन्होंने औरंगजेब से उसे मृतक राजा का उत्तराधिकारी स्वीकार करने का अनुरोध किया। बादशाह ने उसका पोषण अपने अन्तःपुर में करने का प्रस्ताव किया अथवा, एक अन्य समकालीन विवरण के अनुसार "अजीत को जोधपुर का राजसिंहासन उसके मुसलमान बन जाने की शर्त पर देने का वादा किया गया।" बादशाह के इस असाधारण प्रस्ताव से राठौरों की भावनाओं पर कठोर आघात पहुँचा। उन्होंने इन शर्तों को स्वीकार करने के बदले अपने प्राणों की आहुति देने की प्रतिज्ञा की। परन्तु शाही दल की संगठित शक्ति के विरुद्ध केवल भक्ति एवं अपरिणामदर्शी साहस किसी काम के नहीं हो सकते थे। संकट के इस क्षण में राठौरों के सौभाग्य से उन्हें दुर्गादास (जसवन्त के मंत्री आसकरन का पुत्र) जैसा योग्य नेता मिल गया। जो "राठौर वीरता का पुष्प था।" राजस्थान के इतिहास में दुर्गादास को भयानक बाधाओं के होने पर भी अपने देश के प्रति निःस्वार्थ भक्ति के लिए एक अमर व्यक्ति माना जाता है, जो उचित ही है।

एक शाही फौज रानियों तथा अजीतसिंह को पकड़ने के लिए भेजी गयी। "सत्य का वरण करने वाले" राजपूतों की एक टुकड़ी उस पर टूट पड़ी। फैली हुयी गड़बड़ी से लाभ उठा कर दुर्गादास रानियों एवं अजीत सिंह को पुरूषों के परिधान में घोड़े पर लेकर भाग चला। उसके नौ मील जाने पर शाही दल उस तक पहुँच गया। यहाँ रणछोड़दास जोधा के अधीन राजपूतों की एक छोटी टुकड़ी ने जब तक हो सका तब तक पीछा करने वालों को रोकने का प्रयत्न किया तथा दुर्गादास रानियों एवं अजीत के साथ 23 जुलाई, 1679 ई. को जोधपुर पहुँचने में समर्थ हुआ। जब औरंगजेब ने विभिन्न प्रांतों से बहुत सी फौजें मँगवाई और तीनों शहजादों - मुअज्जम, आजम एवं अकबर- को सेना के भिन्न-भिन्न दस्तों का कमान दे दिया गया। वह स्वयं सैनिक कार्यवाइयों का निर्देशन करने के लिए अगस्त, 1679 ई. में अजमेर गया। जोधपुर को जीत कर वहाँ लूटपाट मचायी गयी।

परन्तु मुग़ल बादशाह की इस आक्रमणकारी नीति के कारण मेवाड़ के वीर सिसोदिया मारवाड़ के निराश राठौरों से जा मिले। औरंगजेब ने तुरंत मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। राणा ने मुग़लों की प्रबलतर शक्ति का सामना करना अनुचित समझा। इसलिए वह मेवाड़ के नगरों तथा पुरवों को त्यागकर अपनी सारी प्रजा के साथ पहाड़ी किलों में चला गया। नीचे के मैदान बंजर पड़ गये। मुग़लों ने सुगमता से चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। सफलता के लिए निश्चित होकर बादशाह अकबर के अधीन एक प्रबल सेना चित्तौड़ में छोड़ अजमेर के लिए चल पड़ा। परन्तु शीघ्र ही उसकी आँखें खुल गयी। राजपूत छिप कर युद्ध करते रहे। वे मुग़लों की चौकियों पर इतने अधिक साहस के साथ टूट पड़ते थे कि “मुग़ल चौकियों का कमान स्वीकार करनेवाला कोई न रहा; एक-के-बाद दूसरे कप्तान इस खतरनाक सम्मान को बहाने बनाकर अस्वीकार करने लगे।” अपनी सफलताओं से प्रोत्साहित होकर राजपूतों ने मई, 1680 ई. में शाहजादा अकबर के अधीन रहने वाली मुग़ल सेना पर हमला कर दिया। बादशाह ने इस पराजय के लिए शाहजादा अकबर को उत्तरदायी ठहराया। उसने चित्तौड़ की सेना को शाहजादा आजम के अधीन कर दिया तथा अकबर को मारवाड़ भेज दिया।

शाहजादा अकबर ने अपने हटायें जाने के अपमान की पीड़ा का तीव्र अनुभव किया। वह राजपूतों की योग्यता उनके साथ युद्ध करते समय अच्छी तरह समझ ही गया होगा। अब यह उनके साथ मिलकर अपने पिता से दिल्ली का राजमुकुट छीनने के सपने देखने लगा। राजपूत नायकों ने उसे बतलाया कि किस प्रकार उसके पिता की नीति से मुग़लसाम्राज्य की स्थिरता नष्ट हो रही थी। “उन्होंने दो सबसे महान् राजपूत जातियों सिसोदिया एवं राठौर, की सैनिक शक्ति से उसकी

सहायता करने की प्रतिज्ञा की। इस प्रकार उनकी आशा थी कि दिल्ली के राजसिंहासन पर एक सच्चा राष्ट्रीय राजा बैठा सकेंगे।” लगभग सत्तर हजार व्यक्तियों की एक सेना लेकर, “जिसमें राजपूताना का सर्वोत्कृष्ट रक्त था, “शाहजादा अकबर 15 जनवरी, 1681 ई. को अजमेर के निकट पहुँचा।

उस समय औरंगजेब की स्थिति संकटपूर्ण थी, क्योंकि उसकी सेना की दो प्रमुख टुकड़ियाँ चित्तौड़ एवं राजसमुद्र झील के निकट थी। यदि शाहजादा तुरंत इस “सुअवसर” का उपयोग कर लेता, तो बादशाह दिक्कत में पड़ सकता था। उसने आलस्य एवं विषय-सुख में अपना समय गँवा दिया और इस प्रकार अपने चतुर पिता को अपनी प्रतिरक्षा के लिए तैयारियाँ करने का अवसर दे दिया। बादशाह ने अपने विद्रोही पुत्र के पास एक पत्र लिखा। उसने ऐसा प्रबंध किया जिसमें वह पत्र राजपूतों के हाथ पड़ जाए। इससे अकबर के मित्रों को यह विश्वास हो गया कि मुग़ल शाहजादा उनके साथ छल कर रहा है। बादशाह की यह चतुराईपूर्ण युक्ति सफल सिद्ध हुई। अकबर के राजपूत मित्रों ने विश्वासघात का संदेह कर उसे त्याग दिया तथा वह शीघ्रता से “अपनी जान बचाकर राजपूतों के पास से भाग गया।” परन्तु राजपूतों को तुरंत अपने प्रति किये गये छल का पता चल गया।

वीर राठौर नायक दुर्गादास को शाहजादे के निर्दोष होने का पता चल गया। उसने वीरता के साथ उसे अपने पिता के प्रतिरोधों से बचाया तथा उसे खानदेश एवं बगलाना होकर मराठा राजा शम्भूजी के दरबार में पहुँचा दिया। पर शिवाजी का विलासी उत्तराधिकारी इस भगोड़े मुग़ल शाहजादे को कोई कार्यसाधक सहायता न दे सका। इसका “हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य और मेल पर आधारित” भारतीय साम्राज्य का स्वप्न “निरर्थक ही रहा।” लगभग छः वर्षों के बाद निराश मुग़ल शाहजादा फारस चला

गया। वहीं 1704 ई. में उसकी मृत्यु हुई। शाहजादा अकबर के विद्रोह से दिल्ली का बादशाह बदला नहीं जा सका। परन्तु इससे मेवाड़ के राणा को बहुत चैन मिला। किन्तु मुग़लों के विरुद्ध उसकी क्षणिक सफलता से उसकी प्रजा को बहुत कष्ट हुआ। मुग़लों को भी काफी तकलीफ हुयी तथा उन्हें राजपूतों के विरुद्ध किए गये कार्यों से कोई निश्चित लाभ नहीं हो सका। इन विचारों से बादशाह तथा राजसिंह के पुत्र एवं उत्तराधिकारी राणा जयसिंह ने जून, 1681 ई. में संधि कर ली। राणा ने जजिया के बदले कुछ जिले दे दिये तथा मुग़ल मेवाड़ से हट गये। परन्तु मारवाड़ के साथ सम्मानपूर्ण शर्तों पर संधि नहीं हुयी और उसे “तीस वर्षीय युद्ध करते रहे। उन्होंने मुग़ल चौकियों को तंग किया। इसलिए मुग़ल अफसरों को उसके (दुर्गादास के) आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए अपने शत्रु को विवश होकर चौथ देना पड़ा। युद्ध चलता ही रहा। अंत में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी बहादुर शाह प्रथम ने 1709 ई. में अजीत सिंह को मारवाड़ का राणा स्वीकार कर लिया।

संदर्भ

- Harbans, M.: *Perspectives on Medieval History*. New Delhi: Vikas, 1993.
- Hardy, Peter: *Historians of Medieval India: Studies in Indo-Muslim Historical Writing*. London, 1960.
- Henry Beveridge: *The Akbarnama of Abul-Fazl*, Bibliotheca Indica Series, 1897.
- Hunter, William.: *The Imperial Gazetteer of India*, Turbner & Co.: London 1886.
- Irvine, William: *Later Mughals*, New Delhi, 1971.
- Kamal Kishore: *Economic History of Moghul India: An Annotated Bibliography, 1526-1875*. Calcutta: Santiniketan, 1991.
- Koch, Ebba : : *Mughal Architecture*, Munich: Prestel-Verlag, 1991.
- Krishnamurti, R.: *Akbar: The Religious Aspect*. Baroda, 1961.

ब्रिटिश भारत की शिक्षा नीति

अनिल कुमार मिश्रा

शोधप्रज्ञ

स्नातकोत्तर इतिहास विभाग

वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

लॉर्ड मैकाले की योजना

भारत में लॉर्ड मैकाले गवर्नर-जनरल की काउंसिल का कानून-सदस्य (ला मेम्बर) था। इसके पूर्व वह इंग्लैंड में लेखक एवं वक्ता के रूप में विख्यात हो चुका था। जब वह भारत पहुँचा तो उस समय आंग्लवादी एवं प्राच्यवादी में बड़ा विवाद छिड़ा हुआ था, उसने आंग्लवादियों का पक्ष ग्रहण किया एवं वह भारत में अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा दिये जाने का एवं पाश्चात्य शिक्षा का बड़ा समर्थक बन गया।

लार्ड विलियम बेंटिक ने मैकाले को सर्वसाधारण शिक्षा समिति का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। फरवरी, 1835 ई. में लॉर्ड मैकाले के निर्णयात्मक वोट द्वारा यह निश्चित किया गया कि भारतीयों को पाश्चात्य साहित्य तथा विज्ञान की शिक्षा अंग्रेज़ी माध्यम से दी जानी चाहिए। इस प्रकार, भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में 'सर्वसाधारण शिक्षा समिति' का उपर्युक्त निर्णय पूरी अगली शताब्दी के लिए भारत के माथे पर भाग्य की रेखा बन गया। इस नवीन शिक्षा नीति का मुख्य प्रतिपादक लॉर्ड मैकाले था। उसे उन यूरोपीय विद्वानों से घोर असन्तोष था जो भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की प्रशंसा करते थे। उसका विचार था कि एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की एक अलमारी की पुस्तकें भारत और अरब के सम्पूर्ण साहित्य के बराबर हैं—'A Single Shelf of a good European library was worth the whole native literature of India and Arabia.

लॉर्ड मैकाले कहा करता था कि अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन से भारतीय अपनी सभ्यता संस्कृति तक भी भूल जाँएँगे एवं अंग्रेज़ी खान-पान, वेश-भूषा के पुजारी बन जाँएँगे। इसके द्वारा वह भारत में एक ठोस वर्ग को उत्पन्न करना चाहता था जिनका रक्त तो भारतीय हों, परन्तु जो रुचि, रीति-रिवाज, सम्मति और बुद्धि में पूरे अंग्रेज हों। भारतीय

प्रशासन में इसके अतिरिक्त अंग्रेज पदाधिकारों की सहायता के लिए लिपिकों की आवश्यकता थी। वस्तुतः लॉर्ड मैकाले की अंग्रेज़ी शिक्षा योजना का प्रमुख उद्देश्य लिपिकों को पैदा करना था।

इस प्रकार, भारत में अंग्रेज़ी भाषा का प्रसार करने में लॉर्ड मैकाले की कोई निस्वार्थ भावना नहीं थी, वरन् अपने देश के हित के लिए ही उसने ऐसा किया। ब्रिटिश सरकार ने 1835 ई. में शिक्षा-सम्बन्धी नियम भी लागू कर दिया, जिसके द्वारा भारतीयों की शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी घोषित कर दिया गया।

1835 ई. के बाद शिक्षा की प्रगति—भारत में 1835 ई. के बाद अंग्रेज़ी शिक्षा का तेजी से प्रचार-प्रसार होने लगा।

23 सरकारी विद्यालयों की स्थापना 1839 ई. तक की गयी। 1842 ई. में इनकी संख्या बढ़कर 51 हो गयी। कमिटी ऑफ इंस्ट्रक्शन के स्थान पर काउंसिल ऑफ एजुकेशन की स्थापना की गयी। 1844 ई. में कम्पनी सरकार ने इस बात की घोषणा कर दी कि सरकारी नौकरियाँ देते समय अंग्रेज़ी जानने वालों का विशेष रूप से ध्यान रखा जाएगा। इससे अंग्रेज़ी शिक्षा को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

उत्तर-प्रदेश में 1843-54 ई. में थामसन योजना चलाई गयी। इसके अनुसार कई गाँवों की एक सर्किल बनाई गयी एवं प्रत्येक सर्किल के जमींदारों से लगान का एक प्रतिशत अपने सर्किल में स्थित स्कूलों की सहायता हेतु देने के लिए कहा गया। यह योजना 1853 ई. में कई अन्य जिलों में तथा बम्बई एवं मद्रास की प्रेसीडेंसियों में भी लागू कर दी गयी।

बेंटिक ने 1835 ई. में कलकत्ते में मेडिकल कॉलेज की और रुड़की में थामसन इंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना की। 1834 ई. में बम्बई में एल्फिस्टन कॉलेज की स्थापना की गयी। 1836 ई. में एक कॉलेज हुगली में तथा अन्य कॉलेज ढाका, पटना तथा नागपुर में स्थापित किये गये। मद्रास यूनिवर्सिटी 1852 ई. में आरम्भ की गयी। सरकारी विद्यालयों में कुछ छात्रवृत्ति भी देने की व्यवस्था की गयी एवं भारतीय भाषाओं को समुन्नत बनाने में धन व्यय किया गया।

शिक्षा प्रसार में ईसाई मिशनरियों ने भी बहुत योग दिया। किन्तु इनका प्रधान लक्ष्य शिक्षा का प्रसार न होकर अपने धर्म का प्रचार था।

वुड्स डिस्पैच

कंपनी में सर चार्ल्स वुड बोर्ड ऑफ कंट्रोल का प्रेसीडेंट

था। उसने भारत में शिक्षा-प्रसार हेतु एक योजना बनाई, जिसे भारत में अंग्रेजी शिक्षा का महान्-पत्र (मैग्नाकार्टा) कहा जाता था। यह 1853 ई. के वुड्स डिस्पैच के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस पत्र में निम्नलिखित सिफारिशों की गयी थीं—

- (i) सरकारी शिक्षा के प्रयत्न का उद्देश्य शिक्षा को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाना है।
- (ii) शिक्षा सरकारी साधनों द्वारा दी जाए इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक अनिवार्य कर लगाया जाए। इस पद्धति को ऊपर की ओर विस्तृत करने के लिए नमूने के रूप में सरकारी स्कूल स्थापित किये जायें, जिनका स्थान क्रमशः ऐसे स्कूल थे, जिन्हें सरकारी सहायता के सिद्धान्त पर खोला जाय।
- (iii) शिक्षा-पद्धति पूर्णतः धार्मिक तटस्थता पर निर्धारित की जाए।
- (iv) शिक्षकों की प्राप्ति के लिए प्रान्तों में ट्रेनिंग कॉलेज खोले जाएं।
- (v) शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ हों जिनमें अंग्रेजी की सर्वोत्तम प्रारम्भिक पुस्तकों का अनुवाद किया जाए। इस प्रकार, भारतीय भाषाओं का पूरा ध्यान रखा जाय तथा जहाँ अंग्रेजी भाषा के लिए माँग हो वहाँ उसके शिक्षण की भी समुचित व्यवस्था की जाए।
- (vi) संस्कृत व अरबी की शिक्षा के लिए वर्तमान संस्थाओं को बनाये रखा जाए।
- (vii) स्त्री-शिक्षा पर भी समुचित ध्यान दिया जाए।
- (viii) सरकारी सहायता प्राप्त कॉलेजों एवं स्कूलों जिनमें साधारण शिक्षा दी जाए के अतिरिक्त कानून,

चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कला एवं कृषि आदि की विशेष शिक्षा के लिए भी संस्थाएं खोली जाएं।

- (xi) इस शिक्षा-पद्धति के संचालन के लिए प्रत्येक प्रान्त में एक विभाग खोला जाए जिसके अन्तर्गत एक संचालक एवं अनेक निरीक्षक नियुक्त किये जाएँ।
- (x) प्रत्येक प्रेसीडेन्सी में लन्दन विश्वविद्यालय के नमूने पर एक-एक विश्वविद्यालय की स्थापना की जाए।

शिक्षा-प्रचार के लिए वुड्स डिस्पैच की सिफारिशों के आधारों पर विभिन्न कदम उठाये गये। प्रत्येक प्रांत में शिक्षा विभाग खोला गया। 1857 ई. में कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी। 1882 ई. में लाहौर में पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय 1887 ई. में खोला गया। ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षाएँ लेते थे जबकि अध्ययन कार्य इससे सम्बन्धित कॉलेजों में होता था। प्राइमरी एवं माध्यमिक शिक्षण संस्थाओं की संख्या में भी वृद्धि की गयी। भारतीय भाषाओं को कम प्रोत्साहन दिया गया जबकि अंग्रेजी भाषा को विशेष प्रोत्साहन दिया गया।

हंटर कमीशन

शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति के लिए दूसरा महत्वपूर्ण कदम 1882 ई. में हंटर कमीशन की नियुक्ति था। इसने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सिफारिशों पेश कीं—

1. सरकार उच्च शिक्षा संस्थाओं के प्रबन्ध तथा प्रत्यक्ष रूप में सहायता करने से धीरे-धीरे अपना हाथ खींच ले। यदि संभव हो

सके तो इसे भारतीयों के हाथ हस्तान्तरित कर दिया जाए।

2. कॉलेजों की सामान्य तथा विशेष अनुदान देने की व्यवस्था की जाए। कॉलेज में शुल्क तथा निःशुल्क शिक्षा देने के संबंध में कुछ साधारण सिद्धान्तों का अनुसरण होना चाहिए। छात्रवृत्ति के सम्बन्ध में नये नियमों के बनाने की व्यवस्था की गयी। बड़े-बड़े कॉलेजों में वैकल्पिक विषयों को रखने की व्यवस्था की जाए। एक नमूने की पाठ्य-पुस्तक बनाने का प्रयत्न किया जाए, जो स्वाभाविक धर्म के आधार पर बनी हो एवं जो सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं में पढ़ाई जाए।
3. शिक्षा को मुसलमानों में प्रोत्साहित करने के लिए विशेष प्रकार के उपायों का प्रयोग किया जाए।
4. सभी प्राइमरी स्कूलों का निरीक्षण शिक्षा-विभाग के सरकारी अफसरों द्वारा होगा और उन पर उनका नियंत्रण रहेगा।
5. विद्यार्थियों के शारीरिक तथा बौद्धिक दोनों प्रकार के विकास की ओर ध्यान दिया जाय। इसके लिए अपनी आय का एक भाग अलग कर देना चाहिए एवं यह शिक्षा राज्य जिला बोर्डों तथा नगरपालिकाओं द्वारा दी जानी चाहिए। माध्यमिक शिक्षा स्थानीय अथवा प्राइवेट संस्थाओं द्वारा दी जानी चाहिए। यथासंभव माध्यमिक स्कूलों को गैर-सरकारी प्रबन्ध को सौंप देना चाहिए।

हंटर कमीटी की कई सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया। फलतः अगले दस वर्षों में विद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हो गयी।

रैले कमीशन

लॉर्ड कर्जन का शासनकाल (1899-1905) भारतीय शिक्षा के विकास के इतिहास में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। कर्जन एक घोर साम्राज्यवादी था और भारतीय-शिक्षा पद्धति पर वह पूर्ण सरकारी नियंत्रण रखना चाहता था।

शिक्षा विभाग में उसने केन्द्रीकरण की नीति का अनुसरण किया एवं शिक्षा-व्यवस्था पर नियंत्रण तथा निरीक्षण स्थापित करने का प्रयत्न किया। जनवरी, 1902 ई. में लॉर्ड कर्जन ने विश्वविद्यालयों के संगठन तथा कार्य पर रिपोर्ट देने, शिक्षा-स्तर को उठाने तथा नियुक्त शिक्षा को उन्नत बनाने के लिए सिफारिशें करने के लिए रैले की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन ने निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत कीं—

1. विश्वविद्यालयों के प्रशासन का पुनर्गठन किया जाए।
2. विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कॉलेजों पर कड़ी देख-रेख तथा उन्हें सम्बद्ध करने के लिए कठोर शर्तें रखी जाए।
3. विद्यार्थियों के आवास-स्थल तथा कार्य की दिशाओं पर अधिक ध्यान दिया जाए।
4. निर्धारित सीमाओं के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों द्वारा शिक्षण का प्रबन्ध किया जाए।
5. पाठ्य-क्रम तथा परीक्षा-पद्धति में सारभूत परिवर्तन न हो।

शिक्षा पर पूर्ण सरकारी नियंत्रण कायम करना उपर्युक्त रैले कमीशन की सिफारिशों का मुख्य उद्देश्य था। अतः भारतीयों ने इसका विरोध किया। लेकिन लॉर्ड कर्जन ने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और उन सिफारिशों के आधार पर 1904 ई. में 'विश्वविद्यालय अधिनियम' पास करवाया। इस एक्ट से विश्वविद्यालयों की प्रबन्धक संस्थाओं

का पुनर्निर्माण ने किया। विश्वविद्यालय के सिनेट में कम-से-कम 50 और अधिक-से-अधिक 100 सदस्य हो सकते थे। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों के लिए निर्वाचित सदस्यों की संख्या 20 और शेष दो विश्वविद्यालयों के लिए 15 रखी गयी।

सिंडीकेटों को कानूनी-मान्यता दे दी गयी और उसमें अध्यापकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया गया। कॉलेजों पर सरकारी नियन्त्रण रखने का निश्चय किया गया तथा कॉलेजों को किसी विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित करने या न करने का अंतिम निर्णय भी भारत सरकार के हाथ था। विश्वविद्यालय अभी तक परीक्षा लेने वाली संस्थाएँ ही थीं। इस कानून द्वारा उन्हें शिक्षण-कार्य के योग्य बनाने की व्यवस्था की गयी।

इस एक्ट ने विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता को समाप्त कर दिया। अतः भारतीयों ने इसका बड़ा विरोध किया। लेकिन कर्जन ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया एवं अपनी उच्च शिक्षा-सम्बन्धी नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया। उसने प्रारम्भिक शिक्षा-क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय सुधार किया, तथा प्रारम्भिक शिक्षा के विकास के लिए दो लाख तीस हजार पौंड वार्षिक धन-राशि स्थाई रूप से स्वीकृत की तथा अध्यापकों के वेतन-वृद्धि का आदेश दिया। उसने कृषि-शिक्षा, औद्योगिक-शिक्षा और सामान्य शिक्षा के विकास के लिए भी प्रयत्न किये। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप जमशेद जी. टाटा ने भारी धनराशि उदारतापूर्वक बंगलौर की विज्ञान-संस्था की स्थापना में व्यय की।

1906-1919 ई. के बीच शिक्षा की स्थिति— विश्वविद्यालयों के शिक्षा-स्तर को 1906 ई. के एक एक्ट द्वारा ऊँचा उठाने की कोशिश की गयी। इसमें विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहित किया गया। 1910 ई. में शिक्षा विभाग की स्थापना की गयी। 1911 ई. में

गवर्नर-जनरल की काउंसिल में शिक्षा-सदस्य को नियुक्त कर दिया गया और शिक्षा की उन्नति के लिए दस लाख रुपए स्वीकृत किए गए।

एक सरकारी प्रस्ताव 1913 ई. में पास किया गया। इस प्रस्ताव के द्वारा ढाका, अलीगढ़ तथा बनारस में शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालयों की स्थापित करने की व्यवस्था की गयी। रंगून, पटना तथा नागपुर में कॉलेजों को संयोजित करने वाले विश्वविद्यालयों को स्थापित करने का निश्चय किया गया।

1913 ई. का प्रस्ताव प्रथम विश्व-युद्ध के आरम्भ हो जाने के कारण कार्यान्वित न हो सका तथापि 1916 तथा 1917 ई. में बनारस तथा पटना विश्वविद्यालय आरम्भ कर दिये गये।

सैडलर कमीशन

भारत सरकार ने लॉर्ड चेम्सफोर्ड के समय में कलकत्ता विश्वविद्यालय के विषय में जाँच करने के लिए एम. सैडलर की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन को माध्यमिक, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा-सम्बन्धी सभी समस्याओं पर जाँच करने का अधिकार दिया गया। इस कमीशन ने 1919 ई. में अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत कीं—

1. विश्वविद्यालयों से अलग करके इंटरमीडिएट की कक्षाएँ माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं को हस्तान्तरित कर दी जाएँ।
2. विश्वविद्यालय के स्थान पर माध्यमिक तथा इंटरमीडिएट शिक्षा एक माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के नियंत्रण में रहेगी।
3. कलकत्ता विश्वविद्यालय के साथ भारत सरकार का कोई विशेष संबंध नहीं होना चाहिए और इसका स्थान बंगाल सरकार को प्राप्त होना चाहिए।

4. डिग्री कोर्स इंटरमीडिएट के बाद तीन वर्ष का होना चाहिए। ऑनर्स कोर्स में यह नियम तुरन्त लागू कर देना चाहिए।
5. कलकत्ता नगर में शिक्षा देने के साधनों को संगठित करना चाहिए, जिससे विश्वविद्यालय वास्तविक शिक्षा दे सके और ढाका में विश्वविद्यालय स्थापित करने की योजना को यथासम्भव शीघ्र ही कार्यान्वित करना चाहिए। **मुफ़स्सिल** कॉलेजों का संगठन इस प्रकार होना चाहिए, जिससे विश्वविद्यालय के नये केन्द्र बनने में प्रोत्साहन मिले।
6. स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देना चाहिए और इसके लिए एक बोर्ड बनाना चाहिए।
7. चूँकि गवर्नमेंट शिक्षा-पद्धति विश्वविद्यालयों के लिए ठीक नहीं है अतएव विश्वविद्यालय में शिक्षा सर्विस का नया संगठन होना आवश्यक है।
8. औद्योगिक शिक्षा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत ही होनी चाहिए।
9. हाई स्कूल तक अधिकांश विषयों में शिक्षा का माध्यम वर्नाक्यूलर और ऊँची कक्षाओं में अंग्रेजी होगी।
10. परीक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन आवश्यक है।

भारत सरकार ने सैडलर कमीशन की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए बिल पेश किया, परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण मार्ग में बाधा पड़ गयी। फलतः सैडलर कमीशन की सिफारिशें कार्यान्वित नहीं की जा सकीं। भारत सरकार ने 1920 ई. में कमीशन की सिफारिशों को प्रान्तीय सरकार के पास भेज दिया। ढाका तथा लखनऊ विश्वविद्यालयों की 1920 ई. में स्थापना की गयी। 1921 ई. में इलाहाबाद और

1922 ई. में दिल्ली विश्वविद्यालय आरम्भ किये गये। इस समय के राष्ट्रीय जागरण ने शिक्षा के विकास को प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप देश में अनेक शिक्षण संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों का निर्माण किया गया।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कलकत्ता के निकट बोलपुर में शांति निकेतन की स्थापना की, जो बाद में विश्वभारती विश्वविद्यालय के नाम से विख्यात हुआ। विश्वविद्यालय की संख्या 1917 से 1922 ई. तक के काल में पाँच से बढ़कर चौदह तक पहुँच गयी। अलीगढ़ एवं बनारस विश्वविद्यालय, उस्मानिया, ढाका विश्वविद्यालय आदि इसी समय स्थापित किये गये।

1919 ई. के अधिनियम में शिक्षा—शिक्षा विभाग 1919 के भारतीय अधिनियम में भारतीय मन्त्रियों को हस्तान्तरित कर दिया गया, जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। उच्च शिक्षा-सम्बन्धी सामान्य नीति का निर्धारण भारत सरकार के हाथ में रहा। प्रान्तीय सरकारों ने 1919 ई. के बाद शिक्षा-सम्बन्धी नये-नये नियम बनाये एवं म्युनिसिपल तथा जिला बोर्डों को अपने-अपने क्षेत्रों में निःशुल्क तथा प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था करने का अधिकार दिया गया।

1935 ई. के अधिनियम में शिक्षा—शिक्षा 1935 ई. के एक्ट के द्वारा प्रान्तीय विषय बना दिया गया। परन्तु कुछ विश्वविद्यालय सीधे केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में रखे गये। 1937 ई. में प्रान्तीय स्वायत्तता की योजना लागू की गयी। आठ प्रान्तों में कांग्रेस के मंत्रिमंडल ने शिक्षा प्रचार के लिए प्रशंसनीय कार्य किये। शिक्षा पर अब पहले की अपेक्षा अधिक व्यय होने लगा। अनेक विश्वविद्यालय स्थापित किये गये।

बेसिक शिक्षा—महात्मा गाँधी बेसिक शिक्षा के जन्मदाता हैं। 1937 ई. में

उन्होंने 'हरिजन' में इस सम्बन्ध में एक पत्र लिखा था। बेसिक शिक्षा का प्रथम सिद्धान्त है—शिक्षा स्वावलम्बी हो। इसका मतलब दूसरे शब्दों में शिक्षा प्राप्त करना तथा द्रव्योपार्जन का कार्य साथ-साथ चलना चाहिए। इसके लिए बच्चों को दस्तकारी की शिक्षा दी जाने वाली थी। बेसिक शिक्षा का दूसरा सिद्धान्त यह था कि स्कूलों में बनाई हुयी वस्तुओं के विक्रय के लिए सरकार बाजार की व्यवस्था करे। बेसिक शिक्षा को कार्यान्वित किया गया।

इस शिक्षा को आगे चलकर चार कोटियों में विभक्त कर दिया गया अर्थात् पूर्व बेसिक शिक्षा, बेसिक शिक्षा, उत्तर शिक्षा तथा वयस्क शिक्षा। 7 वर्ष तक के बच्चों की शिक्षा पूर्व बेसिक शिक्षा के अन्तर्गत आती थी, बेसिक शिक्षा के अन्तर्गत 7 वर्ष से 14 वर्ष तक के बच्चों की शिक्षा आती थी, उत्तर बेसिक शिक्षा के अन्तर्गत उन नवयुवकों की शिक्षा आती थी जिन्होंने बेसिक शिक्षा प्राप्त कर ली है एवं वयस्क शिक्षा के अन्तर्गत सभी अवस्था के स्त्री-पुरुषों की शिक्षा आ जाती थी।

संदर्भ

- K V Singh: *Adult Education in India : Historical Perspective*, Vista International, Delhi, 2007.
- Jagdish Chand: *Education in India During British Period*, Anshah Pub, Delhi, 2007.
- Alok Mukherjee: *This Gift of English : English Education and the Formation of Alternative Hegemonies in India*, Orient Blackswan, Delhi, 2009.
- Yogesh Kumar Singh and Ruchika Nath: *History of Indian Education System*, APH, Delhi, 2005.
- S. Ram Sharma: *Womens Education in Ancient and Muslim Period*, Discovery, Delhi, 1996.
- Amiya P. Sen: *Social and Religious Reform : The Hindus of British India*, Oxford University Press, Delhi, 2003.

आर्थिक चिंता में विश्व

डॉ. कुमार राजीव सिंह

व्याख्याता, अर्थशास्त्र

राजर्षि शालिवाहन डिग्री कॉलेज, भगवानपुर, कैमूर

सबप्राइम संकट

अमेरिका समेत कई विकसित अर्थव्यवस्था को अपने पैरों तले रौंद रहा वित्तीय संकट 6 अक्टूबर 2008 को दुनिया के शेयर बाजारों पर कहर बनकर टूट पड़ा। दलाल स्ट्रीट समेत विश्व के तकरीबन सभी स्टॉक एक्सचेंज बिकवाली की आंधी के रूप में बरपे इस कहर का आसान शिकार बन गए और इनके सूचकांक भरभराकर चारों खाने चित्त हो गए। बंबई स्टॉक एक्सचेंज के संबेदी सूचकांक सेंसेक्स और नेशनल स्टॉक एक्सचेंज के निफ्टी का भी यही हाल रहा। कच्चे तेल की गिरती कीमतें भी शेयर बाजारों का सहारा बनने में नाकामयाब रहीं जिससे एक और सोमवार सेंसेक्स के मुंह पर गिरावट की कालिख पोतने में सफल रहा। सेंसेक्स की पहले की भी कई बड़ी गिरावटें इसी दिन के नाम दर्ज हैं।

अमेरिका के लिए मुसीबत बने सब प्राइम संकट के कारण सुरक्षित निवेश विकल्पों की तलाश में निवेशकों ने बाजार से जमकर धन निकासी की। इससे सेंसेक्स 724.62 अंक गिरकर दो वर्षों के न्यूनतम स्तर 11801.70 पर पहुंच गया। सेंसेक्स 19 सितम्बर 2006 के बाद पहली बार 12 हजार अंक के नीचे आया है। नेशनल स्टॉक एक्सचेंज के निफ्टी की भी यही गति हुई। यह 215.95 अंक अर्थात् 5.66 फीसदी का गोता लगाकर 3602.35 अंक पर बंद हुआ। सेंसेक्स शुक्रवार के 12526.32 अंक की तुलना में 12284.49 अंक पर कमजोर खुला। बिकवाली के दबाव के चलते यह उठने की सोच भी नहीं पाया। नीचे में 11732.97 अंक तक गिरने के बाद कारोबार की समाप्ति पर सेंसेक्स 5.78 प्रतिशत के नुकसान से 11801.70 अंक पर बंद हुआ। बिकवाली दबाव ने बीएसई के किसी भी वर्ग के सूचकांक को बढ़ने का मौका नहीं दिया। इसके मिडकैप में 7.13 प्रतिशत की गिरावट रही। इसका सूचकांक 333.57 अंक गिरकर 4344.23 अंक रह गया। स्मॉलकैप 378.47 अंक अर्थात् 6.92 प्रतिशत के नुकसान से 5086.93 अंक पर बंद हुआ। सेंसेक्स में शामिल सभी तीस कंपनियों के शेयरों को झटका लगा। सेंसेक्स से जुड़ी तीस

कंपनियों में बिकवाली का दबाव इतना अधिक था कि नुकसान वाली पहली बीस कंपनियों के शेयरों में पांच प्रतिशत से ज्यादा की गिरावट दर्ज की गई। अमेरिकी अर्थव्यवस्था की चिंता में आईटी कंपनियों के शेयर भी टूटे। सेंसेक्स में शामिल इस वर्ग की चारों बड़ी कंपनियों के शेयर आँधे मुंह नीचे आए। एशिया के अन्य बाजारों का भी बुरा हाल था। ब्रिटेन के शेयर बाजारों की स्थिति भी खराब रही। यहां का मुख्य सूचकांक एफटीएसई-100 को 233 अंक का झटका खाना पड़ा।

कच्चे तेल की कीमतें आठ माह के बाद पहली बार 90 डालर प्रति बैरल से नीचे आई हैं। ग्यारह जुलाई के 147.27 डालर प्रति बैरल के रिकार्ड भावों से तुलना की जाए तो कच्चा तेल 40 फीसदी तक टूट चुका है। ग्लोबल मंदी की आशंका ने इस सकारात्मक खबर का भी असर नहीं दिखाया। बाजार विश्लेषकों का कहना है कि शेयर बाजारों में यह दहशत बनी हुई है कि विदेशी संस्थागत तेजी से अपना धन निकाल सकते हैं। यही आशंका बाजारों पर भारी पड़ रही है।

सबप्राइम का संकट का जन्म कैसे हुआ?

अंतर्राष्ट्रीय बाजार का आकलन करने वाली एजेंसी डून एन ब्रांड स्ट्रीट (डी एंड बी) के अनुसार अमेरिका में वित्तीय संकट की शुरुआत हुई लोगों की आय कम होने से। उन्होंने लोन को वापस करने में देरी शुरू कर दी। एक अनुमान के अनुसार अमेरिका व यूरोपीय देशों में करीब 80 पर्सेंट लोगों का जीवन क्रेडिट कार्ड पर चलता है। जैसे ही अमेरिका में औद्योगिक उत्पादन गिरने लगा तो लोगों की आय कम होने लगी। इस कारण उन्होंने क्रेडिट कार्ड से लिए गये लोन देना बंद कर दिया। लोगों ने साफ कह दिया कि वे लोन वापस देने की स्थिति में नहीं हैं। इससे बैंकों व वित्तीय संस्थानों को घाटा होने लगा। कई बैंक व वित्तीय संस्थान तो बदहाल हो गए। खरीदारी कम होने से मांग कम हुई और प्रॉपर्टी व अन्य चीजों के दाम घटने लगे। फेडरल बैंक ने ब्याज दरों में कमी शुरू कर दी, ताकि लोग कम ब्याज दर पर नया लोन लेकर पुराना लोन वापस कर सकें। मगर इससे ज्यादा फर्क नहीं पड़ा है।

भारत पर सबप्राइम का असर

भारत का कुल एक्सपोर्ट करीब 140 अरब डॉलर का है, इसमें करीब 40 पर्सेंट का एक्सपोर्ट अमेरिकी व यूरोपीय कंपनियों को किया जाता है। आईटी सेक्टर में करीब 70 पर्सेंट कार्यों का ऑर्डर अमेरिकी व यूरोपीय कंपनियों से लिया जाता है। भारतीय शेयर बाजार में कुल 873 विदेशी निवेशक हैं,

जिनमें से अमेरिकी निवेशकों की संख्या 700 के करीब हैं। ये कुल कारोबार में 30 से 35 परसेंट तक की हिस्सेदारी रखते हैं। अमेरिका ने अपने व्यापार घाटा कम करने के लिए डॉलर को कमजोर करना शुरू कर दिया। इससे भारत के निर्यात को जोरदार झटका लगा। अमेरिका बाजार में खरीदारी घटने से भारतीय निर्यातकों को कीमतें गिरानी पड़ी। इससे निर्यातकों को लाभ मार्जिन कम हो गया। उन्होंने उत्पादन घटाना शुरू कर दिया। आईटी सेक्टर में आउटसोर्सिंग कम हो गई। अमेरिकी संस्थागत निवेशकों ने भारतीय शेयर बाजारों में अपने घाटे की भरपाई के लिए भारतीय शेयरों को उठाकर गिराना शुरू कर दिया ताकि मुनाफा कमाया जा सके। डीएंडबी के भारत में चीफ ऑपरेटिंग अफसर कुशाल संपत का कहना है कि भारत को रुपये की मजबूती से निपटना होगा, साथ ही नये बाजार खोजने होंगे। वरना धीरे-धीरे वह भी सबप्राइम की चेपट में बुरी तरह से आ सकता है।

बढ़ सकती है बेरोजगारी, छिन सकता है विदेशी बाजार

पूर्व वित्त सचिव डीसी गुप्ता के मुताबिक रुपये की कीमत में बढ़ोत्तरी एक तात्कालिक परिघटना है, इसलिए फिलहाल वेट एंड वाच की नीति अपनाई जानी चाहिए। करेसी की मजबूती देशवासियों के लिए चिंता का सबब बनता जा रहा है। रुपये की बढ़ती कीमत से निर्यातकों का मुनाफा प्रभावित हो रहा है, विदेशी बाजार छिनने का संकट पैदा हो गया है और बेरोजगारी की आशंका बढ़ गयी है। आलम यह है कि यदि सरकार और रिजर्व बैंक ने समय रहते रुपये की बढ़ती कीमत पर लगाम नहीं लगाया तो कॉर्पोरेट सेक्टर को होनेवाली क्षति की भरपाई करना मुश्किल हो जायेगा। निर्यातक से लेकर मिल मालिक

तक ने सरकार से गुहार लगाई है कि रुपये की बढ़ती कीमत में तत्काल दखल दी जाये।

सबप्राइम का झटका

यह कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है कि सबप्राइम बाजार से शुरू संकट का असर अब आईसीआईसीआई बैंक पर भी पड़ चुका है। वैश्वीकृत दुनिया में यह उम्मीद करना नादानी होगी कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फैली बीमारी से भारतीय बैंक अछूते रहेंगे। वास्तविकता यह है कि हम अपनी अर्थव्यवस्था को जितना ही खालेंगे, हमारे बैंक भारत और विदेशों में, दोनों जगहों पर अंतर्राष्ट्रीय जोखिम का ज्यादा सामना करेंगे। हमें इस प्रकार के नुकसान के लिए तैयार रहना होगा। आईसीआईसीआई और अन्य बैंकों को अपने आंतरिक जोखिम प्रबंधन संबंधी नियामकों में सुधार करना चाहिए।

कहा जा रहा है कि यह बात समझना जरूरी है कि सबप्राइम बाजार में आईसीआईसीआई बैंक को कोई नुकसान नहीं है। जिस मौजूदा परिसंपत्ति का मूल्यांकन घटा है, वह वास्तव में विदेशी बैंकों द्वारा भारतीय कंपनियों को अधिग्रहण के लिए दिया गया ऋण है। यह पहले की तिमाहियों में ही दिये गये हैं। आईसीआईसीआई बैंक को मार्च की तिमाही के लिए भी अपना प्रावधान बढ़ाना होगा। विदेशी क्रेडिट डेरिवेटिव बाजार को 26.5 करोड़ डॉलर का झटका इसलिए लगा है क्योंकि आईसीआईसीआई बैंक भारतीय कंपनियों को ऋण देने वाले विदेशी बैंकों को क्रेडिट डिफॉल्ट स्वैप (सीडीएस) की बिक्री करता है। सीडीएस एक बीमा उत्पाद है जिसके बदले आईसीआईसीआई को प्रीमियम प्राप्त होता है।

इसके बदले, भारतीय डिफॉल्टर कंपनी का जोखिम मूल कर्ज देने वाले बैंक की जगह आईसीआईसीआई पर आ जाता है। इन उपकरणों और ऋण से

जुड़े बांड्स जैसे अन्य उपकरणों का कारोबार किया जा सकता है। सबप्राइम संकट के कारण उनका बाजार मूल्य घटा है। आईसीआईसीआई बैंक की संयुक्त प्रबंध निदेशक चंदा कोचर का यह दावा सही है कि, 'उक्त नुकसान केवल उन परिसंपत्तियों की कीमतों में गिरावट का परिणाम है (बैंकिंग की भाषा में इसे मार्क टु मार्केट प्राइसिंग कहते हैं) और मौजूदा निवेश की वास्तविक ऋण गुणवत्ता में कोई खास क्षरण नहीं हुआ है', लेकिन यदि बाजार में बखेड़ा जारी रहता है तो प्रावधान बढ़ाने पड़ सकते हैं।

अब बोझ रिजर्व बैंक के कंधों पर आ गया है। भारतीय बैंकों के सबप्राइम संकट से सामना करने (और संभावित नुकसान) के बारे में रिजर्व बैंक ने कोई बयान नहीं दिया है। यह देखते हुए कि कई भारतीय बैंकों, खासकर सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की आईसीआईसीआई से भी ज्यादा शाखाएं विदेशों में हैं, इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि उनको भी इसी तरह का नुकसान झेलना पड़े।

संदर्भ

- Jagadeesha: *Economic Recession and Management Strategies*, Mahamaya, Delhi, 2010.
- P. Arunachalam: *Global Financial Crisis: Its Impact on Indian Economy*, Serials Pub, Delhi, 2010.
- P. Arunachalam: *Marketing Management and Trade Policy*, Serials, Delhi, 2010.
- Pami Dua: *Business Cycles and Economic Growth : An Analysis Using Leading Indicators*, Oxford University Press, 2004.
- V. Krishna Moorthy: *Global Financial Crisis Recession and Beyond*, Yking Books, Delhi, 2010.
- Prafull Chandra Jha: *Gain the Difference - How To Make Profit From Dealling In Shares At Different Stock Exchanges*, Taxmann, Delhi, 2009.

जीडीपी और विकास की सही तस्वीर

डॉ. पुष्पा रानी वर्मा

एमए, अर्थशास्त्र
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

अर्थव्यवस्था कि सही तस्वीर नहीं दर्शाते हैं जीडीपी के आंकड़े

जीडीपी वृद्धि दर के आंकड़ों से बहुत अधिक उत्साहित नहीं होते हुए राष्ट्रपति एपीजे अब्दुल कलाम ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि देश के वास्तविक आर्थिक विकास का पता लगाने के लिए शहरी और ग्रामीण लोगों के जीवन स्तर में होने वाले सुधार का आकलन करना चाहिए। राष्ट्रपति ने कहा कि 'सिर्फ जीडीपी की माप की आर्थिक विकास का संकेतक नहीं मानना चाहिए और मैंने अर्थव्यवस्था की वास्तविक मजबूती का पता लगाने के लिए नेशनल प्रॉस्पेक्टिटी (एनपीआई) को सुझाव दिया है।' उन्होंने एक सवाल के जवाब में कहा कि एनपीआई में जीडीपी गरीबी रेखा से नीचे बसर करने वाले लोगों की संख्या में कमी और सामाजिक मूल्यों का समावेश होगा।

पीयूआरए पर भरोसा: यह पूछने पर कि क्या आर्थिक विकास का लाभ समाज के सबसे कमजोर तबके को मिल रहा है, उन्होंने कहा कि उनकी प्रिय परियोजना पीयूआरए (ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी सुविधाओं का प्रसार) के क्रियान्वयन के जरिए जीडीपी वृद्धि के फायदों को जनता तक पहुंचाया जा सकता है। कलाम ने कहा कि वह अपने राष्ट्रपति भवन छोड़ने के बाद भी पीयूआरए परियोजना पर काम करते रहेंगे। उन्होंने कहा कि 'शहरी लोगों द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली सुविधाओं का विस्तार ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं किया जा सकता है। उन्होंने मिडिया से कृषि क्षेत्रों में रहने वाले 60 करोड़ भारतीय अपनी आजीविका के लिए कृषि क्षेत्र पर निर्भर है।

दस प्रतिशत विकास दर संभव: भारतीय अर्थव्यवस्था ने वर्ष 2006-07 के दौरान 9.4 प्रतिशत की विकास दर हासिल की है, जबकि 2005-06 के दौरान विकास दर नौ प्रतिशत रही थी। वित्त मंत्री कुछ दिनों पहले कह चुके हैं कि चालू

वर्ष के दौरान जीडीपी की विकास दर बढ़कर 10 प्रतिशत हो सकती है। सरकार द्वारा जारी आंकड़ों के मुताबिक 2006-07 के दौरान जीडीपी वृद्धि दर पिछले 18 वर्षों के दौरान सबसे अधिक रही है। इससे पहले भारत ने 1988-89 में 10.5 प्रतिशत की विकास दर हासिल की थी। भारत का सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) बीते वित्त वर्ष के दौरान बढ़कर 28, 48, 157 करोड़ रुपये हो गया है। लेकिन खुशहाली की इस तस्वीर में चुनौतियां भी छिपी हुई है।

कृषि की दशा सुधारने की चुनौती: बीते वर्ष के दौरान विकास दर भले ही 9.4 प्रतिशत रही हो लेकिन कृषि क्षेत्र 2.7 प्रतिशत पर अटका हुआ है, जिसका सीधा अर्थ है कि आर्थिक विकास के इस जलसे में देश के दो तिहाई लोगों की कोई हिस्सेदारी नहीं है। सरकार को खेती की दशा सुधारने के लिए भी खासी माथापच्ची करनी होगी। गौरतलब है कि इस दौरान अर्थव्यवस्था के आठ क्षेत्रों में सिर्फ दो क्षेत्रों की विकास दर में कमी हुई है। जिसमें कृषि भी शामिल है हालांकि वर्ष 2005-06 के दौरान कृषि क्षेत्र का निष्पादन पूर्वानुमानों के मुकाबले बेहतर रहा था। संशोधित कृषि क्षेत्र की वृद्धि दर छह प्रतिशत रहने का अनुमान व्यक्त किया गया है जो पूर्वानुमानों के मुताबिक 3.9 प्रतिशत था।

हर संभव कदम उठाएगी सरकार: आर्थिक विकास के आंकड़ों की घोषणा करते हुए वित्त मंत्री ने कहा था कि समाज के प्रत्येक तबके तक आर्थिक विकास का लाभ पहुंचाने के लिए सरकार हर संभव कदम उठाएगी। उन्होंने कहा कि मैं मानता हूँ कि इस बारे में काफी कुछ करने की जरूरत है और हम ऐसा करेंगे। लगातार उच्च विकास दर के जरिए हम गरीबी दूर कर सकेंगे, लोगों को अच्छी नौकरी मिलेगी और मानव विकास सूचकांकों में सुधार होगा। उन्होंने कहा कि 2006-07 के दौरान वित्तीय घाटा कम होकर 3.5 प्रतिशत रह गया है जो सरकार द्वारा तय लक्ष्य के मुकाबले काफी कम हैं इस दौरान राजस्व घाटा दो प्रतिशत रहा है।

विकास दर का विकल्प

आजकल जीडीपी की ऐतिहासिक बढ़त चारों तरफ चर्चा का विषय बनी हुई है। लोग इसे खुशहाली का आइना भी बता रहे हैं, परंतु वास्तविक स्थिति कुछ और ही है। हमारी जनसंख्या का एक बड़ा भाग गरीबी, कुपोषण एवं भुखमरी से

जकड़ा हुआ है। पिछले कुछ महीनों की बात करें तो बढ़ती जीडीपी की दर को बढ़ती मुद्रास्फीति ने फीका कर दिया। आज इस बात पर काफी सहमति है कि जीडीपी की वृद्धि दर और आम आदमी की खुशहाली में कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है, फिर भी मुख्यधारा से जुड़े अर्थशास्त्री जीडीपी को ही विकास का आधार मानते हैं। ब्रिटिश कंजरवेटिव लीडर डेविड कैमेरान के अनुसार आम आदमी की खुशहाली जीडीपी से अधिक महत्वपूर्ण है। राष्ट्रपति कलाम ने भी राष्ट्रीय समृद्धिशीलता सूचकांक (नेशनल प्रॉस्पेरिटी इंडेक्स) का सुझाव दिया है, जिसमें उन्होंने जीडीपी के साथ-साथ सांस्कृतिक विरासत और प्राचीन सभ्यता पर आधारित एक न्यूनतम गुणात्मक जीवन स्तर की बात कही है।

देश-विदेश के अर्थशास्त्री काफी वर्षों से इस बात पर संदेह प्रकट कर रहे हैं कि जीडीपी विकास दर की विश्वसनीय सूचक रही है। ऐसो पिगाऊ जैसे अर्थशास्त्रियों ने बहुत पहले यह बात कही थी कि जीडीपी बढ़ने से जीवन की गुणवत्ता में सुधार होने की गारंटी नहीं दी जा सकती। इसका कारण है कि जीडीपी बढ़ने मात्र से मानव कल्याण, जनता का सुख और समृद्धि सुनिश्चित नहीं होता। 90 के दशक के मध्य 400 महान अर्थशास्त्रियों, व्यवसायिकों, नोबल पुरस्कार विजेताओं ने मिलकर एक संयुक्त बयान जारी किया था कि जीडीपी को विकास दर का मापदंड न माना जाये।

इसके पीछे तर्क यह था कि जीडीपी बाजार के क्रिया-कलापों की मात्रात्मक तस्वीर ही पेश करती है और इसमें सामाजिक और पर्यावरण संबंधी लागत का पूरा अभाव होता है। अर्थशास्त्री हरफोर्ड के अनुसार जीडीपी में उन बातों को भी शामिल किया जाता है जो

व्यक्ति और समाज के लिए हानिकारक है। उदाहरण के लिए हथियारों की बिक्री, घटिया भवन निर्माण और बाद में महंगे मरम्मत कार्य आदि, जबकि बच्चों की देखभाल, प्राकृतिक स्थलों का भ्रमण जैसी महत्वपूर्ण बातों का जिक्र नहीं होता।

हरफोर्ड याद दिलाते हैं कि जीवन का अर्थ केवल बैंक बैलेंस बढ़ाने तक ही सीमित नहीं है। इन सबके मद्देनजर ऐसे विकल्पों की तलाश रही है जो विकास की सही और उपयुक्त तस्वीर पेश कर सके। विकास दर का एक ऐसा ही मापदंड 'विशुद्ध आर्थिक कल्याण' अर्थात् नेट इकोनॉमिक वेलफेयर सुझाया गया। इस विकल्प को संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक शब्दावली में भी स्थान मिला। इस मापदंड की विशेषता यह रही कि इसमें राष्ट्रीय उत्पाद और उपभोग का वही अंश शामिल करने का सुझाव दिया गया जो प्रत्यक्ष रूप से लोगों की आर्थिक खुशहाली से जुड़ा हो। कैलिफोर्निया के अर्थशास्त्रियों ने 1995 में विकास दर के लिए एक नया मापदंड सुझाया, जिसे शुद्ध प्रगति सूचकांक (जेनुइन प्रोग्रेस इंडिकेटर) कहा गया। इसमें 26 तरह की सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरण संबंधी मदों को शामिल किया गया।

जीपीआई और जीडीपी में अंतर यही है कि जीडीपी में लोगों के कुशल क्षेम होने की स्थिति का पता नहीं चलता, जबकि जीपीआई में पर्यावरण की गुणवत्ता, स्वास्थ्य सुविधाएं, जीविकोपार्जन की सुरक्षा, समान अवसर, शैक्षिक योग्यता, घरेलू और ऐच्छिक रूप से किये गये कार्यों का मूल्य, बीमारी, अपराध एवं प्रदूषण की रोकथाम में किये गये व्यय भी शामिल किये जाते हैं। 70 के दशक में भूटान नरेश ने जीडीपी की जगह सकल राष्ट्रीय

खुशहाली (ग्रास नेशनल हैपिनेस) जैसे अभिनव मापदंड लागू करने का फैसला किया था। जीएनएच के चार स्तंभ हैं—न्याय संगत और सतत सामाजिक-आर्थिक विकास, सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण एवं प्रोत्साहन, पर्यावरण की सुरक्षा और कुशल शासन। जीएनएच के लिए सकल राष्ट्रीय चरित्र (ग्रास नेशनल करेक्टर) की भी आवश्यकता है। आज पैसा कमाना ही महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि यह भी है कि पैसा कमाया कैसे जाता है? यदि लोग तनावग्रस्त हैं तब वे अपने काम-काज को सुचारू रूप से नहीं कर सकते, जिससे संस्था, समाज और परिवार का भला नहीं होता।

आज लोग जीवन की गुणवत्ता कैश बैलेंस बनाने, कार, उपभोक्ता वस्तुओं के खरीदने और भोग विलास की वस्तुओं से मापते हैं। इन सब वस्तुओं से भौतिक संतुष्टि तो होती है, पर आंतरिक संतुष्टि नहीं मिलती। आंतरिक संतुष्टि तो अपने कार्य में संतोष, पारिवारिक जीवन में संतुष्टि तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन की गुणवत्ता, वातावरण, मनोरंजन और सामाजिक व्यवहार से ही मिलती है। जब एक-एक व्यक्ति खुशहाल होता है तो राष्ट्र भी खुशहाल बन जाता है।

विकास की कसौटी

आजकल किसी भी देश के विकास को इससे आंका जाता है कि उसकी आर्थिक वृद्धि दर कितनी है या उसका बाजार कितना बड़ा है। लेकिन यह कसौटी चाहे जितनी प्रचलित हो, इसे लेकर समय-समय पर सवाल उठते रहे हैं। अभी राष्ट्रपति अब्दुल कलाम ने भी कहा है कि केवल जीडीपी को राष्ट्र की तरक्की का सूचकांक नहीं मान लेना चाहिए। पिछले दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में एक समारोह को संबोधित करते हुए उन्होंने

कहा कि हालांकि हमारा जीडीपी सालाना नौ फीसदी की रफ्तार से बढ़ रहा है, मगर यह देश की बड़ी आबादी के जीवन-स्तर को प्रतिबिंबित नहीं करता। यानी आर्थिक वृद्धि दर का ग्राफ ऊपर उठतना इस बात की गारंटी नहीं है कि आम लोगों का जीवन-स्तर भी ऊपर उठा है। इसलिए राष्ट्रपति ने राष्ट्र की खुशहाली का एक नया मानक बनाने की जरूरत जताई है जिसमें जीडीपी के अलावा आम लोगों, खासकर गरीबी रेखा से नीचे की आबादी के रहन-सहन में सुधार को भी मापदंड बनाया जाये। उनका यह भी सुझाव है कि हमें सार्वजनिक जीवन के हर क्षेत्र में ऐसी मूल्य-व्यवस्था स्वीकार करनी होगी जो हमारी सभ्यतागत विरासत के अनुरूप हो। साफ है कि उन्होंने देश की समग्र समृद्धि को आंकने की जो अवधारणा पेश की है उसके दो आयाम हैं। एक तो यह कि राष्ट्रीय आय में क्या सबकी भागीदारी हो पा रही है। दूसरे, हम सिर्फ भौतिक विकास कर रहे हैं या सभ्यतागत मूल्यों के नजरिए से भी आगे बढ़ रहे हैं।

जीडीपी का मानक कितना अपर्याप्त है यह इसी से जाना जा सकता है कि उंची विकास दर के वर्षों में हर साल देश में हजारों किसानों ने खुदकुशी की है और यह सिलसिला अब भी जारी है। नौ फीसदी विकास दर के बरक्स देश के सैंतालीस फीसदी बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। इस तरह के और भी आंकड़े दिये जा सकते हैं। यही नहीं, अब दुनिया भर में यह महसूस किया जाने लगा है कि केवल राष्ट्रीय आय या सकल उत्पादन या अर्थव्यवस्था के आकार को मापदंड बनाना आम लोगों के हित में नहीं है और न ही इससे यह पता चलता है कि कोई समाज अपने

को कितना खुशहाल अनुभव करता है। इसलिए जीडीपी की बजाय लोगों के स्वास्थ्य और प्रसन्नता को पैमाना मानने की मुहिम शुरू हुई है। कुछ साल पहले इसी सिलसिले में भूटान की राजधानी थिंपू में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था जिसमें कई देशों के समाजशास्त्रियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। सवाल है कि सकल उत्पादन या वृद्धि दर का तो आंकड़ा निकाला जा सकता है, पर यह कैसे जानें कि कोई समाज खुद को कितना खुश अनुभव करता है। वैकल्पिक मानदंड स्थापित करने की कोशिश में लगे लोगों के मुताबिक जीवन प्रत्याशा को कसौटी बनाएं तो इससे न सिर्फ किसी समाज की भौतिक संपन्नता का पता चलेगा बल्कि यह भी कि वहां के लोग कितनी सुरक्षा और शांति अनुभव करते हैं। इस लिहाज से जो अध्ययन हुए हैं। उनके मुताबिक वे देश सबसे ज्यादा खुशहाल हैं जिनकी जनसंख्या कम है और जहां भौतिक संपन्नता सबको या ज्यादातर लोगों को हासिल है। कहा जा सकता है कि भारत और चीन जैसे देश, जिनकी आबादी बहुत विशाल है, इस सूची में ऊपर आने की बात सोच नहीं सकते। फिर भी जब हम विकास की बात कर रहे हैं तो हमें जीडीपी के अलावा कुछ और मापदंड स्वीकार करने में हिचक क्यों होनी चाहिए! मसलन, हमें यह देखने की कोशिश तो करनी ही चाहिए कि क्या समूची आबादी को शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएं मुहैया हो पा रही हैं, और बेरोजगारी की दर कितनी है। आपराधिक घटनाओं, असामयिक मौतों और प्रदूषण को भी हम विकास को मापने की वैकल्पिक कसौटी में जोड़ सकते हैं। इसमें दो राय नहीं कि राष्ट्रपति ने जो मुद्दा उठाया है वह हमें नए सिरे से सोचने के लिए प्रेरित करता है।

क्या जीडीपी के बढ़ने से गरीबी घटेगी?

किसी भी देश की आर्थिक हालत को परखने की कसौटियों में सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) एक महत्वपूर्ण कसौटी है। हमारे देश में वर्तमान वित्त वर्ष में सकल घरेलू उत्पाद के 8.1 प्रतिशत के आंकड़े को छूने की बात कही जा रही है। यानी यह लगातार तीसरा वर्ष होगा, जिसमें भारत की आर्थिक विकास दर 7.5 प्रतिशत से अधिक होगी। इसलिए देश में इस बात को लेकर गंभीर बहस छिड़ी हुई है कि क्या जीडीपी के बढ़ने से वाकई गरीबी घटेगी?

आर्थिक सिद्धांतों की बात करें, तो इसमें कोई दो राय नहीं कि जीडीपी के बढ़ने से प्रति व्यक्ति आय में इजाफा होता है। लेकिन भारत के आर्थिक इतिहास की बात करें, तो आजादी के तीस वर्ष बाद तक के देश की आर्थिक विकास दर महज 3.5 प्रतिशत थी। पिछली सदी के अस्सी के दशक में देश में फैली राजनीतिक अस्थिरता और तेल की कीमतों में बढ़ोत्तरी के कारण देश की आर्थिक विकास दर करीब तीन प्रतिशत तक गिर गयी, जबकि जनसंख्या बढ़ोत्तरी की दर दो प्रतिशत से अधिक थी; हालांकि इस दौरान योजनाकृत जनसंख्या वृद्धि का लक्ष्य 1.25 था और प्रति व्यक्ति आय एक प्रतिशत से भी कम थी। इस दशक में भारी उद्योग का विकास बहुत धीमा था। हालांकि इस क्षेत्र में बहुत सारा धन निवेश किया गया, इसके बावजूद औद्योगिक विकास दर चार प्रतिशत पर ही अटकी रही।

ऐसे भयावह आर्थिक अतीत और वर्ष 1990 के आर्थिक संकट के बाद बीसवीं सदी के आखिरी दो दशकों में

भारतीय अर्थव्यवस्था ने गति पकड़ी। वर्ष 1991 में केंद्र सरकार ने नयी आर्थिक नीति लागू की। विदेशी उत्पादकों के लिए देश के बाजार खुलने लगे और भारतीय उद्योगों को संरक्षण मिलना बंद हो गया। विदेशी निवेश के लिए दरवाजे खोले गये। परिणामस्वरूप, प्रति व्यक्ति आय में बेतहाशा वृद्धि देखने को मिली। इसकी जांच इस तथ्य से की जा सकती है कि पिछले तीन वर्षों के दरम्यान देश में प्रति व्यक्ति आय की दर नब्बे के दशक के मुकाबले लगभग तीन गुनी हो गयी है। इन आंकड़ों से स्पष्ट है कि जीडीपी के बढ़ने से प्रति व्यक्ति आय में बढ़ोत्तरी होती है। पर यह पूरे देश की कुल आय के आंकड़ों का हिसाब है। इसलिए यह सवाल अपनी जगह महत्वपूर्ण है कि क्या जीडीपी के बढ़ने से गरीबी घटेगी?

अब तक दुनिया में जिन देशों ने गरीबी से मुक्ति पाने में कामयाबी हासिल की है, उनमें जीडीपी का बढ़ना भी महत्वपूर्ण कारक रहा है। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि सिर्फ इसके बढ़ने से ही गरीबी खत्म हो जायेगी। गरीबी उन्मूलन के संबंध में एक दलील दी जाती रही है कि ट्रिकल डाउन इकोनॉमिक्स से ही देश को गरीबी उन्मूलन के संबंध में एक दलील दी जाती रही है कि ट्रिकल डाउन इकोनॉमिक्स से ही देश को गरीबी से मुक्ति मिलेगी। ट्रिकल डाउन इकोनॉमी में पहले समाज के संपन्न तबके का विकास होता है। पर चूंकि यह तरीका गरीबी पर परोक्ष प्रहार का है, इसलिए इसकी संभावना बहुत कम है कि इस रास्ते गरीबी से मुक्ति मिलेगी। पहली बात तो यह है कि पूरे संपन्न तबके का एक समान विकास संभव नहीं, फिर कथित विकास को हासिल करने में लंबा समय लगेगा।

इसलिए जरूरी है कि गरीबी पर प्रत्यक्ष प्रहार किया जाये। राज्य व्यवस्था समाज के गरीब तबके को रोजगार उपलब्ध कराये। इस आलोक में संप्रग सरकार की रोजगार गारंटी योजना एक कारगर पहल है। ऐसी योजनाओं से गरीबी पर प्रत्यक्ष प्रहार होगा और इनके नतीजे भी जल्द ही मिलेंगे। लेकिन ऐसी योजनाओं को चलाने के लिए काफी धन की आवश्यकता होगी। ऐसी स्थिति में यह सवाल महत्वपूर्ण हो जाता है कि धनराशि कहां से आयेगी। जाहिर है, अगर देश का आर्थिक विकास होगा, जीडीपी में भी बढ़ोत्तरी होगी, तो सरकार के राजस्व में बढ़ोत्तरी होगी। मजबूत राजस्व स्थिति ही इस तरह की रोजगार योजनाओं के सुचारू संचालन की गारंटी दे सकती है। बहरहाल, एक बात तो बिल्कुल स्पष्ट है कि अनुदान के सहारे गरीबी उन्मूलन नहीं हो सकता है। वर्ष 1951 से लेकर अब तक भारत को 55 अरब डॉलर का विदेशी अनुदान मिला है। दुनिया में किसी भी देश को इतना विदेशी अनुदान नहीं मिला है। लेकिन आज भी भारत की करीब 26 करोड़ आबादी गरीबी रेखा के नीचे जीवन बसर कर रही है। इसलिए कहना न होगा कि सिर्फ आर्थिक विकास से ही गरीबी को मिटाया जा सकता है। आर्थिक संवृद्धि में कहीं न कहीं सबको हिस्सेदारी मिलती है।

वर्ष 2006 में विश्व बैंक की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि जिस दर से किसी देश का आर्थिक विकास होता है, उसी अनुपात से प्रत्येक गरीब की आय में वृद्धि होती है। यह रिपोर्ट 80 देशों में समाज के निचले स्तर के पांच व्यक्तियों की आय और उनके देशों के जीडीपी के अंतर्संबंधों के 40 वर्षों से अधिक समय तक के निरीक्षण के बाद जारी की गयी है। इन बातों से इतना तो

तय हो जाता है कि आर्थिक विकास और गरीबी के बीच कोई संघर्ष नहीं है। पूरी दुनिया में पिछले 50 वर्षों में इतने लोग गरीबी से ऊपर उठे, जितने पिछले 500 वर्षों में ऊपर नहीं उठ सके थे। इसकी एकमात्र वजह है, आर्थिक विकास और व्यापार। इसलिए अब इसमें कोई शक नहीं कि जीडीपी बढ़ेगा, तो उसकी रोशनी झोंपड़ियों तक भी पहुंचेगी। इसलिए उम्मीद की जानी चाहिए कि भारत का आर्थिक विकास सबके लिए है।

संदर्भ

- Baran, Paul A.: *The Political Economy of Growth*, New York, Modern Reader Paperbacks, 1975.
- Basu, Kaushik. *Analytical Development Economics, The Less Developed Economy Revisited*, Cambridge, Mass.: MIT Press, 1997.
- Benería, Lourdes. *Gender, Development, and Globalization, Economics as if All People Mattered*, New York and London, Routledge, 2003.
- Cootner, Paul : *The Random Character of Stock Market Prices*, MIT Press, 1964.
- Dimson, Elroy: *Stock Market Anomalies*, Cambridge University Press, 1988.
- Gowdy, J., *Coevolution Economics: The Economy, Society and the Environment*, Kluwer, Boston, 1994.
- Weber, M.: *The Theory of Social and Economic Organizations*, New York, Oxford University Press, 1947.
- West, Thomas L.: and Jeffrey D. Jones: *Handbook of Business Valuation*, New York: Wiley, 1992.
- Woodward, J.: *The Oxford Handbook of Philosophy of Economics*, New York, Oxford University Press, 2009.
- Yegge, Wilbur M., *A Basic Guide for Valuing a Company*, New York, Wiley, 1996.
- Zipp, Alan S., *Business Valuation Methods* New York, American Institute of Certified Public Accountants, 1990.

ग्रामीण महिलाओं का राजनैतिक सशक्तिकरण : एक समाजशास्त्रीय विवेचन (बिहार राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों के संदर्भ में एक विशेष अध्ययन)

प्रो० शिवचन्द्र प्रसाद चौधरी

व्याख्याता, समाजशास्त्र विभाग, डॉ० जगन्नाथ मिश्रा
महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर
(बी०आर० अंबेडकर बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर)

महिला सशक्तिकरण से तात्पर्य महिलाओं को पुरुषों के बराबर वैधानिक, राजनैतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में उनके परिवार, समुदाय, समाज एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निर्णय लेने की स्वायत्तता से है। भारत में महिला सशक्तिकरण का प्राथमिक उद्देश्य महिलाओं की सामाजिक एवं आर्थिक दशा को सुधारना है।

महिलाएं सदैव हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक व्यवस्थाओं का आधार रही हैं। आज की परिस्थितियों में जीवन के हर क्षेत्र में उनका योगदान बढ़ रहा है। सभी महिलाएं कर्मशील होती हैं। परंतु उनके द्वारा किये गये कार्य को मुद्रा में नहीं मापा जाता।

यही कारण है कि किसी भी प्रदेश की कुल आय में महिलाओं की आय नगण्य है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि अधिकतर महिलाएं असंगठित क्षेत्रों में कार्य करती हैं। परिणामस्वरूप उनके द्वारा अर्जित आय कुल सकल आय में दिख नहीं पाती।

इसलिए यह आवश्यक है कि महिलाओं के कार्य क्षेत्र को संगठित किया जाये और यह सुनिश्चित किया जाये कि उनके द्वारा अर्जित आय कुल सकल आय में दिख नहीं पाती।

इसलिए यह आवश्यक है कि महिलाओं के कार्य क्षेत्र को संगठित किया जाये और यह सुनिश्चित किया जाये कि उनके द्वारा अर्जित आय उन्हें ही प्राप्त हो। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में महिलाओं के दायित्व और जीवन संदर्भ भी बदलें हैं, ऐसे में आज महिला पुरुष के बीच की जिम्मेवारी हम सबकी है और सभी आज मदद कर रहे हैं।

बिहार सरकार ने 2006 एवं 2007 में संपन्न हुए पंचायत एवं नगर पालिका आम चुनावों में महिलाओं को 50 प्रतिशत आरक्षण दिया। यह आरक्षण एक ऐसे समय में दिया गया जब केंद्र में महिलाओं के विधायिकाओं में आरक्षण का मुद्दा बार-बार उठ रहा था और हर सरकार उसे ठंडे वस्ते में डालती रही। ऐसे में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि महिलाओं को दिया गया यह आरक्षण क्या लोकतांत्रिक प्रक्रिया की दिशा में उठाया गया कदम है।

मई 2006 में संपन्न हुए पंचायत चुनावों में ग्राम पंचायत सदस्य एवं ग्राम कचहरी पंच के लिए क्रमशः 114621 तथा 108994 निर्वाचित हुए, जिनमें महिलाओं की संख्या 62733 तथा 52805 रहीं, जबकि मुखिया तथा सरपंच के लिए क्रमशः 8458 एवं 8461 निर्वाचित हुए जिनमें 4222 एवं 4022 महिलाएं चुनी गयीं। इसी तरह पंचायत समिति सदस्य तथा जिला परिषद सदस्य के लिए क्रमशः 11566 एवं 1160 सदस्य निर्वाचित हुए जिनमें महिलाओं की संख्या 5671 एवं 578 रहीं।

2006 का पंचायत चुनाव

पंचायत प्रतिनिधि	कुल संख्या	महिलाओं की संख्या	पुरुषों की संख्या
ग्राम पंचायत सदस्य	114621	62733	51888
ग्राम कचहरी (पंच)	108994	52805	56189
मुखिया	8458	4222	4236
सरपंच	8461	4022	4439
पंचायत समिति	11566	5671	5895
जिला परिषद	1160	578	582
कुल	235260	130031	123229

इस प्रकार उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि वर्तमान समय में पंचायत प्रतिनिधियों में महिलाओं की संख्या पुरुषों से भी अधिक है। कुल संख्या 235260 में 51.34 प्रतिशत

महिलाएं अभी पंचायत प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार देखा जा रहा है कि पंचायत के माध्यम से भी उन महिलाओं का जो पंचायत चुनाव में भाग ले रहीं हैं का सशक्तिकरण हो रहा है।

बिहार की कुल आबादी 8,29,98,500 है। यहां प्रति 1000 पुरुष पर 919 महिलाएं हैं अर्थात् प्रति 1000 पुरुष पर 81 महिलाएं कम हैं। यह देश के औसत से कम है। यह स्थिति हमेशा नहीं रही है। परंतु विगत वर्षों में महिला जनसंख्या में घटने की प्रवृत्ति देखी गयी है।

यदि 1991 की जनसंख्या पर गौर किया जाये तो पता चलता है कि पुरुष स्त्री का अनुपात वर्तमान से बेहतर था। विगत एक दशक में महिला की जनसंख्या में ह्रास और बढ़ा है। यह ह्रास गांवों की अपेक्षा शहरों तथा कस्बों में ज्यादा देखने को मिला है जहां साक्षरता दर ज्यादा है। यह इस बात का संकेतक है कि साक्षर समुदाय में महिलाओं के प्रति अनुदारता व संकुचन की प्रवृत्ति ज्यादा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ग्रामीण महिलाएं आज सशक्त हुई हैं तथा उनमें जागृति आयी है और वे हरेक क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं। महिलाओं के आर्थिक व सामाजिक दशा में सुधार आया है। हालांकि वे आज घर से बाहर भी निकल रहीं हैं, पर्दा भी न के बराबर ही है। कुछ महिलाओं का मानना है कि वे अपना निर्णय लेने में घर के पुरुष सदस्य दखलअंदाजी करते हैं। वे आज हर समस्याओं के खिलाफ लड़ने को तैयार हैं तथा वे महिला अत्याचार के विरुद्ध मोर्चा खोलकर अपने अधिकारों के लिए लड़ने को तैयार हैं तथा अपने लड़कियों को भी शिक्षित बनाने के लिए पूरा जोर

दे रहीं हैं। आज अगर देखी जाए तो निम्न वर्ग की महिलाओं में सुधार तो आया है परंतु उनमें और अधिक जागृति लाने की जरूरत है। अधिकांश महिलाओं का मानना है कि आज महिलाएं पहले से तो सशक्त हुई हैं परंतु फिर भी समाज में पुरुष वर्चस्व की स्थिति विद्यमान है।

भारत सरकार ने ग्रामीण विकास में महिला रोजगार की भागीदारी बढ़ाने के लिए समय-समय पर नीतियों का निर्माण किया है। महिलाओं और बच्चों के समग्र विकास को वांछित गति प्रदान करने के लिए 1985 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अधीन महिला और बाल विकास विभाग गठित किया गया है। 2006 से इसे स्वतंत्र मंत्रालय का दर्जा दे दिया गया है। महिला और बाल विकास मंत्रालय महिलाओं के विकास की देखरेख करने वाली प्रमुख एजेंसी के रूप में योजनाएं, नीतियां और कार्यक्रम तैयार करता है, महिलाओं के बारे में कानून बनाता है और उनमें संसाधन करता है और महिलाओं को विकास के क्षेत्र में काम करने वाले सरकारी और गैर-सरकारी दोनों तरह के संगठनों के

प्रयासों का दिशा-निर्देशन और समन्वय करता है।

इसके अलावा विभाग महिलाओं के लिए कुछ अभिनव कार्यक्रमों को भी लागू करता है। ये कार्यक्रम प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण, रोजगार और आमदनी बढ़ाने, कल्याण और सहायक सेवाओं तथा जागरूकता पैदा करने और महिलाओं में चेतना जगाने के क्षेत्र में होते हैं। इन सब कार्यक्रमों का अंतिम उद्देश्य महिलाओं को आत्मनिर्भर और सक्षम बनाना है। इन योजनाओं के फलस्वरूप भी महिलाओं में जागृति आयी है। महिलाएं आज घर से बाहर निकली हैं। उनमें राजनीतिक चेतना आयी है और वे राजनीति में भी अपना परचम लहरा रही हैं।

संदर्भ ग्रंथों की सूची-

1. भारतीय महिलाएं दशा एवं दिशा : सुभाष शर्मा ।
2. महिला श्रमिक : सरोज राय ।
3. कर्मशील महिलाएं एवं भारतीय समाज : डॉ० सुभाषचन्द्र गुप्ता ।
4. कुरुक्षेत्र (पत्रिका ग्रामीण विकास मंत्रालय) ।
5. राज्य निर्वाचन आयोग के वेबसाइट ।

कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकें

01. शताब्दी के अंत की कविता	- नंद किशोर नवल	प्रकाशन संस्थान
02. नागार्जुन की कविता	- अजय तिवारी	वाणी प्र०
03. शष्ट और मनुष्य	- परमानंद श्रीवास्तव	राजकमल
04. समकालीन हिन्दी कविता	- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	राजकमल प्र०
05. हिन्दी की प्रगतिशील कविता	- ललन राय	हरियाणा साहित्य अकादमी
06. नयी कविता और अस्तित्वाद	- राम विलास शर्मा	राजकमल प्र०
07. सापेक्ष (स० महावीर अग्रवाल)	- नागार्जुन विशेषांक	

ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं के रोजगार की संभावना (एक समाजशास्त्रीय अध्ययन)

डॉ० राजेश कुमार सिन्हा, व्याख्याता

समाजशास्त्र विभाग, रामश्रेष्ठ सिंह महाविद्यालय,
बोंचहा मुजफ्फरपुर
(बी०आर० अंबेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर)

भारत में ग्रामीण विकास, रोजगार संवर्द्धन व विभिन्न क्षेत्रों की समस्याओं को हल करने के लिए तथा महिला के विकास के लिए कई योजनाओं का क्रियान्वयन किया जा रहा है जिसके प्रभाव के परिणामस्वरूप समाज में आज महिलाएं सामाजिक और आर्थिक रूप से सशक्त हुई हैं। आज ग्रामोद्योग के फलस्वरूप गांवों में बहुत से छोटे-मोटे उद्योगों की स्थापना रोजगार के लिए की गई है जिसमें प्रमुख रूप से दुग्ध उत्पादन मधुमक्खी पालन, मुर्गी पालन, हस्तकरघा, उद्योग, सिलाई केंद्र तथा बहुत सारे छोटे-छोटे उद्योगों को लगाया गया है। इनके फलस्वरूप गांवों में ही आज रोजगार की संभावनाएं बढ़ी हैं। इनमें विशेष रूप से सरकार की स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना के तहत बनाए जा रहे स्वयं सहायता समूह ने भरपूर योगदान दिया है। महिलाओं में इन सभी योजनाओं के परिणामस्वरूप ही महिलाओं में जागृति आयी है। इनके लिए प्रारंभ किये गये विभिन्न योजनाएं इस प्रकार हैं—

समेकित बाल विकास परियोजना—हर मां और बच्चा स्वस्थ और सुपोषित बन सके इसके लिए हर गांव में आंगनबाड़ी केंद्रों के माध्यम से कई सुविधाएं और सेवाएं दी जा रही हैं। 6 साल तक के बच्चे, गर्भवती और शिशुवती महिलाएं इसका लाभ ले सकते हैं। भांति-भांति के व्यंजन का पोषक आहार, टीकाकरण, स्वास्थ्य जांच, वजन, खेल-खेल में पढ़ाई और सरकारी योजनाओं का लाभ आंगनबाड़ी केंद्र से प्राप्त कर सकते हैं।

अनुसूचित जाति कन्या विवाह के लिए “सौभाग्यवती योजना”—अनुसूचित जाति वर्ग के गरीबी रेखा के नीचे

जीवनयापन करने वाले परिवारों की लड़कियों का विवाह सरकार कराएगी। इस हेतु कन्या के माता-पिता को शादी के लिए 5000 रुपये उपलब्ध कराए जाएंगे।

विपतिग्रस्त महिलाओं को कानूनी सहायता—कोई भी उत्पीड़ित या बच्चे जिन्हें कानूनी सहायता की जरूरत है, वह इस योजना का लाभ ले सकते हैं। विभाग द्वारा अनुदान प्राप्त स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से कानूनी सलाह प्रदान की जाती है। विपदाग्रस्त महिलाओं की पुनःस्थापना के लिए प्रशिक्षण केंद्र की स्थापना—बेसहारा महिलाएं एवं उनके 6 वर्ष तक के बच्चों को इस योजना के तहत आवास, भोजन, स्वास्थ्य एवं सुरक्षा सुविधा प्रदान की जाती है। यह योजना स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से चलायी जाती है तथा पात्र हितग्राही महिलाओं को विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण भी दिए जाते हैं।

संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना—बाढ़, सूखा या अन्य कुदरती कारणों से गांव में रोजगार का अभाव हो जाता है। इसलिए ग्रामीणों को रोजगार की तलाश में दूसरी जगह पलायन करना पड़ता है। इसका सबसे ज्यादा विपरीत असर महिलाओं और बच्चों पर पड़ता है। गांव वालों को गांव में ही रोजगार उपलब्ध कराने के लिए ग्रामीण विकास विभाग द्वारा संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना चलाई जा रही है। इसमें हर कामकाज के दिन हर मजदूर को 5 किलो अनाज और शेष नगद राशि दी जाती है। इस योजना में गांवों में विभिन्न निर्माण के काम कराए जाते हैं, ताकि गांव की स्थिति और लोगों की माली हालत सुधरे। इस योजना में महिलाओं के लिए 30 प्रतिशत रोजगार के अवसर सुरक्षित रखने का प्रावधान है।

स्वाधार योजना—कठिन परिस्थितियों में जीवनयापन करने वाली महिलाओं के आश्रय एवं पुनर्वास के लिए यह योजना चलायी जा रही है। योजना के तहत महिलाओं को आश्रय गृह, पुनर्वास हेतु प्रशिक्षण, परामर्श एवं हेल्प लाइन आदि का प्रावधान है।

इंदिरा आवास योजना—योजना के तहत ग्राम क्षेत्र में गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाले परिवारों, विशेषकर महिलाओं को निःशुल्क आवास उपलब्ध कराये जाते हैं। इन आवासों में स्वच्छ शौचालय और धुंआरहित चूल्हों का निर्माण कराया जाता है।

स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना—गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले परिवारों के स्वसहायता समूहों में से 50 प्रतिशत केवल महिलाओं के होते हैं। स्वसहायता समूह द्वारा प्रथम ग्रेडिंग में उत्तीर्ण होने पर 5000 रुपये रिवॉल्विंग फंड उपलब्ध कराया जाता है तथा इसका चार गुना कर कैश क्रेडिट बैंकों द्वारा उपलब्ध कराया जाता है।

प्रधानमंत्री रोजगार योजना—शिक्षित बेरोजगार युवक-युवतियों को स्वयं का उद्योग/सेवा/व्यवसाय प्रारंभ कराने के लिए सरकार द्वारा एक-दो लाख रुपये तक का ऋण उपलब्ध कराया जाता है। योजना के तहत एक लाख रुपये तक की राशि पर कोई धरोहर/प्रतिभूति नहीं ली जाती है।

दीनदयाल रोजगार योजना—प्रदेश के पढ़े-लिखे बेरोजगार युवक-युवतियों को उद्योग, सेवा, व्यवसाय के क्षेत्र में स्वरोजगार स्थापित करने के लिए बैंकों/वित्त संस्थाओं द्वारा दिए जाने वाले ऋण में अपेक्षित मार्जिन मनी को जमा कराने में सहायता देने के लिए उद्योग विभाग द्वारा यह योजना चलाई जा रही है। इस योजना का लाभ ऐसा कोई भी मध्यप्रदेश का मूल निवासी ले सकता है, जिसकी आयु 18 से 40 वर्ष के बीच है, 10वीं कक्षा या आई.टी.आई. पास है, परिवार की कुल वार्षिक आय 1.50 लाख रुपये से ज्यादा नहीं है और रोजगार कार्यालय में उसका जीवित पंजीयन है। इस योजना का लाभ जिला उद्योग केंद्र के जरिए लिया जा सकता है।

महिला डेयरी परियोजना—इस योजना को महिला दुग्ध सहकारी समितियों का गठन, डेयरी व्यवसाय में महिला भागीदारी के लिए प्रोत्साहन, दूध संकलन, संसाधन और विपणन का प्रभावी संचालन तथा दूध उत्पादकों को

उचित मूल्य के भुगतान के लिए पशु पालन विभाग द्वारा चलाया जा रहा है। इसका लाभ महिला सहकारी दूध समिति की ऐसी महिलाएं जो पशुपालन एवं डेयरी व्यवसाय में रुचि रखती हो, ले सकती हैं। प्रदेश में यह योजना सीहोर, देवास, शजापुर, मुरैना, एवं सिवनी जिलों में चलाई जा रही है।

रानी दुर्गावती अनुसूचित जाति/जनजाति स्वरोजगार योजना—यह योजना भी अनुसूचित जाति/जनजाति के शिक्षित बेरोजगार लोगों को खुद का रोजगार शुरू करने के लिए है। इसमें अपना कामधंधा शुरू करने के लिए बैंकों से कर्ज लेने वाले व्यक्तियों को मार्जिन मनी उपलब्ध कराई जाती है। मार्जिन मनी की अधिकतम सीमा प्रोजेक्ट का तैंतीस प्रतिशत तक है, प्रदान की जाती है। इसमें इन जाति के व्यक्तियों के लिए आयु सीमा 18 से 50 वर्ष रखी गयी है। ऐसे व्यक्ति को कम से कम 8वीं तक पढ़ा होना जरूरी है। इस योजना का लाभ भी जिला उद्योग केंद्र के माफत लिया जा सकता है।

राष्ट्रीय परिवार सहायता योजना—गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले परिवार का ऐसा सदस्य, जो कि कमाई करता हो, की मृत्यु हो जाने पर सरकार द्वारा दस हजार रुपये की एकमुश्त सहायता राशि उपलब्ध करायी जाती है।

उपरोक्त योजनाएं महिला के विकास को ध्यान में रखकर चलाई जा रही है ताकि इससे असहाय कमजोर वर्ग की महिलाएं भी अपना विकास कर सकें तथा पिछड़ी हुई अवस्था से उभर सकें तथा समाज में तेजी से बढ़ रहे अपराध, भ्रष्टाचार, अराजकता को रोकने के लिए इन महिलाओं की अहम भूमिका हो सकती है। अनियमित कार्य को करने

वाले अथवा बढ़ावा देने वाले चाहे जन प्रतिनिधि हों, गांव के सभ्रांत लोग हों अथवा सरकारी कर्मचारी और अधिकारी हों, उनके द्वारा पंचायतों के माध्यम से इस प्रकार के लोगों के प्रति पूरी पंचायत का ध्यान आकृष्ट कराया जा सकता है तथा जनतांत्रिक तरीके से विरोध भी प्रकट किया जा सकता है।

आवश्यकता पड़ने पर किसी भी संविधान सम्मत तरीके का सहारा भी लिया जा सकता है। इस प्रकार समाज में भ्रष्टाचार उन्मूलन की दिशा में इन महिला प्रतिनिधियों से सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। देश की कुल जनसंख्या में यदि महिलाओं का वर्तमान अनुपात देखें तो वह 47 करोड़ पुरुषों के विपरीत लगभग 43.5 करोड़ है। इस प्रकार पुरुषों और महिलाओं का प्रतिशत लगभग 52 और 48 है।

इसके साथ-साथ यदि देश की अर्थव्यवस्था में महिलाओं के योगदान का अध्ययन करें तो पता चलता है कि यह इनके अनुपात से बहुत ही कम होता है। देश में कुल महिला श्रमबल का प्रतिशत मात्र 22.2 है। ग्रामीण क्षेत्रों में अपना योगदान बढ़ाना होगा और इसके लिए पंचायतों की इन नवनिर्वाचित महिला जन-प्रतिनिधियों को मार्गदर्शन देना होगा। आर्थिक विकास की अनेकानेक योजनाओं और कार्यक्रमों से उन्हें सीधे-सीधे जोड़ना होगा।

संदर्भ ग्रंथों की सूची—

1. महिला श्रमिक : सरोज राय ।
2. कर्मशील महिलाएं एवं भारतीय समाज : डॉ० सुभाषचन्द्र गुप्ता ।
3. भारतीय महिलाएं दशा एवं दिशा : सुभाष शर्मा ।
4. कुरुक्षेत्र (पत्रिका ग्रामीण विकास मंत्रालय) ।
5. योजना (पत्रिका ग्रामीण विकास मंत्रालय) ।

वेदांत दर्शन और स्वामी विवेकानन्द

अभिषेक कुमार पाण्डेय

विषय-दर्शनशास्त्र,
बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर बिहार
विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर

विश्व में विवेकानन्द का नाम वेदांत दर्शन के संदर्भ में सदैव याद किया जायेगा। इसलिए ही उन्हें “भारतीय वेदांत की धरोहर” कहा जाता है। पश्चिमी देशों में जाकर हिन्दू धर्म के आदर्शों के बारे में लोगों को जानकारी प्रदान कर स्वामीजी ने उनकी भारत के बारे में कई भ्रांतियां दूर की। स्वामीजी का गीता और उपनिषदों पर बहुत अच्छा आधिपत्य था। बौद्ध और जैन साहित्य के वे पंडित थे। ईसाई धर्म ग्रंथों से उनका परिचय स्थापित हो चुका था।

विवेकानन्द वेदांत दर्शन के निष्णात अध्येता थे। वे अद्वैत वेदांत के संदेश वाहक तथा मायावादी थे, किंतु उनकी बुद्धि समन्वयवादी थी। उन्होंने ब्रह्म को सत्य माना था। उनका सच्चिदानन्द ब्रह्म में पूर्ण विश्वास था। उनके अनुसार ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था में पूर्ण सत्य का साक्षात्कार ही ब्रह्म है। विवेकानन्द ने वेदान्त दर्शन के अंतर्गत उस ईश्वर का प्रतिपादन नहीं किया जो मृत्यु के बाद स्वर्ग में समस्त सुख दे सकता है, किंतु जीवित व्यक्तियों को रोटी उपलब्ध नहीं करा सकता। वे मानव को धर्मसंगत आचरण और विचार करने की प्रेरणा देते थे। मानव के समस्त विकास के लिए उन्होंने वेदांत दर्शन का सहारा लिया। उनके अनुसार वेदांत के सिद्धांत शाश्वत हैं जो अन्य व्यक्तियों और अवतारों के सहारे के बिना, स्वयं अपनी नींव पर खड़े हुए हैं। केवल वेदांत को ही पूर्ण सार्वभौमिक धर्म की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि यह सिद्धांत का प्रतिपादन करता है, व्यक्तियों का नहीं। वेदांत की प्रमाणिकता मानव के चिरन्तन स्वभाव में है।

विवेकानन्द के वेदान्त दर्शन के तीन प्रमुख आधार हैं—

प्रथम, मानव की वास्तविक प्रकृति ईश्वरीय है, द्वितीय, जीवन का लक्ष्य उस ईश्वरीय प्रकृति की अनुभूति है, तथा

तृतीय, सभी धर्मों का मूल लक्ष्य समान है। वेदान्त कोई संसार त्यागने का उपदेश नहीं अपितु समस्त संसार को ब्रह्ममय का पाठ पढ़ता है। विवेकानन्द ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों में स्वीकार करते हैं। वे ब्रह्म की अनुभूति के लिए ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग तीनों का ही समन्वय आवश्यक मानते हैं। वे योग को ही धर्म का मूल आधार मानते हैं। उनके अनुसार योग एक सामान्य जन के लिए मानव और मानवता का सम्मिलन है, एक रहस्यवादी के लिए निम्न तथा उच्च सत्ता का मिश्रण है, एक प्रेमी के लिए प्रेम के देवता का मिलन है तथा एक दार्शनिक के लिए समस्त अस्तित्व का बोध है।

विवेकानन्द के अनुसार वेदान्त पण्डितों के शास्त्रार्थ और सन्यासियों की साधन का विषय नहीं है वरन् यह प्रतिदिन के पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की कुंजी है। उनके लिए तो वेदान्त व्यक्ति के उत्थान और समाज के निर्माण तथा राष्ट्र के समन्वय का शास्त्र है। विवेकानन्द के अनुसार वेदान्त का आदर्श मानव के सच्चे स्वरूप को जानना है। विवेकानन्द यह चाहते थे कि वेदान्त के आधार पर भारत को एक बार फिर अतीत का गौरव प्राप्त हो जाय।

धर्म के प्रति विवेकानन्द का दृष्टिकोण वैज्ञानिक और बुद्धिवादी है। विज्ञान और धर्म के बीच वे बहुत कम अंतर खोजते थे। दोनों ही एकता के लिए अभियान करते हैं और दोनों ही व्यक्ति और जाति के लिए मुक्ति की खोज करते हैं। एक अर्थ में, समस्त ज्ञान ही धर्म है, और एक अन्य अर्थ में समस्त ज्ञान ही विज्ञान है।

धर्म की वैज्ञानिकता का अर्थ यह है कि वे अंधविश्वास को उपयुक्त नहीं मानते थे। विवेकानन्द के अनुसार, “धर्म आध्यात्मिक जगत के सत्यों से उसी प्रकार संबंधित है जिस प्रकार से रसायनशास्त्र तथा दूसरे भौतिक विज्ञान जगत के सत्यों से हैं। जिस प्रकार से प्राकृतिक विज्ञान भौतिक जगत के नियमों का अनुसंधान करता है उसी प्रकार धर्म नैतिक और तत्वमीमांसीय जगत् के सत्यों से संबंध और मनुष्य के आंतरिक स्वभाव के भव्य नियमों की खोज करता है।

विवेकानन्द हिन्दू धर्म के पक्षपाती इस आधार पर थे कि वह नैतिक मानवतावाद और आध्यात्मिक आदर्शवाद का सार्वभौमिक प्रतिरूप है। उनके अनुसार हिन्दू का दुरूह पंथों,

कर्मकाण्डों एवं अंधविश्वासों, परंपरागत मतवादों और आदिम कर्मकाण्ड का पुंज नहीं है जिन्हें देखने के लिए यूरोपीय आलोचक दुर्भाग्यवश सदैव इच्छुक रहता है। अपितु हिन्दू धर्म एक ऐसा व्यापक सत्य है जो न्याय, सांख्य और वेदांत के द्वारा अपने हृदय में गंभीरता एवं दार्शनिक प्रतिभा को शरण दे सकता है।

उनके अनुसार हिन्दू धर्म मानव जाति के उद्धार के लिए नैतिक तथा आध्यात्मिक विधानों और काल निरपेक्ष नियमों की संहिता है। पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्तर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो, किंतु उन्हें पाखंडी पुरोहितों से बहुत चिढ़ थी जिन्होंने अपने स्वार्थों के कारण हिन्दू धर्म को कलंकित कर रखा था। स्वामीजी ने अपने देशवासियों के जाति आदि के नाम पर बनी पृथक्ता की दीवारों को गिरा देने का अनुरोध किया।

विवेकानन्द का हिन्दू धर्म विशाल एवं विस्तृत है जिसमें उन्होंने उपनिषदों, गीता, वेदांत और भक्ति आंदोलन के विभिन्न, संतों, सभी की विचारधाराओं को सम्मिलित किया। उन्होंने वेदांत में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतवाद को सम्मिलित किया।

उनके अनुसार विभिन्न दर्शन पद्धतियों में कोई विरोध नहीं है। मानव बुद्धि अद्वैतवाद से प्रारंभ होती है, विशिष्टाद्वैत तक उठती है तथा अंत में अद्वैतवाद में उसका अवसान होता है। मनुष्य शरीर बुद्धि अथवा मन नहीं है, वह आत्मा है जिसे न अग्नि जला सकती है, न शस्त्र काट सकते हैं और न पानी गीला कर सकता है तथा जिसे वायु सुखा नहीं सकती। यह परमात्मा का ही एक अंश है। विवेकानन्द धर्म का मूल तत्व प्रेम,

सेवा तथा त्याग में देखते हैं। भारत का संदेश वेदांत का संदेश है। यह मानव निर्माण का धर्म है, यह शक्ति का धर्म है।

उन्होंने दरिद्र नारायण की सेवा करने और उनका उत्थान करने की बात कही। उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की कि वे बार-बार जन्म लेकर, कष्ट उठाकर दरिद्रों की सेवा करते रहें। उनके वेदांत धर्म ने उन्हें समस्त मानव जाति की सेवा करने का अवसर दिया।

संदर्भ ग्रंथों की सूची—

1. स्वामी विवेकानन्द : “इज वेदान्त दी फ्यूचर रिलीजन” अद्वैत आश्रम।
2. मजूमदार डॉ० आर०सी० : “दी कल्चरल हेरीटेज ऑफ इण्डिया” भाग 4, रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर कलकत्ता।
3. निशि कुमारी : “समकालीन भारतीय दर्शन में योग और वेदांत, स्वामी अभेदानन्द, महर्षि रमण और स्वामी शिवानन्द की विशेष संदर्भ में समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन”।
4. श्रीमद्भागवद्गीता।
5. ऋग्वेद—पुरुष सूक्त।

राजनीति विज्ञान पर कुछ बेहतरीन पुस्तकें

- भारत का संविधान
- सामाजिक संरचना
- भारतीय राजनीतिक व्यवस्था: दशा एवं दिशा
- भारतीय राजनीति : उभरते मुद्दे
- राजनीति के प्रमुख वाद
- दलीय व्यवस्था तथा राजनीतिक प्रक्रिया
- नौकरशाही एवं विकास
- राजनीतिक वादों का अध्ययन
- भूमंडलीकरण : विविध आयाम
- भारतीय शासन एवं राजनीति
- प्रजातंत्र
- भारत में सामाजिक आन्दोलन
- धर्म निरपेक्षता की आवश्यकता
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें—

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053

फोन : 9811710900

जनसंचार माध्यम और हिन्दी

श्याम शरण

शोध छात्र, हिन्दी विभाग
जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (सारण)
बिहार

भाषा मनुष्य की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। अपने विचारों को पूर्णता देने के लिए मनुष्य जिस माध्यम का सहारा लेता है वह उसकी भाषा है। भाषा उच्चारण अवयव की वह प्रतीकात्मक ध्वनि सांकेतिक व्यवस्था है, जिसकी प्रयोग मनुष्य अपने विचारों को एक-दूसरे तक पहुँचाने में करता है। भाषा का मानव जीवन में अत्यन्त महत्व है। भाषा के निरन्तर विकास का परिणाम है कि आज मनुष्य इतनी ऊँचाइयों पर पहुँचा हुआ है। भाषा संस्कृति की संवाहिका है। किसी भी देश का प्रतिबिम्ब उस देश की संस्कृति और भाषा होती है। भाषा विहीन देश और उसका समाज कभी विकसित नहीं होता। मुंशी प्रेमचन्द के अनुसार, “जब तक आप के पास राष्ट्रभाषा नहीं आप का कोई राष्ट्र नहीं।” भाषा का विकास राष्ट्र का विकास है। हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी सांस्कृतिक धरोहर से जुड़ी है। इनमें भारतीय संस्कृति की सुगन्ध आती है।

हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी ऐसे विशाल भूखंड की राष्ट्रभाषा है जिसके उत्तर में हिमालय मुकुट सदृश शोभायमान है, तथा दक्षिण में सागर की लहरें, जिसके चरण प्रक्षालती है तथा जिसकी पश्चिम में कच्छ से लेकर पूर्व में असम तक सीमाएँ फैली हैं। हिन्दी भाषा की विशाल व समृद्ध ऐतिहासिक व साहित्यिक परम्पराएँ रही हैं। यह भाषा ही समूचे भूखंड की संस्कृति व सभ्यता की परिचायक होने के साथ समूचे राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने में समर्थ रही है, इसीलिए हिन्दी ही नहीं अहिन्दी भाषी राजनेताओं, व साहित्यकारों जैसे सुभाष चन्द्र बोस, विवेकानन्द, राजाराम मोहन राय, केशवचन्द्र, महर्षि दयानन्द, महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, काका कालेलकर, महर्षि अरविन्द घोष, देवेन्द्र नाथ ठाकुर, गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर, क्षितिज मोहन सेन ने स्वतंत्रता पूर्व ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप स्वीकार कर लिया था। पद्मश्री डॉ. लक्ष्मी नारायण दूबे का तो मानना था- “आज हिन्दी दुनिया की

दूसरी सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा है, वह भारत की लोकभाषा तथा जनभाषा है, उसका अभिषेक लोकतन्त्र का वास्तविक राजतिलक है।”¹

डॉ. अर्चना मिश्रा का कहना है कि- “किसी भी राष्ट्र की अस्मिता, सांस्कृतिक परिवेश, सामाजिक परिस्थितियों, धार्मिक प्रतिमानों, मानव के ज्ञान-विज्ञान के साधन, चिन्तन-मनन और राजनीतिक घटनाओं, परम्परा के जीवन्त तत्वों, वैचारिक आन्दोलनों, परिवर्तनकारी माध्यमों के नियामक रूप तथा आधुनिकीकरण, नूतन आविष्कारों और युग-बोध के प्रमुख तत्व के रूप में भाषा का महत्व अप्रतिम होता है। जनसंचार माध्यम भाषाओं को जानने, समझने, प्रस्तुतिकरण और सम्प्रेषण के सफल माध्यम हैं। इन सभी दृष्टियों से हिन्दी विश्व की समृद्धतम भाषाओं में से एक है।”²

आज के सन्दर्भों में हिन्दी की व्यापकता को रेखांकित करते हुए पत्रकार-लेखक श्री नरेश शांडिल्य जी ‘फैल रही है हिन्दी’ शीर्षक सम्पादकीय में कहते हैं- “विश्व के मानचित्र में हिन्दी की स्थिति पर दृष्टि डालें तो यह विस्मयकारी है। हिन्दी की शब्द संख्या का जितना विस्तार पिछले 50-60 वर्षों में हुआ है उतना विश्व की शायद ही किसी अन्य भाषा में हुआ होगा। हम जानते हैं कि लगभग सवा करोड़ भारतीय मूल के लोग दुनिया के सैकड़ों देशों में बसे हुए हैं। इनमें से अधिकांश आज भी, हिन्दी से परिचित ही नहीं बल्कि उसे व्यवहार में भी लाते हैं। मारीशस, फीजी, सूरीनाम, त्रिनिडाड आदि देशों में प्रवासी भारतीयों की भरमार है और कहीं-कहीं तो वे सत्ता में भी हैं। ब्रिटेन, थाइलैंड, मलेशिया, सिंगापुर, आदि देशों में भी बड़ी संख्या में भारतीय मूल के लोग बसे हैं। इन देशों में हिन्दी की धारा किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। इनके अतिरिक्त विश्व के तीन प्रमुख देशों अमरीका, इंग्लैंड और कनाडा में काफी संख्या में भारतीय मूल के निवासी बसते हैं। विदेशों में भारतीय मूल के लोग अपनी आनुवंशिक भाषाओं के स्थान पर हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं। विदेशी विश्वविद्यालयों में हिन्दी के पठन-पाठन के अन्तर्गत लगभग 165 विश्वविद्यालयों में हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है। अमेरिका में कैलिफोर्निया, शिकागो, टेक्सास, कोलम्बिया आदि विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापन की समुचित व्यवस्था है। इसी प्रकार यूरोप, यूरेशिया व एशिया के अधिकांश देशों के विश्वविद्यालयों में भी यह

व्यवस्था है।”³ हरदेव चौधरी जानकारी देते हैं कि- “जापान में सन् 1908 में ‘तोक्यो स्कूल ऑव फॉरेन लेंग्विजेज’ में हिन्दुस्तानी भाषा (हिन्दी - उर्दू) की पढ़ाई शुरू हुई और तब से निरंतर चल रही है। पिछले दिनों (12 - 14 दिसम्बर 2008 को) जापान में हिन्दी-उर्दू शिक्षण की एक शताब्दी पूरी होने के उपलक्ष्य में भारत सरकार के विदेश मंत्रालय (तोक्यो स्थित भारतीय दूतावास) के सक्रिय सहयोग से ‘तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फारेन स्टडीज’ द्वारा एक अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस अन्तराष्ट्रीय आयोजन के दौरान भारतीय भाषाओं तथा भारतीय संस्कृति के प्रति जापानियों की रूचि और सम्पृक्ति देखते ही बनती थी।”⁴

फीजी, सूरीनाम, मारीशस, अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, रूस, कनाडा, स्वीडन, नार्वे आदि देशों में आज अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। कनाडा हिन्दी प्रचारिणी सभा से जुड़े डॉ. श्याम त्रिपाठी हिन्दी चेतना नामक पत्रिका निकालते हैं। ‘मात्र फिजी से संस्कृति, उदयाचल, प्रशांत समाचार, शांतिदूत, फिजी समाचार, दीनबंधु, जय फिजी आदि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। इसी तरह सूरीनाम के प्रबंधन में यू.एस.ए. से प्रकाशित ‘अन्यथा’ सबसे अलग पहचान लेकर उपस्थित है। कहना न होगा कि यह कितनी ही भारतीय पत्रिकाओं के सामने एक उदाहरण बन गई है। हिन्दी ने क्षेत्रीयता की सीमा को लांघकर अंतर्राष्ट्रीयता का परिचय दिया है। इस दृष्टि से देखा जाय तो विश्व स्तर पर हो रहे हिन्दी के प्रयोग से इसकी भाषाई संस्कृति का विस्तार हो रहा है। विश्व के विविध देशों के बौद्धिक सामाजिक-सांस्कृतिक आदि तत्व हिन्दी भाषा में अभिव्यक्त हो रहे हैं। वहाँ की

प्रकृति, वैज्ञानिक तकनीकी विकास, मानवीय चेतना और जन-संस्कृति के साथ हिन्दी का भाषिक सरोकार कायम हो रहा है। आज के बदलते हालात में यह विश्व चिंतन के साथ जुड़ गई है। यह इसकी भाषिक संस्कृति की सामर्थ्य है कि जहाँ बाजारवादी वैश्विक दबाव से भाषाओं के मरने की आशंका व्यक्त की जा रही है वहीं हिन्दी का विस्तार हो रहा है।⁵

विश्वक सेन रत्नेश का कहना है कि “भाषा का एक प्रमुख गुण सृजनशीलता का है। हिन्दी में सृजनशीलता की अद्भुत क्षमता है, जिससे वह प्रवाहमान है। इसका शब्द भंडार पर्याप्त हैं। हिन्दी एक मात्र ऐसी भाषा है जिसमें समायोजन की पर्याप्त और जादुई क्षमता है। अन्य भाषाओं, संस्कृतियों के शब्दों को जिस अधिकार से जज्ब करती है वह हिन्दी की संभावनाशीलता को प्रशस्त करती हैं। भाषा की शुद्धता, परहेज की प्रतिबद्धता, भाषा की प्रकृति को पस्त और उसके विकास को परास्त करती है। यह समस्या संस्कृत, अंग्रेजी और सभी भाषाओं के साथ रही है लेकिन हिन्दी के लचीलेपन ने अपने में सभी शब्दों के तेवरों को, लयों को समेट लिया है। उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, अरबी, रसियन, तुर्की, हिन्दी की शब्द संपदा में ऐसे समायोजित हो गए हैं मानो इसी भाषा परिवार के जन्मना सदस्य हों। हिन्दी के शब्द भंडार पर दृष्टि डालने से स्वतः स्पष्ट हो जाता है।”⁶

आज हम संचार युग में जी रहे हैं। वर्तमान जीवन सूचना, घटना एवं विचारों से भरा है। इस युग में विश्व सिमटकर लघु हो गया है। संचार की कार्रवाई के कारण दुनिया भर के लोगों में दूरियाँ कम हो गई हैं। जनसंचार माध्यम हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन चुके हैं। ये

हमारे जीवन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रहे हैं। आज के प्रमुख जनसंचार माध्यमों में आकाशवाणी, समाचार पत्र-पत्रिकाएँ, दूरदर्शन (टीवी), कम्प्यूटर तथा इंटरनेट हैं। हिन्दी के विकास यात्रा में सभी जनसंचार माध्यम सहयोगी रहे हैं। समाज को निकट से देखने का साधन पहले साहित्य हुआ करता था अब जनसंचार के ये साधन हैं।

डॉ. माया सिंह का कहना है - “आधुनिक-युग में पत्र-पत्रिकाओं में भाषिक क्रान्ति दृष्टिगोचर होती है। पत्र-पत्रिकाओं के विविध आयामों के उद्घाटन का कार्य हिन्दी सम्पादित करने में सक्षम है। इसके पास विषयों की अपार समपदा है। पत्र-पत्रिका की भाषा में विविधता स्पष्ट परिलक्षित होती है। सांस्कृतिक और धार्मिक पत्रिकाओं की भाषा में शब्दावली पृथक् अस्तित्व के साथ विद्यमान है। जैसे- हिन्दू-विश्व, अखंड-ज्योति, कल्याण आदि पत्र-पत्रिकाओं की भाषा विशिष्ट है।”⁷ हिन्दी अखबार, पत्र-पत्रिकाओं की सैकड़ों प्रतियाँ रोजाना बिकती हैं। हिन्दी के संप्रेषण की यह मानवीय, रचनात्मक और सारगर्भित उपलब्धि है। चीन के बाद सबसे अधिक हमारे यहाँ अखबार पढ़े जाते हैं। पत्र-पत्रिकाओं की भरमार है। फिल्म पत्रिका, खेल पत्रिका, क्रिकेट सम्राट स्वयं में क्रिकेट प्रेमियों, बेशक हिन्दी प्रेमियों की एकमात्र स्तरीय खेल पत्रिका है। इंडिया टुडे, प्रतियोगिता दर्पण, कूरुक्षेत्र, योजना हिन्दी प्रतिभागियों के लिए और ज्ञान पिपासुओं के लिए वरदान हैं। बाल-पत्रिकाएँ नंदन, नन्हे सम्राट, चंपक, सुमन सौरभ, बालहंस, नागराज, सुपर कमांडो, ध्रुव, शक्तिमान, चाचा चौधरी के कॉमिक्स धड़ल्ले से बिकते हैं। गृह शोभा, गृहलक्ष्मी, सहेली जैसी स्त्री विशेषांक पत्रिका भी लोकप्रिय है,

नीरोगधाम, हेल्थ, अहाजिन्दगी जैसी हिन्दी पत्रिकाएँ भी उत्कृष्ट हैं। साहित्यिक पाठकों के लिए हंस, साहित्य अमृत, कथादेश, आजकल, नया ज्ञानोदय, कादंबिनी, नवनीत, वागर्थ और पहल जैसी पत्रिकाएँ हैं, जो हिन्दी की गुणवत्ता और प्रचार-प्रसार के लिए कृत संकल्प हैं। भविष्य भी इन्हीं अपेक्षाओं से जुड़ा है और तब हमसे मजबूत कंधों की इमानदारी और दावेदारी की भी आकांक्षा है।⁸

उपरोक्त तथ्यों से यह बात स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार हेतु समाचार-पत्रों एवं पत्रिकाओं ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। 'राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में अखबारों का महत्वपूर्ण-योगदान रहा है। वैसे जन-चेतना जगाने में भी अखबार अहं भूमिका निभाते हैं। यह बात भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान स्पष्ट रूप से देखने को मिली। रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के समाज को उबारने का कार्य भी अखबारों ने किया। मौजूदा दौर में तो अखबार व्यक्ति, समाज, राष्ट्र की जरूरत बन गए हैं।'⁹

रेडियो ने जनसंचार और भाषा के संदर्भ में अपनी प्रभावी भूमिका का निर्वाह किया है। रेडियो एक ऐसा जनमाध्यम है जो निरक्षर लोगों के लिए वरदान है। हिन्दी में प्रसारित कार्यक्रम, समाचार जन-जीवन की दिनचर्या में अनिवार्य घटक बनकर शामिल हैं। गीत-संगीत, अनुवाद, आँखों देखा हाल, खेल, कमेंट्री आदि के माध्यम से भाषा का प्रचार-प्रसार बढ़ा। "रेडियो प्रारंभ से ही विकास, मनोरंजन और शिक्षा का साधन रहा है। एकाकीपन की प्रियतमा की तरह यह आया और अभी तक अपने जादू से अभिभूत कर रहा है। महानगर से गाँव तक एफ. एम. का

जादू बेकरारी की हद तक है, लेकिन दो कार्यक्रम, जिसने हिन्दी को गोरखपुर से कन्याकुमारी की जनता तक पहुँचाया, वह है बी. बी. सी. और विविध भारती। रेहान फजल, मुधुकर उपाध्याय की हिन्दी का वह उच्चारण, समाचार, शिक्षा सुदूर अंचल तक धड़क रहा है। विविध भारती के सभी कार्यक्रमों में हिन्दी का स्तर उच्च और संप्रेषणीयता के गुणों से भरा हुआ है। हेलो फरमाइश, सखी-सहेली, छायागीत, हेलो मंथन- ये सभी कार्यक्रम केरल से जम्मू तक सुने जाते हैं। अपनी भाषा हिन्दी में अपनों से बातचीत का यह जरिया प्रशंसनीय है। कमल शर्मा, अमित सेनी, युनुस खान, निम्मी मिश्रा, ममता अग्रवाल, इन सबकी हिन्दी भारत के कोने-कोने में सूनी, समझी और सराही जाती है।"¹⁰

दूरदर्शन और फिल्म जगत् आज की सदी में संचार-क्रांति के अगुवा हैं। सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन के इस क्रांतिकारी दौर में सिनेमा संस्कृति और टेलीविजन का वर्चस्व सर्वविदित है। हिन्दी को अखिल भारतीयता की पहचान थी, पर संप्रेषण और संबोधन के समेकित संवेदन को पहली बार फिल्मों ने प्रसार और संचार के स्तर पर संभव बनाया। "अर्देशर इरानी के निर्देशन में पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' ने पूरे देश को हिन्दी की जादुई शक्ति से परिचित कराया। रूपहले पर्दे की यह सबसे बड़ी क्रांति थी, जो साथ ही हिन्दी की पहचान और प्रसार की सबसे बड़ी ताकत सिद्ध हुई। इसमें कोई शक नहीं कि फिल्मों ने हिन्दी के संप्रेषण की संभावना को पर्दे का असीम विस्तार दिया। फिल्मों ने हिन्दी को अहिंदी प्रदेशों में जहाँ वह उपेक्षित थी, एक भरपूर पहचान, सम्मान और पनपने का अवसर दिया।"¹¹

छोटा परदा या टेलिविजन ने आम अवाम के घरों में अपना स्थान बनाया इस माध्यम से हिन्दी भाषा जीवन शैली बन गई। 90 के दशक में जब रामानन्द सागर ने आद्य ग्रंथ 'रामायण' एवं बी. आर. चोपड़ा ने 'महाभारत' को हिन्दी भाषा में प्रस्तुत किया तो सड़कों पर शोर सन्नाटे में बदल गया। वह सन्नाटा भाषा और तकनीक के रचनात्मक विकास का पहला प्रमाण था। बाद में भारत एक खोज, चंद्रकांता, अलिफ लैला, तहकीकात जैसे धारावाहिक अपने-अपने तरीके से भाषा और भविष्य का विकास करने लगे। आज समय और सूचना की व्यस्तता में, जीवन की आपाधापी में हमलोग, बुनियाद, सास भी कभी बहु थी, कहानी घर-घर की, जैसे धारावाहिक हमारे सहज साथी हैं। ये कार्यक्रम हमें हमारी भाषा में आकर हमें साहस देते हैं। गैर-हिन्दीभाषी भी अनेक लाइव कार्यक्रमों में बढ़-चढ़कर भाग लेते हैं। बंगलौर का कारुण्य, महाराष्ट्र के अभिजीत सामंत एवं हैदराबाद के श्रीरामचंद्र (15.08.2010) को इंडियन आइडल जैसे प्रोग्राम में आना इस बात का प्रमाण है। दरअसल, भाषाई शिरकत ही हिन्दी की रचनात्मकता का, उर्वरता का सही प्रमाण है। टेलीविजन ने हिन्दी के मानक रूप का प्रयोग अधिक न करते हुए एक नई हिन्दी का प्रयोग किया है। "भाषा के व्याकरणिय चौखटे में भले ही भाषा कहीं भी न टिकती हो, परन्तु आज सच्चाई यह है कि आम बोलचाल और काम-काज की भाषा ही हिन्दी भाषा है जो इन दिनों टेलीविजन स्क्रीन से प्रेषित हो रही है, अथवा जिसका टेलीविजन द्वारा सम्प्रेषण हो रहा है।"¹²

टेलीविजन के संबंध में विनीत कुमार का कहना है कि- "टेलीविजन की

ताकत इस बात में है कि वह हमें बिना किसी धक्का-मुक्की वाले चुनावी रैलियों में शामिल हुए, बिना किसी पार्टी के पक्ष में नारे लगाए, किसी प्रत्याशी के लिए हाय-हाय किए बिना ही हमें सजग मतदाता और नागरिक होने का अहसास कराता है। यह, एक सुरक्षित और सुविधाजनक मनोदशा में हमें राजनीति से जुड़ने का अवसर मुहैया कराता है।”¹³

फिल्मों और टेलीविजन की इस विकास यात्रा में ‘विज्ञापन’ की अपनी महत्ता है। भूमंडलीकरण और हिन्दी¹⁴ शीर्षक लेख में डॉ. हरिशंकर दूबे उपभोक्ता संस्कृति और बाजारीकरण की प्रक्रिया में हिन्दी की महत्ता निरूपित करते हुए इस तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं कि- “भारत का विशाल भू-भाग और जनसंख्या व्यावसायिक हितों के सर्वथा अनुकूल है। भारतीय जन-मानस का संग्राहक वृत्ति, नवीन उत्पादनों के प्रति आकर्षण प्रियता, सूरुचि सम्पन्नता, जीवन में वैविध्यता आदि कारणों से विश्व के उत्पादकों के लिए भारत बहुत बड़ी उपभोक्ता मंडी है। यदि विदेशियों को पेप्सी कोला जैसे खाद्य-पदार्थों का वितरण बढ़ाना और अपने माल की खपत करना है, तो इन्हें हमारी भाषा का प्रयोग करना और यहाँ की संस्कृति के मनोनुकूल विज्ञापन देने होंगे। क्योंकि हिन्दी में भारत की आत्मा बसती है।”

सूचना प्रौद्योगिकी आज के संचार माध्यमों की रीढ़ बन गई है। “कई मौलिक रूप हिन्दी में तैयार पोर्टल नेट पर उपलब्ध हैं। इनमें ‘वेब दुनिया’ तथा नेट जाल का नाम प्रमुखता से आता है। हिन्दी के सभी नामी दैनिक समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ इंटरनेट पर उपलब्ध हैं। इंटरनेट पर पाँच हजार से अधिक बेवसाइट हिन्दी से संबंधित हैं। इंटरनेट और कम्प्यूटर विशेषज्ञों के प्रयास से

देवनागरी लिपि की सामर्थ्य बढ़ी है। हिन्दी की लोकप्रियता और बाजार को देखते हुए एम एस ऑफिस का हिन्दी रूपांतर माइक्रोसाफ्ट ने तैयार करवाया है।”¹⁵ हिन्दी साफ्टवेयर के निर्माण में निजी क्षेत्र की दिलचस्पी बढ़ी है। “बिल गेट्स ने हिन्दी के बाजार को देखकर, उसकी माँग को समझकर ही ऐसा साफ्टवेयर बनाया है जिसके सहारे कम्प्यूटर हिन्दी में उसी तरह चल सकेगा जिस तरह अंग्रेजी में चलता है।”¹⁶

बाजार ने, विज्ञापन ने हिन्दी को एक क्रांतिकारी रूप दिया, जिसमें रवानगी है, स्वाद है, रोमांच है और आज की सबसे बड़ी चाहत अर्थ का अकूत संसार है। इस तरह हिन्दी भविष्य की भाषा, समय का तकाजा, रोजगार की जरूरत बनती जा रही है।

डॉ. रमा प्रकाश नवले का कहना है कि “जनसंचार माध्यमों को आम जनता का ‘स्कूल मास्टर’ कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होनी चाहिए। यह ‘स्कूल मास्टर’ आम जनता के चरित्र का निर्माण करते हुए परोक्ष रूप से देश के चरित्र का निर्माण करता है। जनसंचार के ये माध्यम देश का सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक चेहरा निश्चित करते हैं। मनुष्य की हवा, पानी, अन्न की मूल-भूत जरूरतों के बाद चौथी आवश्यकता संचार माध्यम ही है।”¹⁷

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि जनसंचार के सभी माध्यमों में हिन्दी की भूमिका महत्वपूर्ण है। यह कोई अत्युक्ति नहीं कि हिन्दी भाषा के कारण ही अनेक जनसंचार माध्यम टिके हुए हैं। ये जनसंचार माध्यम अपने भाव, विचार, अवधारणा, मत और मान्यता जन समुदाय तक पहुँचाने के लिए जिस भाषा को माध्यम बना रहे हैं, वह हिन्दी भाषा ही है। हिन्दी की उत्तरोत्तर वृद्धि

और सुनहले भविष्य के प्रति हम आशान्वित हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. लेख - पद नहीं पादुका के पूजन की भाषा हिन्दी - लेखक पदमश्री डॉ. लक्ष्मी नारायण दुबे (पत्र नवभारत, जबलपुर 18 सितम्बर 2000)
2. मिडिया की भाषा - सम्पादक डॉ. वसुधा गाडगिल, पृ. सं.- 23 (आलेख - डॉ. अर्चना मिश्रा)
3. ‘अक्षरम्’ संगोष्ठी पत्रिका सम्पादक नरेश शांडिल्य, जनवरी-मार्च 2005, दिल्ली प्रवासी विशेषांक, पृ. सं.- 11
4. नया ज्ञानोदय, मई 2009 अंक, पृ. सं.- 65 एवं 66
5. आजकल, सितम्बर 2007 अंक, पृ. सं.- 13 (लेख-लक्ष्मण प्रसाद)
6. साहित्य अमृत, सितम्बर 2008 अंक, पृ. सं.- 55 एवं 56 (आलेख- विश्वकसेन रत्नेश)
7. प्रयोजन मूलक हिन्दी के विविध आयाम -डॉ. माया सिंह, पृ. सं.- 58
8. साहित्य अमृत, सितम्बर 2008 अंक, पृ. सं.- 59
9. आजकल, जून 2002 अंक, पृ. सं.- 36
10. साहित्य अमृत, सितंबर 2008 अंक, पृ. सं.- 59
11. साहित्य अमृत, सितम्बर 2008 अंक, पृ. सं.- 57
12. दूरदर्शन, हिन्दी के प्रयोजन मूलक विविध प्रयोग - डॉ. कृष्ण कुमार रतू, 1997, पृ. सं.- 65
13. नया ज्ञानोदय, मई 2009 अंक, पृ. सं. - 71
14. राष्ट्रीय शोध- संगोष्ठी 22-23 फरवरी 2002 On Effect of market promotion policies on Indian Economy आयोजक- नवयुग कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, जबलपुर पत्रिका, पृ. सं.- 56 से 59 (आधार-मीडिया की भाषा-संपादक डॉ. वसुधा गाडगिल)
15. आजकल, सितम्बर 2008 अंक, पृ. सं.- 17
16. ग्लोबल हिन्दी की जय हो- सुधीश पचौरि (नवभारत रविवारीय 9 सितम्बर 2001)
17. पॉलिटिकल टुडे, सितम्बर 2003 अंक, पृ. सं. - 31

हिन्दी और भारतीय भाषाओं का विकास

डॉ. कंचना सिंह

व्याख्याता, कॉलेज ऑफ कॉमर्स, पटना

सितम्बर के महीने में कुछ ऐसी विशेषता है कि वह सरकारी कार्यालयों एवं सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में ताजगी पैदा कर देता है। चारों ओर फैला उत्सवी माहौल, उल्लास, सांस्कृतिक कार्यक्रम, प्रश्न मंच, वाद-विवाद प्रतियोगिताएं, निबंध लेखन आदि की तैयारी के कारण हवा में रंग सा बिखेर देता है। हिन्दी दिवस 14 सितम्बर को तो मनाया जाता है, सारा पखवाड़ा ही समारोहों से भर जाता है। राजभाषा की महिमा में गोष्ठियां व परिसंवाद होते हैं। हिन्दी की उपयोगिता और महत्ता की चर्चा और प्रशंसा की धूम सी मच जाती है।

पर सच तो यह है कि आज भी वह वर्ग जिसका सांस्कृतिक वर्चस्व है उसके अंग्रेजी प्रेम के कारण नई-नई आशंकाएं और दुर्भावनाएं पनप रही हैं और इसको अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं का एक वर्ग लगातार हवा देता है। हिन्दी के अतिरिक्त दूसरी भारतीय भाषाएं भी इस मानसिकता की शिकार हो रही हैं। समूचे सार्वजनिक जीवन में अंग्रेजी लेखक एवं पत्रकार फतवा देते रहते हैं कि देश की सभी भाषाएं पिछड़ी हुई हैं, उनका शब्द भण्डार अपर्याप्त है, आज की जरूरतों के संदर्भ में उनका साहित्य भी अविकसित है।

इस तरह का दुष्प्रचार वर्षों से होता आ रहा है। और आश्चर्य तो यह है कि यही अंग्रेजी पत्र किसी एक भाषा को बजारू, अपरिपक्व या पिछड़ी कह कर या किसी एक क्षेत्रीय भाषा के साहित्य को सिर-आंखों पर चढ़ाकर भारतीय भाषाओं में भी चेष्टा की जाती है। इस तरह की टिप्पणियों से अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी विरोध की भावना फैलाने की चेष्टा की जाती है। देश की एकता के लिए खतरे से लेकर, विज्ञान के क्षेत्र ही नहीं, सुशिक्षित हिन्दी भाषी भी अंग्रेजी की जय जयकार करने को तत्पर रहते हैं। ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता यू. आर. अनन्तमूर्ति ने कुछ दिनों पहले कहा था कि भाषा की दरिद्रता की बात हमने अपनी सुविधा के लिए निकाली है। मैं मानता हूँ कि कोई भी भाषा के प्रयोग से कोई संबंध नहीं

होता है? यदि नौकरियों या पदोन्नति के सारे मार्ग या सार्वजनिक जीवन में ऊंचा उठने के लिए हिन्दी या भारतीय भाषाओं की जरूरत नहीं है तो वे कैसे विकसित होंगी?

हिन्दी के प्रति आज जिस प्रकार के दुराग्रह फैले हैं उसका बहुधा सही अनुमान लगाना महानगरों में कार्यरत लोगों को नहीं है पर दूरदराज के गांवों और कस्बों में लोगों की दिनचर्या में यही तीव्रता से महसूस किया जा सकता है। उन विकसित देशों में जहां अंग्रेजी के अलावा दूसरी भाषाएं बोली जाती हैं वहां कोई भी दवा या उपचार की वस्तु का बिकना अवैध है जहां क्षेत्रीय या स्थानीय भाषा भी प्रयुक्त न हो। इसी तरह आधुनिक जीवन की बहुतेरी सुविधाओं का एक सामान्य उपभोक्ता उपयोग आश्वस्त होकर नहीं कर सकता है। क्योंकि पैक की हुई चीजों पर लेबल या उसमें प्रयोग विधि के निर्देश अंग्रेजी में होते हैं। बचत के सामान्यार्थक माध्यम चाहे वे म्युचुअल फंड या निवेश अथवा बीमा की कंपनियां हों। उनका साहित्य अधिकतर अंग्रेजी में होता है। हमारी विधि-व्यवस्था भी ऐसी है कि किसी शिकायत या स्थिति से सारक्षण के लिए उसे वही कानून जानना है जो सब अंग्रेजी में छपते हैं। गांव-गांव में टीवी होने के बाद भी कार्यक्रमों के शीर्षक ज्यादातर अंग्रेजी में ही होते हैं। वे कार्यक्रम हिन्दी में ही क्यों न हों।

आज जापान, ताईवान, चीन, दक्षिणी कोरिया, थाईलैण्ड इन सभी ने अपनी भाषा से ही आर्थिक प्रगति की। यूरोपीय महाद्वीप के सबसे बड़े राज्य अंग्रेजी का प्रयोग नहीं करते थे। हमारे शहरों का तो यह हाल है कि आपको जापानी, फ्रेंच और जर्मन सीखने के केन्द्र तो मिल जाएंगे पर भारतीय भाषाओं के अध्ययन की सुविधा कहीं उपलब्ध नहीं होगी। यह केवल भारतीय भाषाओं की खासकर देवनागरी लिपि की विशिष्टता है कि वह जैसी लिखी जाती है वैसा ही उसका उच्चारण होता है। एक ओर जापानी, चीनी और कोरियाई भाषा चित्रात्मक होने पर भी वहां के वासी असुविधाओं के बावजूद उनसे प्यार करते हैं। पर हमारी भाषाओं के वैज्ञानिक विकास के बावजूद भी अंग्रेजी की अपेक्षा उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है। जो अपनी चीजों पर गर्व नहीं कर सकते वे इस नई शताब्दी में सिर ऊंचा उठाकर चलने का दावा नहीं कर सकते।

संपन्न लोगों के घरों से और उनकी बातचीत के आधार के रूप में हिन्दी और अन्य भाषाएं धीरे-धीरे निर्वासित हो रही हैं। अंग्रेजी का प्रयोग चाहे वह खिचड़ी के रूप में हो, समाज में धनी लोगों के वर्ग या स्तर से जुड़ चुका है और परोक्ष रूप से यह स्थिति हिन्दी की प्रगति के मार्ग में रोड़ा बन रही है। ऐसा लगता है कि जब-जब औपचारिक अवसर आते हैं सबको खुश रखने के लिए सरकारी कार्यालयों में प्रतीकात्मक रूप से हिन्दी को अपनाने का दिखावा किया जाता है। सार्वजनिक समारोहों में राष्ट्रभाषा की अस्मिता, अपनी विशिष्ट पहचान या इसे एकता की जड़ कहना एक बात है इसके प्रति ममत्व दिखाना दूसरी बात है।

धीरे-धीरे पिछले कई वर्षों में हिन्दी की दशकों से प्रकाशित होती हुई प्रतिष्ठित पत्रिकाएं बंद हो गईं। एक समय लगभग 40-50 वर्ष पहले हिन्दी में अनुवादों के प्रकाशन का प्रचलन इतना था और शरत चंद्र के उपन्यासों को इतना पढ़ा जाता था कि बहुत से पाठक उन्हें हिन्दी का लेखक मानते थे। आज क्षेत्रीय भाषाओं के अंग्रेजी अनुवादों की दुर्गति तो इतनी है कि वासुदेव नायर जिनको ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला था उसकी भी एक वर्ष में कुल मिलाकर 69 प्रतियां ही बिकीं। इसी तरह हिन्दी के जो भी चर्चित उपन्यास अंग्रेजी में अनुवादित हुए उनको भी अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं द्वारा अनदेखा करने के कारण कोई महत्व न मिला। सरलता और व्यापकता के बावजूद भी अगले दशक में हिन्दी की क्या स्थिति होगी यह वर्तमान मानसिकता द्वारा ही निश्चित होगी।

इस बात की ओर श्री अनन्तमूर्ति ने कुछ दिनों पहले मुम्बई की एशियाटिक

सोसाइटी के हाल में आयोजित साहित्य गोष्ठी में कड़े शब्दों में ध्यान दिलाया था। उन्होंने कहा था कि वर्तमान स्थिति अनुकूल न होने के बावजूद उन्हें विश्वास है कि हिन्दी और भारतीय भाषाएं वैश्वीकरण और अंग्रेजी की चुनौती स्वीकार कर सकती हैं। वे महसूस करते हैं कि भारत में अंग्रेजी लेखन को आवश्यकता से अधिक महत्व इसलिए दिया गया क्योंकि हमारे देश में अंग्रेजी ग्रंथों का एक बहुत बड़ा बाजार कायम हो गया है। क्षेत्रीय भाषाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा उन्होंने यह भी उदाहरण दिया कि ग्रांट और न्यूयार्कर के कुछ अंकों में जो भारत की स्वतंत्रता के पच्चासवें वर्ष के उपलक्ष्य में और बाद में वर्षों तक निकाले गए थे उनमें भारतीय साहित्य की समीक्षा के नाम पर अंग्रेजी में लिखने वालों को ही महत्व दिया गया था। भारत में विदेशों से आयतित अंग्रेजी पुस्तकों का विपणन रू. 2000 करोड़ का पहुंच गया है। इसलिए भी इंग्लैण्ड और अमेरिका का आर्थिक स्वार्थ भारत में अंग्रेजी के फलने-फूलने से जुड़ा है। यह तथ्य नकारा नहीं जा सकता है।

बड़े-बड़े लक्ष्यों की बातें आज उतनी सार्थक नहीं हैं जितनी मानसिकता का प्रश्न। जब संविधान सभा ने 14 सितम्बर सन् 1949 में हिन्दी को राजभाषा बनाने का प्रस्ताव बहुत लंबी चर्चा के बाद स्वीकार किया था तब देश की 32 करोड़ जनसंख्या में 14 करोड़ हिन्दी भाषी थे और देवनागरी लिपि को अपनी भाषा में प्रयोग करने वाले तीन करोड़ से अधिक व्यक्ति थे। पर उसका समर्थन लगभग सभी अहिन्दी भाषी नेताओं ने एक स्वर में किया था जैसे एन. गोपाल स्वामी आयरंगर, श्यामा प्रसाद मुखर्जी

और कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी। प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को कोसने से नहीं चूकते जिन्होंने उनके अनुसार अपने निर्णयात्मक मत से हिन्दी को राजभाषा बनाया था। यह लांछन सत्य से दूर है और संविधान सभा के दस्तावेजों पर आधारित नहीं है।

शुरू-शुरू में हिन्दी दिवस मनाने की परिकल्पना यह थी कि जिस दिन हिन्दी को केन्द्र सरकार की राजभाषा बनाने का प्रस्ताव स्वीकार किया गया उस दिन की याद को एक अधूरे काम को पूरा करने के संकल्प दिवस के रूप में मनाया जाए। हिन्दी की उत्तरोत्तर प्रगति का ब्योरा लिया जाए और रास्ते में आने वाली बाधाओं से कैसे निपटा जाए। उस समय यह काम स्वयंसेवी संस्थाओं और अहिन्दी भाषी हिन्दी प्रेमियों के माध्यम से मूल रूप से सरकार के भरोसे छोड़ दिए गए हैं। स्वतंत्रता की आधी सदी के बाद भी देश की मुख्य भाषायी भूमिका इन्हीं सब कारणों से अंग्रेजी ने अपने हाथ में ली हुई है। हिन्दी को जो स्थान मिलना चाहिए जिसकी वह अधिकारिणी है तभी संभव है जब यह विषय, राजनैतिक स्वार्थों एवं दबावों से दूर, निष्पक्ष होकर हम सब सोच सकें।

संदर्भ सूची

- दैनिक ट्रिब्यून
- जनसत्ता
- नवभारत टाइम्स जनसत्ता
- इंडिया टुडे
- अच्छी हिन्दी: संभाषण एवं लेखन-तेजपाल चौधरी
- भारत सरकार की राजभाषा नीति-अरविन्द कुलश्रेष्ठ
- आधुनिक संदर्भों के परिपेक्ष्य में हिन्दी भाषा और साहित्य-आनंद मोदक

राजभाषा हिन्दी ही शिक्षा-दीक्षा की भाषा है

श्रवसुमी कुमारी

शोधप्रज्ञ, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

भारत एक बहुभाषायी देश है, पन्द्रह प्रमुख भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त इस देश में 550 बोलियां अथवा उपभाषाएं बोली जाती हैं। हिन्दी प्रदेशों को छोड़कर प्रदेशों की अपनी-अपनी भाषाएं हैं, भाषा के आधार पर ही प्रदेश बनाये गये हैं। आजादी से पूर्व यह सोचा गया था कि देश को एक सूत्र में बांधने के लिये एक संपर्क भाषा होनी चाहिए। देशवासियों के बीच सामंजस्य और सद्भाव की भावनाएं विकसित हो, जिससे विविधता के होते हुए भी हम अपनी संस्कृति, समानता एवं सौहार्दता के दर्शन कर अनेकता में एकता की संकल्पना को मूर्त रूप दे सकें। भाषायी सद्भाव की इस प्रकार महती भूमिका है, भाषा की आधारभूत विशिष्टता उसकी प्रतीकात्मक संरचना है। बोलियां तो हमारे लोक जीवन की आधार भूमि हैं और भाषा की जड़ इन्हीं बोलियों से जीवन रस ग्रहण करती हैं। यही कारण था स्वामी दयानन्द ने कहा था—‘हिन्दी के द्वारा ही सारे भारत को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है।’

राष्ट्रपिता ने हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा घोषित किया था, राजर्षि टंडन के प्रयास से वर्ष 1926 में कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन में एक प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस अधिवेशन की समस्त कार्यवाही हिन्दुस्तानी में करने की घोषणा की गई थी। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, संत विनोबा भावे, सुभाष बोस, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, रविन्द्रनाथ ठाकुर आदि राष्ट्र नायकों ने जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं रही स्वतंत्र भारत की राजभाषा के लिये हिन्दी की पुरजोर हिमायत की थी। यही कारण था भारत की संविधान सभा ने दिनांक 14 सितंबर 1949 को नागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा को देश की राजकीय भाषा के रूप में स्वीकृति प्रदान की जिसके आधार पर संविधान में संघ की राजभाषा और राज्यों की राजभाषा के लिए प्रावधान बनाये गये। यही कारण है कि हम

दिनांक 14 सितंबर को प्रति वर्ष हिन्दी दिवस मनाते हैं। यह सच है कि मातृभाषा के रूप में हिन्दी शहरों में अधिकांश लोगों द्वारा बोली जाती है। हिन्दी वस्तुतः संपर्क भाषा है और शिक्षा दीक्षा की भाषा है। स्वतंत्रता से पूर्व और आज तक हिन्दी शिक्षा की भाषा रही है।

उत्तरी भारत में जहां लोगों की मातृभाषा हिन्दी समझी जाती है उनकी भाषाएं (बोलियां) अंगिका, वज्जिका, मगती, मैथिली, भोजपुरी, नागपुरी, अवधी, कन्नौजी, जोनपुरी, मालवी, निमाडी, बुंदेली, छत्तीसगढ़ी, ब्रज, ढूँढाडी, मेवाड़ी, मारवाड़ी, शेखावाटी, डिंगल, बांगड़ी इत्यादि हैं.....हिन्दी (खड़ी बोली) नहीं है। हिन्दी तो स्कूलों में विधिवत सीखना पड़ता है। हिन्दी किसी एक प्रदेश की भाषा नहीं है अपितु समस्त हिन्दुस्तान की भाषा के रूप में अभिहित है। यही कारण है कि यह जन-जन की भाषा है। राष्ट्र भाषा का जिसे दर्जा प्राप्त है। इस प्रकार यह कहना हिन्दी नहीं, हरियाणवी, छत्तीसगढ़ी, ब्रज आदि हमारी मातृभाषा है उचित नहीं है और हिन्दी के स्थान पर प्राथमिक शालाओं में शिक्षा के माध्यम की बात करना सर्वथा अनुचित है। संविधान व राजभाषा अधिनियम के विरुद्ध है।

राइट टू एज्युकेशन एक्ट 2009 केवल इतना कहता है कि जहां तक संभव हो स्कूल मास्टर बच्चे की मातृभाषा में उसे समझाने का प्रयत्न करेगा। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह हिन्दी के स्थान पर बोलियों का ज्ञान उन्हें करायेगा। शिक्षा तो हिन्दी की होगी, ज्ञान हिन्दी का होगा। आज भी सुदूर गांवों में मास्टरजी बच्चों को अपनी मातृभाषा (लॉकल बोली) में ज्ञान देते हैं, इसकी मनाही नहीं है, किन्तु जहां 1947 के पहले व बाद में हिन्दी (खड़ी बोली) के माध्यम से शिक्षा दी जा रही है वहां मातृभाषा के नाम पर हिन्दी के स्थान पर उन्हें (बोलियों को) लाना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। राजभाषा अधिनियम इसकी अनुमति नहीं देता और न अनिवार्य शिक्षा अधिनियम।

शहरों में हिन्दी मातृभाषा है, आज शहरों की माताएं तो बच्चों को अंग्रेजी में डांटती हैं और अंग्रेजी की कविता ‘टिंवकिल टिंवकिल लिटिल स्टार’ की लोरी सुना रही है। राजस्थानी के नाम पर क्या ब्रज, बांगड़ी, मारवाड़ी, मायड, ढूँढाडी अथवा हाड़ौती बोलियों के माध्यम से शिक्षा दी जायेगी? बांगड़ी जिसकी मातृभाषा है यदि वह भरतपुर आता है तो उसे बांगड़ी में वहां पढ़ाया जा सकेगा?

राजभाषा हिन्दी ही शिक्षा दीक्षा की भाषा है

11वीं राजस्थान विधान सभा ने 25 अगस्त, 2003 को अपने कार्यकाल के अंतिम सत्र के अंतिम दिन के अंतिम क्षणों में संकल्प पारित कर राजस्थानी भाषा को राजस्थान से संविधान की 8वीं अनुसूची में सम्मिलित करने के लिए भारत की सर्वोच्च संवैधानिक संस्था संसद को भेजा। वह संकल्प निम्न प्रकार है—‘राजस्थान विधानसभा के सभी सदस्य सर्वसम्मति से यह संकल्प पारित करते हैं कि राजस्थानी भाषा को संविधान की 8वीं अनुसूची में सम्मिलित किया जावे’ राजस्थानी भाषा में विभिन्न जिलों में बोली जाने वाली भाषा या बोलियां यथा ब्रजभाषा, हाडौती, बागड़ी, दूढाडी, मेवाड़ी, मेवाती, मारवाड़ी, मालवी, शेखावटी आदि शामिल हैं। राजस्थानी भाषा मान्यता तदर्थ समिति के अध्यक्ष ने अपने एक पत्र 05.02.2001 में निम्नलिखित विचार अभिव्यक्त किये थे जो मारवाड़ी में थे, वे इस प्रकार हैं—राज रै कागदा मांय राजस्थानी बोलणियां री संख्या कम गिणीजे, जिण सूं इण भाषा नै संविधान मांय मानता मिलण में अबखाई आवै। राजस्थानी भाषा आपारी, संगली बोलियांरा सबणं सूं मिला नै बणी है।

उपरोक्त संदर्भित पत्र में और संकल्प में इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया है कि राजस्थानी भाषा राजस्थान में बोली जाने वाली विभिन्न बोलियों का अर्थ राजस्थान के विभिन्न जिलों में बोली जाने वाली बोलियां शामिल हैं। पत्र मारवाड़ी में लिखा गया है, कितने व्यक्ति हैं जो राजस्थान के विभिन्न हिस्सों में इसे समझ सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद 343 में यह निर्देशित किया गया है कि भारत राष्ट्र की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी तथा अनुच्छेद 345 में

यह अभिव्यक्त किया गया है कि किसी राज्य में प्रयोग होने वाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक भाषा को या हिन्दी को उस राज्य के सभी या किन्हीं शासकीय प्रयोजन के लिए प्रयोग में ली जाने वाली भाषा या भाषाओं के रूप में अंगीकार कर सकेगा।

स्पष्ट है कि हिन्दी करोड़ों लोगों की जन भाषा है, संघ की राष्ट्र भाषा और राजभाषा है। हिन्दी राजस्थान की राजभाषा है, राजस्थान सरकार विधानसभा ने एक विधेयक दिनांक 01. मई, 1957 को पारित किया उसका निर्णय था। राजस्थान आफिशियल लेंगेज एक्ट 1956 के तहत यह घोषणा की गई कि राजकीय विभागों में केवल हिन्दी देवनागरी लिपि में ही काम किया जायेगा, गजट की भाषा भी हिन्दी होगी इस प्रकार राजस्थान में हिन्दी को राजकीय भाषा के लिए स्वीकृत किया गया। राजस्थान हिन्दी भाषी राज्य था, यह संपर्क भाषा हो रही है। सन् 1950 से पूर्व भी कोर्ट कचहरियों की भाषा भी हिन्दी रही थी। शायद इस तथ्य को बहुत कम लोग जानते होंगे कि सन् 1949 में राजस्थान में हाईकोर्ट व अन्य कोर्ट्स की भाषा हिन्दी थी, शिक्षा की भाषा हिन्दी थी और आज भी हिन्दी है।

भाषायी सर्वेक्षण होकर 1914 में एक पुस्तक प्रकाशित की गई थी, उसका नाम था ‘लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया’ जिसमें राजपुताना की तत्कालीन रियासतों में बोली जाने वाली बोलियों के नाम दिये हैं, किन्तु उनमें कहीं भी राजस्थानी भाषा अथवा बोली का नाम नहीं है, वस्तुतः 1947 से पूर्व राजस्थान था ही नहीं, राजपुताना इस भू भाग का नाम था। राजस्थानी भाषा न तो कोई बोली है न इसका कोई प्राचीन इतिहास न साहित्य न कोई मानक रूप भाषा कोष अथवा व्याकरण। साहित्य है तो बोलियों का, जैन ब्रजभाषा आदि का। इसमें कोई संदेह नहीं है कि राजस्थान में मूल रूप से ब्रजभाषा, हाडौती, बागड़ी, दूढाडी,

मेवाड़ी, मारवाड़ी, डिंगल, मालती, शेखावटी आदि बोली जाती है।

आठवीं अनुसूची का संबंध अनुच्छेद 344 से है, जिसमें इसका उल्लेख मिलता है राज भाषा के संबंध में आयोग और संसद की समिति बनाने के लिए और अनुच्छेद 351 में हिन्दी भाषा के विकास के लिये निर्देश दिये गये हैं। संविधान के अनुच्छेद 343 में यह व्यवस्था है कि संविधान लागू होने से 15 वर्ष की अवधि तक शासकीय प्रयोजनों के लिये अंग्रेजी का प्रयोग किया जाने की अंतिम सीमा निर्धारित की थी। अनुच्छेद 344 में यह व्यवस्था की गई थी कि राष्ट्रपति संविधान लागू होने से 5 वर्ष की समाप्ति पर और तत्पश्चात ऐसे प्रारंभ से दस वर्ष की समाप्ति पर, आदेश द्वारा एक आयोग गठित करेगा जो एक अध्यक्ष और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट विभिन्न भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे अन्य सदस्यों से आयोग द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया परिनिश्चित करेगा। इससे स्पष्ट है कि दिनांक 26.01.1956 से हिन्दी राष्ट्रभाषा हो चुकी है और शासकीय कार्य राष्ट्रभाषा में किया जाना है, और अब आठवीं अनुसूची का कोई अभिप्राय शेष नहीं रहा है। आठवीं अनुसूची अपरिवर्तनीय है, उसमें कोई संशोधन संभव नहीं है, इस प्रकार राजस्थानी को यानी ब्रजभाषा, मारवाड़ी, मेवाती, ब्रज, हाडौती, बांगड़ आदि बोलियों को आठवीं अनुसूची में जोड़ने का कोई आधार ही नहीं है।

राजस्थान में कई बोलियों हैं जैसे ब्रज, हाडौती, बागड़ी, मारवाड़ी, दूढाडी, मेवाड़ी, शेखावटी, मेवाती आदि। क्या हिन्दी के स्थान पर आप इन बोलियों को विधानसभा व कोर्ट की भाषा अथवा स्कूल की भाषा बनाकर हिन्दी राजभाषा का अपमान नहीं कर रहे हैं? जब हिन्दी भाषी राज्य ही ऐसा करेंगे तो महाराष्ट्र

में आज जो कुछ हो रहा है, उसकी आलोचना करने का आपको कोई अधि कार नहीं रहता। ऐसा कर क्या आप नये युवकों के लिए अन्य प्रदेशों में रोजगार के साधनों को बंद नहीं कर देना चाहते?

यह प्रयास किसी की सोची समझी चाल तो मालूम नहीं पड़ती। राजस्थान हिन्दी भाषी राज्य है, हमारा कर्तव्य है कि इसे राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करें। समझ में नहीं आता हमारी बुद्धि को क्या अभिशाप लग गया है कि संपर्क भाषा के लिये भी हिन्दी को हटाकर राजस्थानी याने राजस्थान में बोली जाने वाली बोलियों को अर्थात् मारवाड़ी, ब्रज, हाडौती, बागड़ी आदि को लाना चाहते हैं वह भी अनुसूची-8 में शामिल कर, बिना समझे की राजस्थानी भाषा क्या है और अनुसूची-8 का अब कोई औचित्य ही नहीं है। राज्य में अलग-अलग स्थानों के स्कूलों में इन अलग-अलग बोलियों की शिक्षा देना व विधानसभा की कार्यवाही को उपरोक्त बोलियों में अनुवाद कर प्रकाशित करना समय व धन की बर्बादी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हम आधारहीन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु राजस्थान को देश से काट देंगे। अन्य राज्यों में उन्हें नौकरी नहीं मिलेगी। हिन्दी के बढ़ते हुए चरण अवरुद्ध हो जावेंगे। वृजभाषा, बागड़ी, हाडौती, शेखावटी, मालवी, मेवाड़ी, बोलने वाले सड़क पर निकल पड़ेंगे। भाषा के नाम पर संघर्ष होगा। राजस्थान का भाषा के आधार पर बंटवारा प्रारंभ हो जावेगा। शांतिप्रिय राजस्थान आंदोलन का प्रांत बन जावेगा। दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार गांधीजी ने प्रारंभ किया था। आज वहां यह ऐलान हो रहा है—‘हम राजभाषा हिन्दी

के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप का चेहरा देख रहे हैं।’ आइये मिलजुल कर हिन्दी को राष्ट्र के साथ, संयुक्त राष्ट्र संघ तक पहुंचाएं। राजभाषा अधिनियम 1963 व राजभाषा (संशोधन) अधिनियम 1968 के प्रावधानों को न्यायालयों में चुनौती दी जावे, क्योंकि वे संविधान के बेसिक स्ट्रक्चर के विरुद्ध हैं। संविधान का भाग ‘राजभाषा’ के बाबत है तथा संविधान का आधारभूत ढांचा है उसमें कोई संशोधन संभव नहीं है। दिनांक 26.01.1950 के 15 वर्ष पश्चात संघ की राजभाषा हिन्दी हो चुकी है। राजस्थानी को आठवीं अनुसूची में शामिल किये जाने की कोई व्यवस्था संविधान में है ही नहीं। संसद के अधिकार से परे यह प्रयत्न है। अंग्रेजी को राष्ट्र भाषा बनाने की ओर एक षड्यंत्रकारी कदम और मूल कर्तव्यों (अनुच्छेद-51 ए) की खुली अवहेलना है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी बोलियों के सौंदर्य एवं अभिव्यक्ति की समता को न केवल कायम रखें अपितु इन गुणों से राष्ट्रभाषा को भी सुवासित करें।

अंग्रेज बोले हिन्दी में पर गांधीजी अंग्रेजी में

महात्मा गांधी उस दिन अपने वर्धा आश्रम में थे। उनसे मिलने वालों का तांता हर कहीं लगा रहता था। सो यहां भी लगा था। गांधीजी ने अपनी नित्य दिनचर्या के तहत ब्रह्ममुहूर्त में उठकर अपने सभी आवश्यक कार्य निपटाए। थोड़ा-बहुत पत्र लेखन कर वे बैठक कक्ष में आए और आगतुकों से भेंट की। थोड़ी देर बाद गांधीजी से मिलने एक अंग्रेज सज्जन आए। वे गांधीजी के नाम से परिचित थे और उनके कार्यों से प्रभावित भी थे इसलिए उनके प्रति काफी आदर भाव रखते थे। अभिवादन के पश्चात दोनों के मध्य वार्तालाप शुरू

हो गई। चूंकि अंग्रेज सज्जन थोड़ी-बहुत हिन्दी जानते थे इसलिए उन्होंने गांधीजी से हिन्दी में ही बातचीत करना शुरू किया, किन्तु गांधीजी उनके प्रश्नों का उत्तर अंग्रेजी में देते रहे। वहां बैठे अन्य लोगों को यह स्थिति बड़ी अजीब लगी। स्वयं अंग्रेज सज्जन भी चकित हुए क्योंकि गांधीजी हिन्दी के बहुत बड़े पैरोकार थे। जब उस सज्जन ने गांधीजी से विदा लेनी चाही तो गांधी ने अंग्रेजी में उन्हें कुछ सम्मानसूचक शब्द कह पुनः आने के लिए कहा। तब वे सज्जन स्वयं को रोक न पाए और गांधीजी से प्रश्न कर ही लिया। महात्माजी! मैं तो हिन्दी में आपसे बात करता रहा, लेकिन आप मुझसे अंग्रेजी में बात करते रहे। ऐसा क्यों? गांधीजी ने उत्तर दिया—जब आपमें मेरे देश की भाषा के प्रति इतना सम्मान, आदर और प्रेम है तो मैं भी आपकी भाषा का आदर क्यों न करूं? गांधीजी की विशाल हृदयता देख अंग्रेज सज्जन उनके प्रति श्रद्धा से भर गए।

वस्तुतः भाषा हमारी विचार अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है और हमारे विचार ज्ञान के वाहक होते हैं। अतः ज्ञान के प्रसार रूप में प्रत्येक भाषा आदर योग्य होती है। इसलिए हमें अपने साथ-साथ दूसरों की भाषा का भी तहेदिल से सम्मान व आदर करना चाहिए।

संदर्भ सूची

- नई दुनिया
- नवभारत टाइम्स जनसत्ता
- दैनिक हिन्दुस्तान
- हंस
- अफ्रीका में हिन्दी भाषा और साहित्य—उमाशंकर झा
- भारत सरकार की राजभाषा नीति—अरविन्द कुलश्रेष्ठ
- भारत का भाषा सर्वेक्षण—सर जॉर्ज इब्राहिम

जन जन की भाषा

डॉ. शम्भू नाथ शरण

सहायक शिक्षक, दरिहारा उच्च विद्यालय
दरिहारा (सारण)

14 सितंबर को देश भर में विशेषतः सरकारी स्तर पर हिन्दी दिवस मनाया जाता है। देश भर में हिन्दी पखवाड़े में अनेकों समारोह संपन्न होंगे। परंतु क्या ये सभी हिन्दी को उसका उचित स्थान दिलाने व देशभर में जन-जन की वास्तविक संपर्क भाषा बनाने के लिए पर्याप्त हैं? ऐसे भाव प्रत्येक भारतवासी के मन में उभरते हैं।

14 सितंबर 1949 को हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का संकल्प भारत की संविधान सभा ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया। इससे पूर्व स्वतंत्रता के आंदोलन में संपूर्ण राष्ट्र को एकजुट करने में महत्वपूर्ण योग दिया। सभी भारतीयों के लिए धीरे-धीरे हिन्दी राष्ट्रीय स्वाभिमान और गौरव का प्रतीक बन गयी। पूरे देश में उत्तर से दक्षिण व पूर्व से पश्चिम को जोड़ने वाली जन-संपर्क की भाषा बनी। परंतु यह अन्य भारतीय भाषाओं के विकास के साथ-साथ संपन्न हुआ। संविधान के प्रभावी होने पर अपेक्षा तो यह थी कि हिन्दी भाषा तेजी से सरकारी कामकाज की भाषा बनेगी, शिक्षा का माध्यम बनेगी। यह राष्ट्रीयता, भारतीय सांस्कृतिक विरासत, सांस्कृतिक मूल्यों की वाहक बनेगी।

भारत की अन्य सम-स्तरीय भाषाओं के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान के विकास व देश के सभी भागों में संपर्क सूत्र बनेगी। परंतु यह विडंबना ही है कि भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन ने देश में भाषाई वर्चस्व की प्रतिद्वंद्विता को कभी न समाप्त होने वाले वैचारिक संघर्ष में बदल दिया। दक्षिणी राज्यों ने इस उत्तर भारत के सांस्कृतिक आक्रमण के रूप में मानकर हिन्दी के उग्र-विरोध के मार्ग का अनुसरण किया। उत्तर भारत में अंग्रेजी हटाओ का उग्र आंदोलन चला। हजारों युवकों ने दशकों तक हिन्दी अपनाने, ज्ञान के सृजन के इसके योग को बढ़ाने में सकारात्मक योग दिया। यह उत्तर भारत की राजनीति का आधार बनी। इससे उत्तर-दक्षिण के राजनीतिक वर्चस्व का विवाद गहराया। त्रिभाषा फार्मूले के आधार पर राह

बनाने के प्रयास हुए, परंतु प्रारंभिक सफलता के बाद शनै-शनै पर्दे के पीछे चला गया। पर इस संपूर्ण घटनाक्रम से अंग्रेजी दासता का प्रतीक थी, को पुनः उभरने का अवसर मिला। अंग्रेजी समर्थकों ने उत्तर-दक्षिण की लड़ाई में अंग्रेजी को राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय संपर्क भाषा व ज्ञान विज्ञान के विस्तार के लिए अपरिहार्य बनाते हुए सरकारी कामकाज की भाषा बनाये रखने में सफलता प्राप्त की है। आपातकाल में हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं को कुछ प्राथमिकता मिली। परंतु 80 के दशक व उदारीकरण, वैश्वीकरण काल में देश व समाज का ध्यान भाषायी विवाद में हटा।

भारत में आई. टी. उद्योग के विकास तथा इसके बाद की अन्य उद्योगों की सफलता तथा सेवाक्षेत्र के तीव्र विकास ने भारतीय भाषाओं को पर्दे के पीछे धकेल कर अंग्रेजी को अपरिहार्य सा बना दिया है। देश भर में एक नया वर्ग, संस्कृति व ज्ञान-विज्ञान का उभार बना है, यह देश की भाषायी व सांस्कृतिक व ज्ञान-विज्ञान का उभार बना है, यह देश की भाषायी व सांस्कृतिक विरासत से एकदम परे है, ऐसे वातावरण में जब भारत के भीतर भारत का जन्म होने की प्रक्रिया चल रही हो, हिन्दी पखवाड़े का महत्व बढ़ जाता है। हम सभी को गंभीरता पूर्वक मनन कर भाषायी समस्या का हल निकालना होगा।

अंग्रेजी भाषा के प्रसार के साथ हिन्दी भाषा को अनेक अन्य प्रवृत्तियों से निबटना होगा। किसी भी भाषा का विकास व विस्तार तब तक जारी रहता है जब तक कि वह जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त शब्दों व भावों को सहेजती रहती है। स्पष्ट है कि भाषा को व्याकरण के कठोर बंधन में बांधने से जन-जन की भाषा बने रहने में बाधा आती है। हिन्दी समर्थकों का एक वर्ग तत्सम शब्दों युक्त संस्कृत निष्ठ हिन्दी के स्वरूप को जन संपर्क की भाषा बनाना चाहते हैं। वास्तव में भाषा का स्वाभाविक विकास तब ही जारी रहता है, जब तक यह जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त शब्दों व भावों को अपने में समाती रहती है। अंग्रेजी का विकास इसका उदाहरण है। इसका स्वरूप देश, काल व स्थान के अनुरूप परिवर्तित होता रहा है। भारतीय भाषाओं को इस दृष्टि से उदार बनाना समय की जरूरत है। अत्यधिक संस्कृत निष्ठ भाषा व्याकरण की दृष्टि से व नये साहित्य व ज्ञान के सृजन, प्रसार व प्रचार के लिये उपयुक्त हो सकती है, परंतु यह जन साधारण की सामान्य संपर्क भाषा नहीं बन सकती है। इस दृष्टि से हिन्दी भाषा नहीं

बन सकती है। इस दृष्टि से हिन्दी भाषा को उदार बनाना ही होगा। परंतु इस उदारता की सीमा रेखा क्या हो, यह भी विचारणीय प्रश्न है, यह भी विचारणीय प्रश्न है, हिन्दी फिल्मों व इसके संगीत ने हिन्दी को व्यापक व जनभाषा बनाने में बहुत बड़ा योग दिया है।

उत्तर-दक्षिण भाषायी भेद के बावजूद हिन्दी फिल्मों व संगीत ने देश में ही नहीं विश्व के अधिकांश भागों में हिन्दी के प्रचार-प्रसार को प्रेरित किया है। परंतु, अब यह उदारता की सीमा के परे जाने लगी है। लालू यादव टाइप हिन्दी को फैलाने, बहुत अधिक अपभ्रंश व द्विअर्थी संवादों से युक्त भाषा हिन्दी के स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध कर रही है। इस प्रवृत्ति से सावचेती अपेक्षित है।

साहित्यकारों के एक छोटे से वर्ग ने हिन्दी भाषा को लोकप्रिय एवं सर्वग्राह्य बनाने के लिए सुझाव दिया है, कि वे देवनागरी लिपि को त्याग कर रोमन लिपि अपनाकर हिन्दी को सभी के प्रयोग योग्य बनाया जा सकता है। परंतु क्या लिपि बदलने से ही सभी प्रकार का भाषा भावार्थ बोधगम्य हो सकता है। लिपि भाषा की आत्मा होती है। हिन्दी भाषा व देवनागरी लिपि का चोली दामन का साथ है। मात्र फिल्मों में गैर हिन्दी भाषी कलाकारों के संवाद रोमन लिपि में लिखे संवाद गैर-हिन्दी भाषियों के लिये उपयुक्त हो सकते हैं हिन्दी भाषा के विकास के लिए नहीं।

भारत की 14 प्रमुख भाषाओं के साथ-साथ अब अन्य स्थानीय भाषाओं में भी प्रमुखता प्राप्त करने की होड़ बढ़ रही है। राजस्थानी भाषा को 14 भाषाओं के समकक्ष बनाने के गंभीर प्रयास जारी हैं। क्या ऐसे प्रयास 14 भाषाओं को

विकास को अवरुद्ध नहीं करेंगे? ये स्थानीय भाषाएं उस क्षेत्र की प्रमुख भाषा को समृद्ध बनाने में योग देकर भारत के भाषायी आधार को सुदृढ़ कर सकती है। ऐसे ही प्रयासों से अंग्रेजी का प्रभाव बढ़ने में सहायक होता है। हाल ही में संपन्न संचार क्रांति ने भी मैसैजिंग के क्षेत्र में अंग्रेजीयुक्त नयी मैसैजिंग व्यवस्था को प्रोत्साहित किया है। इसी से प्रभावित होकर एक वर्ग सामान्य बोल-चाल व लेखनी में इसका उपयोग करने लगा है।

इसे रोमनलिपि से पृथक कर देवनागरीलिपि आधारित हिन्दी भाषा के साथ कैसे समायोजित किया जाए यह एक चुनौती है। संचार व मनोरंजन के नये-नये साधनों के उपयोग ने पठन-प्रवृत्ति को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। इस प्रवृत्ति के चलते नये सृजनशील साहित्य, विचारों व ज्ञान-विज्ञान व तकनीक को जन-जन तक पहुंचाना प्रतियोगिता पूर्ण हो गया है। दृश्य श्रव्य साधनों का क्षेत्र व्यापक तो होता है, परंतु इनका वह प्रभाव नहीं हो पाता है, जो पठन साहित्य व पुस्तकों का होता है। इस प्रवृत्ति का समायोजन भी आवश्यक है।

आज संपूर्ण विश्व में भारतीयों की उपस्थिति बढ़ी है। विदेशों में निवास करने वाले भारतीयों एवं बार-बार भ्रमण करने वाले व्यक्तियों में हिन्दी का प्रयोग बढ़ा है। हिन्दी विश्व की प्रमुख भाषाओं में से एक है। इसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय बनाना भी अभीष्ट होना चाहिए। यूएनओ की मान्यता प्राप्त भाषाओं में इसे सम्मिलित करने के सघन प्रयास होने चाहिए। इन सबके परे देश की शासन व्यवस्था, न्याय, व्यवस्था की जन-जन से जीवन्त संपर्क बनाने के

लिए संपूर्ण राजकाज हिन्दी सहित 14 भारतीय भाषाओं में किया जाना अतिआवश्यक है। इस स्थान पर आज भी अंग्रेजी भाषा प्रतिष्ठित है, यह राष्ट्रीय स्वाभिमान व गौरव पर चोट है। भारत में बोलने व जानने वालों की संख्या अन्य अनेक देशों की जनसंख्या से अधिक है।

इस आधार पर यदा-कदा सुझाव आता है कि अंग्रेजी को भी 14 भारतीय राष्ट्रीय भाषाओं के समान दर्जा दे देना चाहिए। परंतु क्या यह भारतीय सांस्कृतिक विरासत, सोच, व्यापक वातावरण के प्रतिकूल नहीं होगा। हमें नहीं भूलना चाहिए कि अंग्रेजी एक भाषा ही नहीं है, यह भारतीयों को गुलामी, विदेशी विशेषतः इंग्लैंड की सर्वोच्चता तथा भारत में अंग्रेजियत पसंद व्यक्तियों के अचेतन में रसे बसे सर्वोच्चता व शासक होने का भाव निहित होने से जन साधारण से पृथक करने का मार्ग है। जिसका हर हालत में परिहरण अतिआवश्यक है। हिन्दी दिवस व हिन्दी पखवाड़े के अवसर पर करोड़ों भारतवासियों का संकल्प होना चाहिए कि अंग्रेजी का परित्याग कर, भारतीय भाषाओं विशेषकर हिन्दी आंदोलन के समान आंदोलन चलाकर इसे वास्तविक जन संपर्क की भाषा बनायेंगे।

संदर्भ सूची

- वागर्थ
- आजकल
- जनसत्ता
- नवभारत टाइम्स जनसत्ता
- भारत सरकार की राजभाषा नीति-अरविन्द कुलश्रेष्ठ
- भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा-जितेन्द्र वत्स

रघुवंशम् में सुभाषित

डॉ. भारती कुमारी

एम.ए. पीएच.डी. पटना विश्वविद्यालय

रघुवंशम् महाकवि कालिदास अनुपम महाकाव्य है। 19 सर्गों में निबद्ध यह महाकाव्य महाकवि की प्रौढतम रचना है। इस महाकाव्य में सूर्यवंश में उत्पन्न राजा दिलीप और उनके पुत्र रघु के वंशजों-अज, दशरथ, रामचंद्र, कुश, अतिथि, निषध इत्यादि का वर्णन है। इस महाकाव्य में 1569 श्लोक हैं जिसमें राजा दिलीप से अग्निवर्ण तक इकतीस राजाओं के जीवन और चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन बड़े ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। कला पक्ष की दृष्टि से रघुवंशम् एक ऐसा काव्य है जिसमें अनेक नायकों के जीवन चित्रों का पट है और महाकाव्य की परिभाषा के अनुरूप योग्य कुमारोत्पत्ति, नगरों, पर्वत, समुद्र नदियों, ऋतु, मधुपान, विवाह, युद्ध, सुरत, जलक्रीड़ा इत्यादि विषयों का वर्णन प्रत्येक राजा के संबंध में कहीं न कहीं किया ही है।

इस परिपाक की दृष्टि से 'रघुवंशम्' श्रेष्ठ हैं क्योंकि इसमें सभी रसों का पूर्णरूपेण परिपाक हुआ है। अलंकार एवं भाषाशैली की दृष्टि से भी यह अनुपम महाकाव्य है। त्यागमय जीवन से प्रारंभ हुए वंश का वर्णन करते हुए कवि ने अंत में जिस विलासमय जीवन का वर्णन किया है, वह कवि की निश्चछलता और निर्भीकता का परिचय देता है। आदर्शों की सृष्टि जितनी इस महाकाव्य में हुई है उतनी अन्यत्र नहीं। कवि ने अपनी शैली के द्वारा वैदिक उपदेशों को सरलता के साथ प्रदर्शित किया है।

महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' महाकाव्य में सारग्रहित-सुभाषितों का प्रयोग 'विषय-वस्तु' के वर्णन क्रम में किया है। महाकवि कालिदास 'रघुवंशम्' महाकाव्य के प्रथम सर्ग में कहते हैं कि मेरे द्वारा रचित 'रघुवंश' का आस्वाद काव्यों के गुण-दोष का विवेचन कर सकने में समर्थ रसिक ही कर सकते हैं क्यों सोने के खरेपन-खोटेपन की वास्तविक परीक्षा (उसे) अग्नि में डालने पर ही होती है। हेमनःसंलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिःश्यामिकाऽपि वा ॥' रघु०

राजादिलीप निःसंतान थे। वे गुरुवशिष्ठ के आश्रम आकर गो-सेवा करते हैं। पुत्रहीन दिलीप महर्षि वशिष्ठ से कहते हैं कि तप दान इत्यादि के पुण्य से केवल परलोक में ही सुख मिलता है किंतु शुद्ध वंश में उत्पन्न संतति से ऐच्छिक तथा पारलौकिक दोनों ही प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है—

संतपिः शुद्ध वंश्या हि परत्रेह च शर्मणे १^२

गुरु वशिष्ठ उन्हें संतान प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं कि तूने सुरधेनु का अपमान किया था, इसलिए उसने तुझे शाप दिया। वही शाप तेरी संतति के मार्ग में रोड़ा बन रहा है। महर्षि वशिष्ठ दिलीप से कहते हैं कि—

प्रतिबध्नाति हिश्रेयः पूज्यपूजाष्यतिक्रमः १^३

अर्थात् जो पूजनीय होते हैं, उनकी पूजा-वंदना नहीं करने से कल्याण के मार्ग में बाधाएं आती हैं।

महाकवि कालिदास रघु के विलक्षण-बुद्धि का वर्णन क्रम में कुमार रघु को पढ़ाने के लिए नियुक्त किए गए सभी विद्या गुरुओं के प्रयत्न सहज ही सफल हुए क्यों कि रघु बुद्धिमान था। महाकवि ने इसी प्रसंग में लिखा है—“क्रियाहि वस्तुपहिता प्रसीदति १^४

अर्थात् गुरु द्वारा दी गई शिक्षा योग्य शिष्य को दी जाने पर ही सफल होती है। शिक्षा सत्पात्र को देने से वह विलक्षण चमत्कार पैदा करती है।

डटकर अपना विरोध करने वाले रघु का पराक्रम देखकर इन्द्र को भी कौतुक हुआ क्योंकि—पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते १^५

अर्थात् वास्तविक गुणों का परिणाम किसी पर भी और कहीं न कहीं होता ही है।

दिग्विजय के बाद रघु ने विश्वजित् नामक यज्ञ किया और उसमें उसने वह सारा का सारा ही द्रव्य सत्पात्रों को दक्षिणा के रूप में दे डाला जिसकी उसे प्राप्ति हुई थी। इसी प्रसंग में कालिदास कहते हैं—

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव १^६

अर्थात् सज्जनों का व्यवहार बादलों के समान होता है। दूसरों से वे जो कुछ भी लेते हैं, उसे उन्हें वापस लौटा देने के लिए ही लेते हैं।

रघुवंशम् के पांचवे सर्ग में जब 'प्रियवंद' नामक गंधर्व को घमंड के कारण मतंगमुनि ने शाप दे दिया, किंतु जब गंधर्व ने क्षमा मांगी, तब मुनि शांत हुए। इसी प्रसंग में महाकवि

कालिदास कहते हैं कि शीतलता जल का स्वाभाविक धर्म है। थोड़े समय के लिए उसमें जो उष्णता आ भी जाती है, वह केवल अग्नि या सूर्य की किरणों के कारण ही—

“उष्णत्वमग्न्यातपसं प्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ।⁷

स्वयंवर के समय इंदुमती ने अंगराज को अस्वीकार कर दिया। वास्तव में न तो अंगराज गुणहीन था और न ही इन्दुमति अगुणज्ञ थी किंतु किसी भी मनुष्य की व्यक्तिगत रुचि भिन्न होती है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन इस सुभाषित से होता है—

भिन्नरुचिर्हि लोकः ।⁸

इन्दुमती का शोक करते हुए अज कहते हैं कि यदि यह पुष्पमाला प्राण घातक है, तो जब मैंने भी उसे अपने सीने पर रख लिया, तब वह भी मेरे प्राण क्यों नहीं लेती? इसका अर्थ यह है कि—

विषमण्यमृतं क्वचिद् भपेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ।⁹

अर्थात् परमेश्वर की इच्छा से विष का अमृत और अमृत का विष भी हो सकता है।

महाकवि ने अपने इस महाकाव्य में इस सांसारिक सत्य का रहस्योद्घाटन किया है जीवन मिथ्या है और मृत्यु ही सत्य है। अज को सान्त्वना देते हुए वशिष्ठ का शिष्य अज से कहता है कि—मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।¹⁰ मरण ही प्राणियों का स्वाभाविक धर्म है और जीवन तो उनका केवल सामयिक विकास है।

मनुष्य अविवेक के कारण अयोग्य आचरण करता है। दशरथ ने अधिक विचार न कर तथा राजधर्म का विचार

नहीं करते हुए हाथी पर अर्थात् यह हाथी है ऐसा सोचकर शब्द वेधी बाण छोड़ दिया। अच्छे-अच्छे विद्वान भी अविवेक से अंधे हो जाने पर कुमार्ग पर चले जाते हैं—

“अपने पदमपर्यन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ।¹¹

‘ज्ञान’ की कसौटी आयु नहीं होती है। जब यज्ञ की रक्षा के लिए विश्वामित्र ने वाल-उम्र के राम को भेज देने की प्रार्थना दशरथ से की, क्योंकि राम छोटे होते हुए भी तेजस्वी थे। तेजस्वी पुरुषों के बारे में आयु का विचार नहीं किया जाता—“तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते” ।¹²

‘रघुवंशम्’ के 11वें सर्ग में जब दशरथके मन में यह बात आई कि ‘अब हमे योग्य पुत्रवधु चाहिए’ वैसे ही ‘जनक का पुरोहित शतानन्द दशरथ के पास यह रुचिकर संदेश लेकर आये कि ‘जनक ने अपनी कन्या प्रतिज्ञा पूरी करने वाले रामचंद्र को दी है। इस प्रसंग में कालिदास कहते हैं—

“सद्य एवं सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्ष फलधर्मिकाङ्क्षितम् ।¹³ पुण्यवान् लोगों के मनोरथ कल्पवृक्ष के फलों के समान होते हैं। वे काल की कठिनाई दूर कर शीघ्र ही पक जाते हैं अर्थात् सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार शक्तिशाली और महान् लोगों की महानता तभी दिखती है जब अपने से अत्यधिक शक्तिशाली व्यक्ति को अपने अधीन कर लेता है या अपना प्रभुत्व उस पर कायम करता है। परशुराम राम से कहते हैं कि मैंने अपने पराक्रम से समस्त क्षत्रियों को नष्ट कर दिया है, तो भी तुझे जीते बिना मुझे संतोष नहीं होगा।” इस प्रसंग में यह सारग्रमित उक्ति है—

पावकस्य महिमा सगण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपियः ।¹⁴ अग्नि की महिमा तभी माननी चाहिए, जब वह सूखे घास में जलने के समान ही समुद्र में जले।

इसी प्रकार जब लक्ष्मण ने अपने बड़े भाई राजा राम की पत्नी सीता को वन में ले जाकर छोड़ आने की आज्ञा चुपचाप मान ली जाये क्योंकि— ‘आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया ।¹⁵ बड़े-छोटों द्वारा नहीं किया जाता। उसका पालन चुपचाप करना होता है।

अस्तु कालिदास ने अपने इस अनुपम महाकाव्य में न केवल आदर्श चरित्र का चित्रण किया है, अपितु आदर्श भारतीय संस्कृति की झलक भी दिखाने का प्रयास किया है। अपने काव्य-प्रसंगों में जिस तरह से व्यवहारक, कूटनीतिज्ञ एवं आचारपरक सदुश्रियों का प्रयोग किया है, उससे स्पष्ट होता है कि कालिदास एक काव्य शिल्पी ही नहीं, अपितु बहुमुखी प्रतिमा का महान् विद्वान् थे।

संदर्भ सूची

1. रघुवंशम्—1.10
2. रघुवंशम्—1.69
3. रघुवंशम्—1.79
4. रघुवंशम्—3.29
5. रघुवंशम्—3.62
6. रघुवंशम्—4.86
7. रघुवंशम्—5.54
8. रघुवंशम्—6.30
9. रघुवंशम्—8.46
10. रघुवंशम्—8.87
11. रघुवंशम्—9.74
12. रघुवंशम्—11.1
13. रघुवंशम्—11.50
14. रघुवंशम्—11.75
15. रघुवंशम्—14.46

साम्प्रतिक परिवेश में बाणभट्ट की प्रासंगिकता

डॉ. सत्येन्द्र कुमार सिंह

जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

सारांश

सप्तम शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रादुर्भूत कवि बाणभट्ट की कृति हर्ष चरितम् और कादम्बरी संस्कृत साहित्य की अक्षुण्ण धरोहर है। कवि बाणभट्ट ने अपनी रचनाओं के द्वारा संस्कृत जगत को जो सारगर्भित संदेश दिया है वह आज के युग में भी अनुकरणीय एवं स्पृहणीय है, कवि का भाव सामाजिक रीति-रिवाजों की बाध्यता को भी दर्शाता है।

बाणभट्ट ने सामाजिक कुरीतियों पर भी यथा-साध्य एवं यथा समय प्रहार करने की चेष्टा की है। कादम्बरी का शुकनाशोपदेश आज की गीता के समतुल्य अनुकरणीय उपदेश है। जिसमें तत्कालीन राजाओं द्वारा व्यचरित आचरणों का सम्यक् निरूपण निरूपित किया गया है।

विशिष्ट 5 शब्द

दिक्कालाद्यवच्छिन्न, वैशिष्ट्य, ऐतिहासिक, निर्वहन, तात्कालिक इत्यादि।

भूमिका

कवि बाणभट्ट की रचना हर्षचरितम् एवं कादम्बरी समाज विशेष, काल विशेष, देश विशेष, तथा परिस्थिति विशेष से प्रभावित है। कारण कि किसी भी कवि की कृति तात्कालिक परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती है। जिसमें वह जीवन-यापत करता है।

पुनरादि कवि जगत के उत्तरदायित्व पूर्ण महान भार का वहन करता हुआ दिक्कालाद्यवच्छिन्न परिस्थितियों से उपर उठ कर दिक्कालाद्यवच्छिन्न शास्वत संदेश को समाज में

प्रदान करने का दायित्व निर्वहन करता है। यही कवि का वास्तविक कवित्व है।

अध्ययन का उद्देश्य

कवि बाणभट्ट के ग्रन्थ के रचना का उद्देश्य तात्कालिक परिस्थिति स्थानीय सामाजिक विचार-प्रचार से प्रभावित मानव-मानस के सन्देश को जन-जन तक पहुंचाना है। कवि की कृति कादम्बरी में तीन जन्मों की कथा वर्णित है। जिसका उद्देश्य मानव द्वारा किए गए कार्यों का भोग यह दर्शाता है कि यह मानव जीवन भोग भूमि नहीं अपितु कर्म भूमि है। यहाँ कवि बाणभट्ट का काव्य-मार्ग कभी भी एक देशीय नहीं रहा। कवि का संदेश सर्वदा और सर्वत्र कवित्व और व्यक्तित्व तथा कृतित्व समाज-देश के लिए सार्वभौमिक उपदेश है। जो सार्वकालिक एवं सर्वजनीय है।

कवि राजशेखर ने यद्यपि कवि की कृति को कुछ नियमों में प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा की है यथा -

“गृहीत विद्योपविद्यः काव्य क्रियाणां प्रवर्तते। नाम धातु परायणम् अभिधान कोषः छन्दोविचिः, अलंकार तन्गम्, काव्य-विद्या। कलास्तु चतुःषष्टिरुपविद्या सुजनोपजीव्य कविसन्निधिः देशवार्तावदग्धवादः, लोकमात्राः विद्वद्गोष्ठ्यश्च, काव्यमाताः पुरातन कवि विबन्धाश्च” इति।¹

कवि का उद्देश्य समस्त विद्योपविद्याओं और पुरातन कवि विबन्धों का विस्तृत और गम्भीर अध्ययन, समस्त कलाओं का सम्यगनुशीलन करना हैं हर्ष चरितम् और कादम्बरी का सिंहावलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि शुकमुख से कादम्बरी के तीन जन्मों की कथा का प्रवाह कर्मानुशील कर्तव्य परायणता को ही प्राथमिकता देता है।

कवि द्वारा वर्णित मित्र मण्डली तथा तात्कालिक सामाजिक सभी वर्गों के प्रतिनिधियों के अद्भुत समवाद का चमत्कारित स्वरूप कादम्बरी का सम्पूर्ण मूल्यांकन है। यह वर्णन उस कवि के विलक्षण व्यक्तित्व के निर्माण में विशेषण सहायक है।, उस प्रकार की मित्रमण्डली उस रुचि वैचित्र्य एवं वैशिष्ट्य का परिचायक है।

कवि की प्रथम कृति हर्षचरित के बौध दार्शनिक दिवाकर मिश्र के आश्रम का वर्णन, तात्कालिक नास्तिकवाद तथा आस्तिक दर्शन की लम्बी सूची प्रकट करता है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की दार्शनिक विचारधारा बोध

सिद्धान्त के विशेषताओं से पूर्णरूपेण परिचित हैं कादम्बरी काव्य में कुमार चन्द्रापीड के विधाभ्यास प्रसंग में उस समय की प्रचलित विविध विद्याओं की लम्बी सूची प्रस्तुत की है। सूत्र रूपेण उपर्युक्त सभी वर्णन वाणभट्ट के व्यापक वैदुष्य, काव्य-कला कौशल, दार्शनिक निष्णान्तता, रामायण महाभारत तथा पुराणों से सुपरिचितता, लोकव्यवहारभिज्ञानता की अभिव्यक्ति करता है।

शोध प्रविधि

बाणभट्ट की कृति में विविध विद्योपविद्याओं, का सामाजिक विचारोपविचारों का, दार्शनिक विचाराधारा का, साहित्यिक प्रकृतियों के गम्भीर ज्ञान का, लोकवृत्त व्यापकानुभव से अर्जित व्युत्पत्ति वैलक्षण्यसोपानुप्राणित प्रवृत्ति का साक्षात् निर्देश दिया है।

तथ्य विश्लेषण

बाणभट्ट का शुकनाशोपदेश “जो भगवद्गीता” कहा जाता है आधुनिक शासको, धनवान पुरुषों तथा युवा वर्ग के लिए विशेषोपयोगी है। जैसे कि “राजानः श्रीमन्तश्च तु स्वार्थं निष्पादन परैः धनपिशित ग्रामगृधैरास्थान नलिकी धूर्तकैः प्रताप कुशलैधूर्तैः अमानुष लोकोचितानिः स्तुतिभिः प्रतार्णमाजाः मिथ्या माहत्म्य गर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवाताभ्यः, न पूज्यति पूज्यान्, न मानयन्ति मान्यान्, नार्चयन्ति अर्चनीयान्,। सर्वथा तमभिनन्दति तमालपन्ति, तै पार्श्वे कुर्वन्ति, तं वर्धयन्ति। योहि वामाहात्म्यमुद्भावयन्ति” इति॥ प्रायः यही दशा आज के शासकों की है।

बाणभट्ट का शुकनाशोपदेश दीक्षान्त

भाषण के समान युवा वर्ग को विशेष ग्राह्य है। यथा- “तदेवै प्रायाति कुटिलकष्ट चेष्टा, सहस्र दारुणे राज्य तनोडास्मिन्, महामोह कारिणी च यौवने कुमार तथा प्रयतेथा यथा नोपहस्यसे जनैः, ननिन्धसे साधुभिः, नधिक्रिपते साधुभिः, नोपलभ्यसे सुहृद्भिः, न शोच्यसे विद्वाहभिः॥

उपसंहार

बाणभट्ट राजा हर्षवर्धन के विशेष कृपा पात्र एवं सम्मान भाजन को राजसेवा में रह कर भी यह कवि राजसेवा को कष्ट का कारण मानता था। यह राजकुल औ राजस्वभाव के दुखमाहत्व से भली-भांति परिचित था। राजसेवा के लिए चाटुकारिता, द्रव्य-व्यय, राजपुरुषों

की अनुकूलता का साधन था जो आज के परिवेश में भी उपर्युक्त गुण अपेक्षित हैं आज की भी राजसेवा उसे ही सुलभ है जिसके पूर्वजों का शासकों के साथ सम्बन्ध है। क्योंकि प्राचीन समय में राजाओं के दरबार में उनके साले ही उच्चाधिकारी नियुक्त होते थे। आज के राज प्रसाद उन्हें ही सुलभ है जो चाटुकारिता में प्रवीण हैं, तथा जो द्रव्य बल पर राजपुरुषों को स्वानुकूल करते रहते हैं।

क्षेपतः बिहार प्रदेश के गौरव, संस्कृत गद्य काव्यधारा के प्रहरी सामाजिकता एवं राष्ट्रियता के सपूत कवि बाणभट्ट आज के युग में भी प्रासंगिक हैं। इति॥

उपन्यास

राधारानी

आनन्दमठ

शिकारी

यामा, भाग-1

फर्ज

महानायिका

गरीबी जुर्म नहीं

दर्द भरा दिल

चन्द्रकांता संतति

स्वामी

काशीनाथ

बर्फीली आंधी

यामा, भाग-2

आहुति

द गेट वे ऑफ इंडिया

कमाई की जगह

चन्द्रकांता (भाग 1 से 6)

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053

फोन : 9811710900

Development of Scientific Method in India

Dr. Vibhanshu Mandal

Head, Deptt. of History, JP College
Narayanpur, TMB University, Bhagalpur

Contrary to the popular perception that Indian civilization has been largely concerned with the affairs of the spirit and "after-life", India's historical record suggests that some of the greatest Indian minds were much more concerned with developing philosophical paradigms that were grounded in reality.

The premise that Indian philosophy is founded solely on mysticism and renunciation emanates from a colonial and orientalist world view that seeks to obfuscate a rich tradition of scientific thought and analysis in India.

Much of the evidence for how India's ancient logicians and scientists developed their theories lies buried in polemical texts that are not normally thought of as scientific texts. While some of the treatises on mathematics, logic, grammar, and medicine have survived as such-many philosophical texts enunciating a rational and scientific world view can only be constructed from extended references found in philosophical texts and commentaries by Buddhist and Jain monks or Hindu scholars (usually Brahmins).

Although these documents are usually considered to lie within the domain of religious studies, it should be pointed out that many of these are in the form of extended polemics that are quite unlike the holy books of Christianity or Islam. These texts attempt to debate the value of the real-world versus the spiritual-world. They attempt to counter the theories of the atheists and other skeptics. But in their attempts to prove the primacy of a mystical soul or "Atman"-they often go to great lengths in describing competing rationalist and worldly philosophies rooted in a more realistic and more scientific perception of

the world. Their extensive commentaries illustrate the popular methods of debate, of developing a hypothesis, of extending and elaborating theory, of furnishing proofs and counter-proofs.

It is also important to note that originally, the Buddhist world view was an essentially atheistic world view. The ancient Jains were agnostics, and within the broad stream of Hinduism-there were several heterodox currents that asserted a predominantly atheistic view. In that sense, these were not religions as we think of today since the modern understanding of religion presumes faith or belief in a super-natural entity.

That so many scholars from each of these philosophical schools felt the imperative to prove their extra-worldly theories using rationalist tools of deductive and inductive logic suggests that faith in a super-natural being could not have been taken for granted. This is borne out by the memoirs of Hieun Tsang (the Chinese chronicler who traveled extensively in India during the 7th C. AD) who describes the merchants of Benaras as being mostly "unbelievers"! He also wrote of intense polemics and debates amongst followers of different Buddhist sects.

Similarly, there is other evidence that suggests that amongst the intellectuals of ancient India, atheism and skepticism must have been very powerful currents that required repeated and vigorous attempts at persuasion and change. Nevertheless, over centuries, the intellectual discords between the believers and non-believers became more and more muted.

The advocates of mystic idealism prevailed over the skeptics, so that eventually, (at the popular level) each of these philosophies functioned as traditional religions with their pantheon of gods and goddesses enticing and lulling most into an intellectual stupor. But at no point were the advocates of "pure faith" ever powerful enough to completely extinguish the rationalist current that had so imbued Indian philosophy.

Early Rationalist Schools

One of the most ancient of India's rationalist traditions is the "Lokayata". Maligned and discredited by the evangelicals of mystical Buddhism and Vedantic Hinduism, their world

view was sharply atheistic and scientific for their time. Unlike those who believed in reincarnation or an after-life, and in the indestructibility of the human soul-they refused to make artificial distinctions between body and mind. They saw the human mind as part and parcel of the human body-not as some separate entity that could have an independent existence from the human body. They acknowledged nothing but the material human body and the material universe around it. They rejected sacrificial gifts and offerings for the after-life as was common amongst followers of Brahmanical Hinduism during the time of Medhatithi in A.D 900 (a commentator on the writings of Manu who acknowledges that the Lokayatas were atheists or non-believers.)

For instance, they ridiculed the Brahmanical rituals of animal sacrifice:

"If a beast slain in the Jyotistoma rite itself goes to heaven, Why then does not the sacrificer also offer his father?"

"If beings in heaven are gratified by our offerings made here, Then why not give the food down below to those who stand on the housetop?"

"If offerings produce gratification to beings who are dead, why make provisions for travellers when they start on a journey?"

"If he who departs from the body goes to another world, How is it that he comes not back again, restless for love of his kindred?"

The Lokayatas dismissed the Vedic priests and their Vedic mantras as nothing but a means of livelihood for those lacking in genuine physical or

mental abilities. Instead, they gave primacy to human sense-perception, and through the application of the inferential process-they developed their theories of how the world worked.

One of the most notable aspects of the Lokayata belief system was their intuitive understanding of dialectics in nature. Many argued the mind-body separation as follows: Since the body is made up of things lacking consciousness-but the mind is a conscious entity-mind and body must necessarily be different-and consciousness must imply the existence of something else akin to the "soul". The Lokayatas countered this by citing the example of fermentation-how an intoxicating drink could be produced from something that was not itself an intoxicant.

In essence they had discovered the principle that the whole was greater than the sum of it's parts. That physical and chemical processes could lead to dramatic changes in the properties of the substances combined. They were able to understand how special transformations could produce new qualities that were not evident in the constituent elements of the newly-created entity.

As keen observers of nature, they were probably amongst the first to understand the nature of different plants and herbs and their utility to human well-being. As such, it is likely that Indian medicine gradually evolved from the early scientific knowledge and understanding of the Lokayatas. Since the Lokayatas believed that consciousness

emerged from the living human body, and ended with it's death-it is more than likely that the widely prevalent Indian custom of cremating the dead also originated amongst them.

This is not to say that the Lokayatas' understanding of the world was as elaborate and precise as that provided by today's science. By the standards of the 20th century, some of their formulations could be considered primitive and inadequate. That is only to be expected. Knowledge of science has expanded considerably since their times. But what is more important is that their world view was driven by a rational and scientific approach.

For instance, some later philosophical schools countered the Lokayata arguments concerning mind-body unity by bringing up the evidence of memory. Nyaya-Vaisesika philosophers like Jayanta and Udayana pointed out that the process of daily eating meant that the human body was constantly changing. The process of ageing also pointed to how the human body was ever-changing. Yet, an old person could remember in detail an incident from childhood. In other words-they tried to argue that memory was evidence of a human soul that existed beyond the mere physical body. Yet, we know today that memory is but a combination of proteins that can survive the length of human existence. There is both continuity and change in nature. The Lokayata world view howsoever sketchy and incomplete was not in contradiction with modern

science. If some of their characterizations required later revisions or refinement, or even corrections, it didn't take away from their fundamentally scientific approach. Their inadequacies were a consequence of incomplete knowledge and the understandable inability to see all the complexities of nature that we are now able (through advanced scientific instruments and centuries of accumulated knowledge). Their errors did not, however, stem from stubborn faith or deliberate rejection of reality and real-world phenomenon.

In practice, (according to some historians) India's ancient Tantric followers may have also had a largely rational world view, which sprang from a practical mindset and was impaired only by the limited amount of scientific knowledge available to humanity at that time. Critics of the tantrics dismissed them as sexually obsessed hedonists. But they failed to acknowledge that the early tantrics had an intuitive scientific streak and their understanding of sexual reproduction is probably what may have also impelled them to develop basic agricultural tools and other implements. In that sense, they were India's early technologists.

The Age of Science and Reason

But even amongst those Indian philosophers who accepted the separation of mind and body and argued for the existence of the soul, there was considerable dedication to the scientific method and to developing the principles of

deductive and inductive logic. From 1000 B.C to the 4th C A.D (also described as India's rationalistic period) treatises in astronomy, mathematics, logic, medicine and linguistics were produced. The philosophers of the Sankhya school, the Nyaya-Vaisesika schools and early Jain and Buddhist scholars made substantial contributions to the growth of science and learning. Advances in the applied sciences like metallurgy, textile production and dyeing were also made.

In particular, the rational period produced some of the most fascinating series of debates on what constitutes the "scientific method": How does one separate our sensory perceptions from dreams and hallucinations? When does an observation of reality become accepted as fact, and as scientific truth? How should the principles of inductive and deductive logic be developed and applied? How does one evaluate a hypothesis for its scientific merit? What is a valid inference? What constitutes a scientific proof?

These and other questions were attacked with an unexpected intellectual vigour. As keen observers of nature and the human body, India's early scientist/philosophers studied human sensory organs, analyzed dreams, memory and consciousness. The best of them understood dialectics in nature- they understood change, both in quantitative and qualitative terms- they even posited a proto-type of the modern atomic theory. It was this rational foundation that led to the flowering of Indian civilization.

This is borne out by the testaments of important Greek scientists and philosophers of that period. Pythagoras-the Greek mathematician and philosopher who lived in the 6th C B.C was familiar with the Upanishads and learnt his basic geometry from the Sulva Sutras. (The famous Pythagoras theorem is actually a restatement of a result already known and recorded by earlier Indian mathematicians). Later, Herodotus (father of Greek history) was to write that the Indians were the greatest nation of the age. Megasthenes-who travelled extensively through India in the 4th C. B.C also left extensive accounts that paint India in highly favorable light (for that period).

Intellectual contacts between ancient Greece and India were not insignificant. Scientific exchanges between Greece and India were mutually beneficial and helped in the development of the sciences in both nations. By the 6th C. A.D, with the help of ancient Greek and Indian texts, and through their own ingenuity, Indian astronomers made significant discoveries about planetary motion. An Indian astronomer-Aryabhata, was to become the first to describe the earth as a sphere that rotated on its own axis. He further postulated that it was the earth that rotated around the sun and correctly described how solar and lunar eclipses occurred. Because astronomy required extremely complicated mathematical equations, ancient Indians also made significant advances in mathematics. Differential equations-the basis of modern calculus were in all likelihood

an Indian invention (something essential in modeling planetary motions). Indian mathematicians were also the first to invent the concept of abstract infinite numbers-numbers that can only be represented through abstract mathematical formulations such as infinite series-geometric or arithmetic.

They also seemed to be familiar with polynomial equations (again essential in advanced astronomy) and were the inventors of the modern numeral system (referred to as the Arabic numeral system in Europe).

The use of the decimal system and the concept of zero was essential in facilitating large astronomical calculation and allowed such 7th C mathematicians as Brahmagupta to estimate the earth's circumference at about 23,000 miles-(not too far off from the current calculation). It also enabled Indian astronomers to provide fairly accurate longitudes of important places in India.

The science of Ayurveda-(the ancient Indian system of healing) blossomed in this period. Medical practitioners took up the dissection of corpses, practised surgery, developed popular nutritional guides, and wrote out codes for medical procedures and patient care and diagnosis. Chemical processes associated with the dying of textiles and extraction of metals were studied and documented. The use of mordants (in dyeing) and catalysts (in metal-extraction/purification) was discovered.

The scientific ethos also had its impact on the arts and

literature. Painting and sculpture flourished even as there were advances in social infrastructure. Universities were set up with dormitories and meeting halls. In addition, according to the Chinese traveller, Hieun Tsang, roads were built with well-marked signposts. Shade trees were planted. Inns and hospitals dotted national highways so as to facilitate travel and trade.

India's rational age was thus a period of tremendous intellectual ferment and vitality. It was a period of scientific discovery and technological innovation. Accompanied by challenges to caste discrimination and rigidity and religious obscurantism-it was also a period of great social upheaval that eventually led to society becoming more democratic, allowing greater social interaction between members of different castes and expanding opportunities for social mobility amongst the population. Social ethics drew considerable attention in this period. Rules of engagement during war were constructed so as to eliminate non-military casualties and destruction of pasture-land, crop-land or orchards. The notion of chivalry in war was popularized-it meant not attacking fleeing or injured soldiers. It also required warring armies to provide safe passage to women, children, the elderly and other non-combatants.

The rational period thus saw progress on several fronts. Not only did it create an enduring foundation for India's civilization to develop and mature -it has also had its

impact on the growth of other civilizations. In fact, India's rational period served as a vital link in the long and varied chain of human progress. Although colonial history has attempted to usurp this collective heritage of the planet and make it exclusively euro-centric, it is important to note that fundamental and important discoveries in science and innovations in technology have come from many different parts of the globe, albeit at different times and stages of world civilization. India made significant contributions in this regard. If India is to fully recover from the depredations of colonial rule, it is imperative that we don't forget the achievements of this inspiring epoch.

References

- B. Dash: *Fundamentals of Ayurvedic Medicine*, Delhi : Bansal, 1978
- B. S. Jee: *A Short History of Aryan Medical Science*, New York : AMS Press, 1927.
- B. Simhaji, Maharaja of Gondal, Sir: *A Short History of Aryan Medical Science*, London, New York, Macmillan and co., Ltd., 1901.
- B.M. Johri: *History and Progress of Botany in India: Ancient Period*, Oxford University Press, 1994-95
- Baber, Zaheer: *The Science of Empire: Scientific Knowledge, Civilization, and Colonial Rule in India*, State University of New York Press, 1996.
- Bachrach, Bernard S.: *Merovingian Military Organization, 481-751*. Minneapolis, 1972.
- Bailey, F. G. : *Caste and the Economic Frontier: A Village in Highland Orissa*, Manchester, University of Manchester, 1957.
- Baldev Sahai: *Indian Shipping - Historical Survey*, Publication Division, New Delhi, 1996.

Land Tenure in Ancient India

Renu Kumari

Research Scholar, VKS University, Arrah

Ancient record show that land has been under cultivation in India for more than 5,000 years. In the beginning, tribes exercised control (especially delimitation and defence) over the areas they had taken possession of. This right of the conqueror was the initial form of land right. The tribes allotted to the individual families land for their utilization, usually by means of shifting cultivation.

The jungle which covered unlimited land, although economically useless, led to another form of land right, namely, the right of the first clearer. Whoever cleared a plot in the jungle also had the right to use this land. However, this individual right of utilization was only valid as long as the land was actually cultivated. As soon as it was abandoned, the power of disposition over it reverted to the tribe. The strenuous work of clearing, the necessity of mutual help, small scale defence measures, and the expansion of the families led, in the course of time, to the formation of villages which assumed the regulation of land rights. Two different forms developed in time.

The village which had individual land rights consisted of a group of families which had rights to the land on the basis of having cleared it. The claims of the families were limited to the cleared land. The uncultivated land in the vicinity of the village was jointly utilized, but no claims were made to it. It belonged to the ruler who, in later epochs, also granted permission to cultivate the land.

In the case of villages which held land rights jointly, the village community claimed the right to all land within the village boundaries and allotted it to individual families for utilization. The administration was not carried out by a village headman, but by the panchayat, a village

council in which the individual families had their say.

Thus, at an early period already, there were individual and joint land rights. But landed property, as known in the West, did not exist at all. The rights were a privilege granting inheritable utilization rights and included social obligations, especially taking consideration of the village community's interests.

Because of the need for defence, authority concentrated in the course of time, and thus, a state was formed with one ruler at its head. Costs of governing were covered, at first, with gifts. Soon, however, it became obligatory to deliver a share of the grain yield-in other words-, a tax was introduced. The king was thus only given a right to a share of the yield, but to rights to the land and its utilization. However, he was entitled to all the uncultivated land that lay between the villages.

It was necessary to establish an official hierarchy to collect the taxes. The tax collectors were remunerated by being given a share of the collected taxes and a plot of crown land. This "watan" land was free of tax, inheritable, and transferrable, and represented a new form of land rights, namely, land rights on account of the government allotting land to government officials.

In the course of time, the tasks of the central government increased. In this huge country where transport conditions were difficult, possibilities of simplifying administration played an important role. Therefore, the ruler allotted the tax revenue from specific areas to people who had to maintain troops in the provinces, make roads passable, and keep the passes open. At first, the transfer of the right to these taxes was valid only for the time during which these tasks were carried out. Even priests and favourites were provided for in that way, at first for life, later on, all these sessions became inheritable. This right to the land on the basis of the transfer of the right to taxes included taxes only, but not ownership of the land as in the case of 'watan' lands.

In pre-Islamic times already, there had been a diversification in the land rights. In addition to the land claims of the village community and the

farmers based on the right of the conqueror and the first clearer, the ruler's claims to a share of the yield and the uncultivated land between the villages were generally recognized. In addition, the right to collect taxes for certain regions was transferred to specific people and land rights to officials. These were only allotted crown land. The traditional rights of the cultivators remained unaltered. The Moguls who conquered India in the 12th century left the land to the cultivators at first in exchange for the usual taxes. Often, former small rulers were employed as tax collectors and were given 10% of the collected amount as remuneration for their trouble. They were even allowed to keep the land they had held before and were exempted from paying taxes. They were strictly controlled to prevent them from collecting more taxes than was lawful.

Emperor Akbar (1556-1605) implemented radical reforms. He replaced the payment of taxes in kind by a monetary tax which was no longer fixed as a share of the actual but rather of the average yield. Thus, it was not calculated according to the yield, but according to the area sown, and the cropping risk was shifted to the cultivators. In addition, the taxes were increased to amount to half of the average yield. Although this resulted in evil times for the rural population, the Moguls did not make any claims to the land itself after their conquest. Tax administration was high level; a land register was introduced; and taxes were

levied according to criteria such as quality of the soil, and so on.

After Aurangzeb's death in 1707, the power of the central government decreased rapidly, and the control over the tax revenues was lost. In order to obtain revenues at all, tax collectors' posts were leased to the highest bidders in exchange for fixed sums. On the basis of their knowledge of the local conditions, the tax collectors were free to extort as much as possible from the rural population and keep for themselves the difference between the collected taxes and the amount to be remitted. These "assignees" were the first intermediary step in the direct tax relations between the government and cultivators.

The transfer of tax collection rights, known already in pre-Mogul times, for specific regions as remuneration for services rendered became so common that, under Aurangzeb's reign, 90% of all tax revenues fell to such privileged parties, and only 10% to the ruler. These grants of land with the right to collect taxes from it were also conferred on favourites. The conferment of such "jagir" transferred all the rights the government held, *i.e.*, taxes, claims to uncultivated land, police power, etc., but no claims to the cultivators' land. Whenever tax collectors became landlords in the course of time, this was due to their reclaiming waste land or their confiscating the land of people who owed taxes.

Towards the end of the Mogul era, a type of "right" to

land developed which was in the hands of sometimes parasitical rent collectors who did not perform any work. But this refers to the government's tax rights, not to a direct claim to landed property, or land utilization, on peasants' land. Their old saying 'Taxes are the king's wealth, the land belongs to me' was still valid.

Changes in Land Tenure under British Rule

India's invasion by the British brought about, in the course of time, a complete transformation in the country's land tenure system. The East India Company experienced difficulty in its trading because the sale of British goods in India was insignificant. On the other hand, the exportation of gold and silver from England to pay for Indian goods was soon prohibited. The company found a solution by securing money from India to pay for Indian goods.

It collected taxes for the Indian rulers which, in the beginning, brought revenues of only 10% of the levied taxes, but, since the control over the amount of levied taxes became lax at the end of the Mogul period, its revenues increased. In addition, they were assigned areas as "jagir:" The decisive breakthrough came when, in 1765, the office of 'dewan' for Bengal, Orissa, and Bihar, namely the financial sovereignty for these areas, was assigned to the Company with the concession for levying taxes in exchange for a global sum of Rs.2.6 million per annum.

After some time of experimentation, in 1793, Cornwallis' Permanent Settlement brought a final regulation of the procedure for levying taxes, which led to decisive changes in land tenure. The British did as if all the land belonged to the state and was thus at their disposal. They registered the local tax collectors, who were called zamindars, as owners of the land in their district.

These zamindars had to collect and deliver the taxes; the amount was fixed at the beginning and remained the same permanently. To give them an incentive, they were free to decide how much to demand from the cultivators. On the other hand, the fixed lump tax sum was an incentive to put more land under cultivation and, thus, have more tax-payers in one region. In order to do so, one could not bleed the individual farmers too much.

The right to the land conferred on the zamindars was alienable, rentable, and heritable. This meant the introduction of a complete novelty, in India. The privilege of utilizing land had become a saleable good. Those who had been cultivators until then obtained the status of 'occupancy tenants.' These occupancy rights were heritable and transferrable and were not tampered with as long as the holders paid their taxes. In contrast to these, the tenants who cultivated land owned by the tax collectors were "tenants

at will', *i.e.*, they could be evicted.

In the beginning, there were hardly any problems. The scarcity of cultivators prevented the zamindars from demanding too high taxes. They were interested in attracting people to cultivate the land and, thus, to increase the number of tax payers in order to increase the difference between the revenues and the fixed amount that had to be remitted.

The detrimental consequences of recognizing the tax collectors as landlords and of introducing the legal institution of saleable private landed property first became evident as, later, considerable changes occurred in India in the demographic and economic situation. The industrial revolution in England, namely, brought about a change in the British policy in India. The objective was no longer to import from India, but to sell English products in India. Since the textile industry played an important role at the beginning of industrialization in England, very large amounts of cheap products manufactured by mechanical looms were exported to India and this soon led to a collapse in the textile home industry in India. A large number of weavers became unemployed.

In order to secure a basis of existence, they migrated to the rural areas and tried to lease land they could farm. The scope of this migration-Dacca's inhabitants alone decreased from 150,000 to 20,000 between 1824 and 1837-caused pressure

on the rural areas and brought about a complete change in the relationships between zamindars and tenants. The monopoly of controlling the means to secure livelihood shifted power unilaterally into the hands of the zamindars who were able to extort more and more taxes as the demand for land increased. This led to indebtedness and often to the loss of occupancy rights and relegation to tenants at will.

References

- Gombrich, R. : *Theravâda Buddhism: A Social History from Ancient Benares to Modern Colombo*, London and New York, 1988
- Goyal, Shankar : *Aspects of Ancient Indian History and Historiography*, New Delhi, Harnam, 1993.
- Gregory L. Possehl: *Ancient Cities of the Indus*, Manohar, Delhi, 1979.
- Guha, Ranajit : *Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India*, Delhi: Oxford University Press, 1983.
- Gupta, S. P.: *The Indus-Saraswati Civilization: Origins, Problems and Issues*, Delhi: Pratibha Prakashan, 1996.
- Hedge, K.T.M. : *Technical Studies in Chalcolithic Period Metallurgy in India*, M.S. University, 1965.
- Hinderey, R. : *Comparative Ethics in Hindu and Buddhist Traditions*, Delhi: Motilal Banarsidass, 1978.
- Jaggi, O.P. : *Technology in Ancient India*, Delhi, 1981.
- Jim G. Shaffer: *One Hump or Two: The Impact of the Camel on Harappan Society*, Rome: IsMEO, 1988.
- Joshi, S.D. : *Trade and Technology of the Indus Valley: New insights from Harappan, Pakistan*, World Archaeology, 1997.
- Kenoyer, J. M.: *Ancient Cities of the Indus Valley Civilization*, Karachi, Oxford University Press, 1998.
- Kessinger, Tom G. : *Vilayatpur 1848-1968: Social and Economic Change in a North Indian Village*, Berkeley: UCP, 1973.

Rise of Urban Economy, Trade and Commerce in Medieval India

Mrs. Sharda Kumari

BRA Bihar University, Muzaffarpur

The available evidence suggest that the urban economy on the eve of the Ghori conquest was on a low ebb. The towns were fewer in number and smaller in size in the centuries preceding the establishment of the Delhi Sultanate. D.D.Kosambi shows that even the capital was a camp city on the move. The higher ruling class wandered from place to place along with the army while the lower ruling class was almost completely ruralized. This view of urban decline has been supported by R.S. Sharma who has convincingly reasserted his theory of urban decay with the help of enormous archaeological data painstakingly collected.

This theory of decay of towns is further corroborated by the evidence of sluggish trade: The near complete disappearance of gold and silver currencies and the almost total absence of foreign coins in the Indian coin-hoards of the period are indicators that the foreign trade was at a very low scale. Moreover, the fact that not even the coins of various regional dynasties are found in the coin-hoards of other regions, suggests that inland commerce was not widespread. All this scenario changed almost immediately with the establishment of the Delhi Sultanate. The archaeological and numismatic evidence corroborate the literary evidence of growth of towns and increase in commerce.

Growth of Towns

Before discussing the evidence of increase in number and size of towns, we must first understand what we mean by town. There are two simple definitions of a town : (a) the usual modern definition of a settlement of 500 or above,

and (b) a settlement where an overwhelming majority of population (say above 70%) is engaged in occupations other than agriculture.

Economy of Delhi Sultanate

While the archaeological evidence available for earlier period is not forthcoming from the 13th-14th centuries owing to the much less attention paid to medieval archaeology, the literary evidences testify growth of urban centres. Lahore was a big town but decayed after the Mongol invasion in the 13th century. However, in the 14th century it flourished again. While not even a guesstimate of the population of any town is available in our sources there are reliable indications to assume that at least some of these were cities big enough by contemporary standards. Ibn Battuta, who visited Delhi in 1330, describes it as of enormous extent and population, the largest city in the Islamic East in spite of the fact that Mohammad Tughluq had shifted much of its population to Daulatabad. He describes the latter too, as large enough to rival Delhi in size. Some new towns were established during the period, such as Jhain (Chhain) in Eastern Rajasthan that was named 'Shahr Nau' during Alauddin Khalji's reign (1296-1316).

Factors for Urban Expansion

Five strength of the invader, of course, lay in combination and not in dispersal in an unfamiliar land and, thus, in initial stages, it was but natural for the members of the ruling class to prefer to stay at their iqta headquarters along with their cavalry. These iqta headquarters having the concentration of cavalry, its hangers-on and the retinue and household of the ruler thus emerged in the early phase as camp cities.

Most of the 13th century towns are in fact defined as iqta headquarters in our sources; for example, Hansi, Kara, Anhilwara, etc. These towns were to be fed and provided for. In the beginning, the troops had to go for realising khar & j/mal by plundering the surrounding villages; but gradually by the 14th century, as pointed out by Moreland, cash nexus developed. The revenue was realised in cash from the peasants who were thus forced to sell their produce at the side of the field. The merchants catered to the needs of towns

giving risk to what we will discuss below as-induced trade'.

The ruling class coming from a different cultural milieu had needs of leisure and comforts of a different type; they wanted songs in Persian and dances of a different style, books, silk to wear and arcuate light architecture (not the stone edifices). Out of the resources that were indeed enormous by contemporary standards at its command, the new rulers naturally. Wanted to get luxuries and comforts of their taste which encouraged immigration from Islamic culture area. These immigrants were not only soldiers, but craftsman, artisans, singers, musicians, dancers, poets, physicians, astrologers and servicemen as described by Isami.

Urban Manufactures

It seems that the urban craft production received a twofold impetus with the establishment of the Delhi sultanate. First, the Sultanate ruling class remained town-centred and spent the enormous resources it appropriated in the form of land revenue mainly in towns, either on buying services or procuring manufacturers. Even the money spent on the service sector partly went to help the urban craft sector through multiplier effect. While the nobility created demand for high-priced skill-intensive luxury items, its hangers-on in all likelihood created a mass market for ordinary artisanal product.

The second factor that contributed to urban manufacturers was the

introduction of a number of technological devices that reached India with the invaders. (You will learn, about them in detail in the next Unit). In the luxury sector, silk weaving expanded and carpet-weaving came from Persia. The other notable urban manufacture was paper making. Perhaps a major sector of urban employment was building industry. Barani says that Alauddin Khalji employed 7b,000 craftsmen for his buildings. One may well be justified in saying that there was considerably more masonry per acre of occupied space in the towns of 1400 than in those of 1200.

Organization of Production

It is indeed important to know how production was organized. Whether the town artisans carried out production under the 'domestic system', that is, they owned their tools, raw material and the end product and also sold their product themselves; in other words, whether they were self employed or while tools were their own and they worked at their homes, raw material was provided to them by the merchants, that is whether they worked under the 'putting-out system'. The contemporary sources shed little light on these aspects. One can, however, legitimately assume that since the tools of production even after the introduction of new devices were still simple and mainly of wood and little of iron should have remained cheap. The artisan wish thus master of his own tools, though varied forms of labour organization seem to be

prevalent. Certain artisans hawked or hired out their services such as cotton-card & who with a bow-string on his shoulder, went door to door selling his services as is evident from the account given in Khair-ul Majalis. Spinning was done usually by women staying at their homes.

The weavers too usually worked at their own looms at home weaving' cloth for sale, out of the yam bought or spun by the plosives. They also worked on wages to weave yarn supplied to them by customers.

But if the raw material was expensive such as silk or gold of silver thread, etc. and the products were luxury items, the craftsmen were to work in karkhanas under supervision. We have definite information about the Sultans and high nobles maintaining these karkhanas where the production was to cater to their own needs and contrary to D.D.Kosambi's assumption was not for market. Shahabuddin al Umari records in his Masalik-ul Absar that in Mohammad Tughluq's karkhanas at Delhi, four thousand silk workers worked as embroiderers. According to Afif, Feroz Tughluq's karkhanas produced cloth and carpets in a big way. While there is no suggestion in our sources, we may only conjecture that perhaps merchants also maintained karkhanas where production was for sale.

Trade And Commerce

We have seen that there emerged some considerably big flourishing towns as well as numerous townships during

the 13-14th centuries. These towns naturally needed to be fed and supplied raw material for craft production.

At the same time, there was growing practice of land revenue realization in cash. By the time of Alauddin Khalji, the cash-nexus came to be well developed and the ruling class tended to claim almost the entire peasant surplus by attempting to reduce the share of rural intermediaries, as we have seen in the previous Unit.

Both these factors were conducive to the development of inland trade. To pay the land revenue in cash, the peasantry was forced to sell its surplus produce while merchants had a market in newly emerged towns for agricultural products. This trade resulting from the compulsions of land revenue system is termed as 'induced trade'

Inland Trade

The inland trade developed at two levels : (a) the short distance village-town trade in commodities of bulk, and (b) long distance inter-town trade in high value goods. The village-town trade, as already explained, was a natural consequence of the emergence of towns of land revenue in cash. The urban centres were dependent for supply of food grains and raw material for manufactures from the surrounding villages whereas the villages had to sell the agricultural products to receive cash for meeting the land revenue demand. The peculiar nature of this trade was the one-way flow of commodities. While the towns received grains and raw material from the

villages in the vicinity they had no need to send their products in exchange to the villages which were by and large self-sufficient. This one-way trade was owing to the land revenue demand imposed upon villages which naturally led to a continuous drain on rural sector and made the towns dependent on villages.

The turnover of this trade was high in terms of volume but was low in terms of value. The commodities were food grains, that is wheat, rice, gram, sugar cane, etc.

The inter-town trade was mainly in luxury articles and was thus high value trade. The manufactures of one town were taken to another : for example Barani reports that Delhi, the capital itself, received distilled wines from Kol (Aligarh) and Meerut Muslin (fine cloth) from Devagiri and striped cloth from Lakhnauti (Bengal) while, according to Ibn Battuta, ordinary cloth came from Awadh and betel-leaf from Malwa (twenty-four days journey from Delhi). Candy sugar was supplied to Multan from Delhi and Lahori and ghi from Sirsa (in Haryana). The long distance inter-town trade also carried goods coming from other countries exit-points.

Foreign Trade : Seaborne and Overland

During the Sultanate period, overland and overseas trade were in a flourishing state.

Seaborne Trade

The Khalji annexation of Gujarat must have enlarged trade relations between the Delhi Sultanate and the Persian

Gulf and the Red Sea. Gujarat was connected with the Persian Gulf as well as the Red Sea.

Hormuz and Basra were the chief ports for the ships passing through the Persian Gulf, while the ports of Aden, Mocha and Jedda along the Red Sea were important for Gujarat.

Through these ports, commodities moved on to Damascus and Aleppo, on the one hand, and Alexandria on the other. Aleppo and Alexandria opened up to the Mediterranean Sea with linkages to Europe. Merchandise of Gujarat were also carried towards the East—the port of Malacca situated at the Malacca straits and Bantam and Achin in the Indonesian archipelago.

A European traveller Tome Pires, who came to India in the first decade of the 16th century, comments on the trade of Cambay as follows : "Cambay chiefly stretches out two arms : with her right arm she reaches out towards Aden, with the other towards Malacca...."

References

- Asher, Catherine B. and Cynthia Talbot : *India Before Europe*, Cambridge: Cambridge University Press, 2006.
- Ashok, Vasant: *Indian Economy in the World Setting*, Bombay, Himalaya, 1988.
- Ashraf, Kunwar Muhammad : *Life and Conditions of the People of Hindustan*, New Delhi: Gyan Publishing House, 2000.
- Bailey, F. G. : *Caste and the Economic Frontier: A Village in Highland Orissa*, Manchester, University of Manchester, 1957.
- Benería, Lourdes. *Gender, Development, and Globalization, Economics as if All People Mattered*, New York and London, Routledge, 2003.

Jagirdari System Crisis in Mughal Period

Dr. Narayan Das

Principal, JS College, Chandauli, Sitamarhi

The Mughal Empire held sway over a large part of India for nearly three centuries, but a drastic decline in its power and prestige came about by the first half of the eighteenth century. Not only did the political boundaries of the Empire shrink, the decline also saw the collapse of the administrative structure so assiduously built by rulers like Akbar and Shah Jahan. In the wake of the collapse of the Mughal power a number of Independent principalities emerged in all parts of the Empire.

However, the processes of the decline and the emergence of regional polities have been intensely debated among historians. It has also been a subject on which scholarly opinion is more sharply divided than on any other aspect of Mughal history.

The historiographical perspective on the Mughal decline can be divided into two broad sections. First, the Mughal-centric approach, i.e., historians attempt to identify the causes of the decline within the structure and functioning of the Empire itself.

Secondly, the region-centric approach where the perspective goes out of the precincts of the Empire into the regions to look for the causes of turmoil or instability in different parts of the Empire.

Empire-Centric Approach

The Empire-centric approach for explaining Mughal decline has progressed through different stages. Initially, theories focused on the individual learned their policies. William Irvine and Jadunath Sarkar wrote the first detailed histories of this period (W. Irvine, *The Later Moghuls*, reprint, New Delhi, 1971; Jadunath Sarkar, *The*

Fall of Mughal Empire, I. Calcutta, 1938; *History of Aurangzeb*, I-V, Calcutta 1912, 1916, 1919 and 1924). They attributed the decline to a deterioration in the characters of the Emperor and their nobles. Sarkar had analysed the developments of this period in the context of law and order. According to Sarkar, Aurangzeb was a religious fanatic. He discriminated against sections of the nobles and officials on the basis of religion. This led to widespread resentment among the nobility. He argued that Aurangzeb's successors and their nobles were mere shadows of their predecessors and were thus unable to set right the evils of Aurangzeb's legacy.

Jagirdari Crisis

In 1959 the publication of Satish Chandra's *Parties and Politics at the Mughal Court, 1707-40* (Delhi, 1982, 3rd edition) marked the first serious attempt to study the structure of the Mughal Empire. Both its functioning and its plans were examined to understand the nature of the Empire and the reasons for its subsequent decline. Satish Chandra studied the working of certain key institutions of the Empire. The two institutions he scrutinised were mansabdari and the jagirdari.

The nobles in the Mughal Empire were the core state officials. They were given ranks corresponding to their status in the Mughal official hierarchy. These ranks were called Mansab. Each holder of a Mansab, called mansabdar, was paid in assignments of land revenue (Jagir). Among the various obligations, the mansabdar had to maintain a requisite contingent of troopers. These troopers were paid and maintained out of the revenue of the Jagir. They formed the base of the mansabdar's power, and assisted him in the collection of land revenue. Availability of the revenues to be assigned and the ability of the Mughals to collect them thus became two crucial pre-requisites for an effective working of the system. According to Chandra, Mughal decline has to be seen in the Mughal failure, towards the end of Aurangzeb's reign, to maintain the system of the mansabdar-jagirdar. As this system went into disarray, the Empire was bound to collapse.

Athar Ali's work on nobility and their politics in the late seventeenth century appeared in 1966 (M. Athar Ali, *The Mughal Nobility under Aurangzeb*, Bombay, 1966 reprint, 1970). In this

work the problems attending the annexation of the Deccan states, the absorption of the Marathas and Deccanis into the Mughal nobility, and the subsequent shortage of Jagir have been emphasized. The sudden increase in the number of nobles, caused due to the expansion of the Empire into the Deccan and Maratha territory, created a crisis in the functioning of the Jagir system. According to Athar Ali, the nobles competed for better jagh, which were increasingly becoming rare due to the influx of nobles from the south. The logical consequence was the erosion in the political structure which was based on jagirdari to a large extent.

In an important paper published in 1969, S. Nurul Hassan puts forward the argument that the agrarian nations as they developed during the Mughal rule gave rise to an authority structure which worked like a pyramid. In this form the rights of various kinds came to be superimposed upon each other. As a result bulk at the revenue demand of the state was transferred on to the cultivators. In the eighteenth century, with the decline of the Mughal authority, and with pressure on Jagirs agricultural economy began to face a crisis.

The zemindars as a class, were quite loyal to the state. But in the kind of agrarian situation that obtained in the Mughal empire, conflict between them and the state as also among themselves could not be checked. This often resulted in law and order problems and decimated the authority of the state. After the death of

Aurangzeb and weakening of the imperial authority this equilibrium got disturbed. The zemindars in this situation could be contained only by a group which would be independent of the support of the zemindars. Since such a class had not emerged by this time, the pattern of agrarian relations could not be changed. The cripple of the system became inevitable.

Agrarian Crisis

After the pioneering work of Satish Chandra, historians continued to address themselves to various aspects of the functioning of the Empire in order to identify the reason for its political collapse.

The focus had evidently shifted from personalities and policies of individual rulers to larger and broader developments that were weakening the very structure on which the Mughal edifice had been built. Irfan Habib attempted an in-depth analysis of the collapse of the Empire in his seminal work. (The Agrarian System of Mughal India, New Delhi 1963.) According to Habib, the mechanism of collection of revenue that the Mughals had evolved was inherently flawed. The imperial policy was to set the revenue at the highest rate possible to secure the greatest military strength for the Empire, the nobles.

On the other hand, tended to squeeze the maximum from their Jagirs, even if it ruined the peasantry and destroyed the revenue paying capacity of the area. Since, the nobles' Jagirs were liable to be transferred frequently, they did not find it

necessary to follow a far-sighted policy of agricultural development. As the burden on the peasantry increased, they were often deprived of their very means of survival. In reaction to this excessive exploitation of the peasantry, the latter had no option but to protest. The forms of rural protest in Medieval India were varied in nature.

In many areas the peasants took to flight. Entire villages were left deserted due to the large scale migration of peasants to the towns or other villages. Very often the peasants protested against the state by refusing to pay the revenue and were up in arms against the Mughals. Habib argued that these peasant protests weakened the political and social fabric of the Empire.

References

- Bhuleshkar, Vasant: *Indian Economy in the World Setting*, Bombay, Himalaya, 1988.
- Bowen, H. V.: *Business of Empire: The East India Company and Imperial Britain, 1756-1833*, Delhi, 2006.
- Breman, Jan : *Of Peasants, Migrants and Paupers: Rural Labour Circulation and Capitalist Production in West India*, Delhi: Oxford University Press, 1985.
- Campbell, J.Y., Lo, A.W.: *The Econometrics of Financial Markets*, Princeton University Press, 1996.
- Chandhok, H.L.: *The Economy: Annual Time Series Data*, New Delhi, Living Media India, 1990.
- Chandra, Satish : *Medieval India: from Sultanat to the Mughals*, New Delhi: Har-Anand Publications, 2000.
- Chaudhuri, Primit: *The Indian Economy: Poverty and Development*, New York, St. Martin's Press, 1979.
- Commons, J. R., *Institutional Economics-Its Place in Political Economy*, The University of Wisconsin Press, Madison, Wisconsin, 1934.

Role of Mahatma Gandhi in Freedom Struggle

Dr. Shailesh Kumar Dubey

BRA Bihar University, Muzaffarpur

One of the greatest men in the history of India is unarguably Mahatma Gandhi. The way he gave shape and character to India's freedom struggle is worthy of a standing ovation. He sacrificed his own life for the sake of his country. The respect that he earned for himself despite leading a simple lifestyle is much appreciable. Mahatma Gandhi played a pivotal role in the freedom struggle of India. His non violent ways and peaceful methods were the foundation for gaining independence from the British. Read about Mahatma Gandhi's role in freedom struggle of India.

Mahatma Gandhi was born Mohandas Karamchand Gandhi on 2nd October at Porbandar located in Gujarat. He went off to South Africa after marriage and worked as barrister there for twenty years. In South Africa, he had his first brush with apartheid. Once while he was travelling in a train, he was thrown out of the first class compartment despite having a ticket. This made him swear that he would do his best to erase apartheid from the face of his world. He went back to India only to find that his own country was being ruled by the British and his fellow citizens were being treated harshly by the British.

Like other great men in history, Gandhi took his time to grow and develop his techniques to ensure that his actions made an impact. His faith in different religions was commendable. He listened to the teachings of Christianity with the same belief and faith he read the Hindu scriptures with. He was brutally honest and truthful and this helped him throughout his life. Some of the major movements and freedom struggles led by him are discussed below.

Non Cooperation Movement

One of the first series of non violent protests nationwide was the non cooperation movement started by Mahatma Gandhi. This movement officially started the Gandhian era in India. In this freedom struggle, the non cooperation movement was basically aimed at making the Indians aware of the fact that the British government can be opposed and if done actively, it will keep a check on them.

Thus, educational institutions were boycotted, foreign goods were boycotted, and people let go off their nominated seats in government institutions. Though the movement failed, Indians awakened to the concept of going against the British.

Civil Disobedience Movement

Gandhi again took off with another non violent movement known as the civil disobedience movement. This movement was more active than the non cooperation movement and brought about a revolution of sorts. This movement aimed at bringing the British administration to a stop by withdrawing support from everything. There was agitation against land revenue, abolition of salt tax, cutting down military expenditure, levying duty on foreign cloth, etc. A very important movement was that of Salt Satyagraha where Gandhi undertook the Dandi march as a protest against the Salt tax.

Quit India Movement

The Quit India Movement was launched under the leadership of Mahatma Gandhi in August 1942. The main aim for launching this movement was to bring the British to negotiate with the Indian leaders. It was a call for immediate independence of India and the slogan of "Do or Die" was adopted for the same.

However the leaders were arrested soon after Gandhi's speech and were put in jail by British officials. Gandhi went on a fast for 21 days demanding the release of the leaders despite his failing health. The British had to secure the release of the leaders.

India Independence

After the Quit India Movement the freedom struggle got even more intense and passionate. Entire India was united together in the movement

for freedom. Everyone contributed what they could in the freedom struggle. The cry of Purna Swaraj or complete independence was raised. After much sacrifices and efforts, India gained its independence on the 15th August, 1947.

Gandhiji's Popular Appeal

Indian political and spiritual leader, called Mahatma ("Great Soul"). Gandhi helped India's struggle for independence from Britain through a campaign based on nonviolence and civil disobedience. His doctrine of nonviolent action had a profound influence on Martin Luther King Jr., the leader of the civil rights movement in the U.S, and Nelson Mandela, the most prominent figure of the black opposition to apartheid in South Africa. However, Gandhi never received the Nobel Peace Prize.

"Nonviolence and truth (*Satya*) are inseparable and presupposes one another. There is no god higher than truth."

Mohandas Karamchand Gandhi was born in Porbandar, Kathiawar, on the western coast of India. For several generations, the Gadhī's had been Prime Ministers in several Kathiawald States. Karamchand Gandhi, his father was the chief minister of Porbandar and a member of the Rajasthanik Court. He married four times. Putlibai, his last wife and Gandhi's mother, was a deeply religious Hindu. When Gandhi was sixteen, his father died-four years later he lost his mother. "The outstanding impression my mother has left on my memory is that of

saintliness," Gandhi later wrote in his book of memoir, *An Autobiography: The Story of My Experiments With Truth* (1927-29).

Gandhi was married at the age of 13, as was not unusual by the custom. His bride, Kasturba, also was 13. She was the only daughter of rich merchants. Kastur Kapadian and Gandhi had four sons; their first child was born in 1885, but died after a few days. Kasturbai could not read or write and Gandhi's attempts to teach her were fruitless. Although she often had to submit to her husband's decisions, she also had a will of her own. The marriage endured until her death in 1944.

In 1888 Gandhi went to London to study law, leaving his wife for three years. In the new surrounding he began experiments with diet that continued throughout his lifetime. After he was called to the bar at Inner Temple, he returned home to practice as a barrister in Bombay. Unable to find a suitable post, Gandhi moved to South Africa in 1893. During his journey to Pretoria he had a firsthand experience with racist degradation, a most crucial experience in his formative years. Gandhi worked for Dada Abdullah & Co and the Indian community. Kasturba had again waited with the children in India, but in 1897 she joined her husband in Durban. Gandhi gained fame as a tenacious political campaigner, who courageously opposed the Transvaal government's discriminatory legislation against Indian settlers. His ideological basis was much derived from the

liberal-humanist values he had absorbed in England, exemplified in the works of Ruskin, Thoreau, and Emerson.

Gandhi remained in South Africa for 20 years and developed a system of nonviolent defiance. For his services during the Boer War (1899-1902) Gandhi was awarded the War Medal. After the birth of their fourth son, Gandhi suggested to his wife that they sleep in separate beds. Gandhi's one-sided decision and sexual abstinence caused Kasturba for a long time much stress. In search for spiritual development Gandhi studied the *Bible*, the *Koran*, and memorized the *Bhagavad Gita*. Also Leo Tolstoy influenced him deeply. Gandhi saw that his methods were in harmony with Hindu doctrines of *ahimsa* and that "the strongest physical force bends before moral force when it is used in the defence of truth." In his middle thirties, Gandhi took the vow of *bramahcharya*, which means not only complete chastity but the elimination of sexual desire. To test his self-control Gandhi slept naked with young women.

In 1914 Gandhi returned permanently to India. His most prominent adversary, Gen. Jan Smuts, wrote to a friend relieved: "The saint has left our shores, I hope, forever." Gandhi became a highly influential figure in the National Congress, transforming it into an instrument of change. Following the massacre at Amritsar in 1919, in which British soldiers killed hundreds of Indians, Gandhi launched a policy of nonviolent non-cooperation to secure *swaraj* (independence) from Britain.

This process made Gandhi a gurulike figure. Resistance methods included strikes, refusal to pay taxes, abandonment of western for Indian dress, and refusal to respect colonial law. "One step enough for me," Gandhi often said without planning his actions far ahead.

Gandhi himself adopted a simple, ascetic way of life, dressing only in a loincloth of handwoven cloth and sandals. He was jailed several times and went on hunger strikes to focus attention on his cause. When communal riots started on India's northwest frontier in 1924, Gandhi undertook a 21-day purificatory fast. After he had walked some 200 miles on foot to the sea to collect salt illegally, the Viceroy started to relieve the punitive salt taxes and the government monopoly.

In 1936 Gandhi moved his headquarters from Sabarmati to Sevagram, a village near Wardha, which became a centre to test his ideas. His eldest son Harilal turned into Islam in 1936 and changed his name to Abdullah Gandhi. During World War II Gandhi's struggle for India's independence and *satyagraha* (defence of and by truth) became a threat to the war effort of the Allies. Gandhi argued that India should remain passive and neutral in the world conflict. On May 10, 1942, Gandhi wrote in his newspaper: "The presence of the British in India is an invitation to Japan to invade India. Their withdrawal would remove the bait. Assume however that it does not, Free India would be better able to cope with invasion.

Unadulterated non-cooperation would then have full sway." Gandhi was arrested with Nehru and other Congress leaders, and interned in Aga Khan's Palace at Poona. At the age of 73, Gandhi began another fast. Winston Churchill, Britain's prime minister, who had earlier called Gandhi a "seditious fakir", suspected that Gandhi was fed glucose whenever he drank water: "... and this, as well as his intense vitality and lifelong austerity, enabled this frail being to maintain his prolonged abstention from any visible form of food.

References

- Ahir, D.C.: *Gandhi and Ambedkar: A Comparative Study*, Blumoon, New Delhi, 1995.
- Ahmad, Razi: *Indian Peasant Movement and Mahatma Gandhi*, Shabd Prakashan, Delhi, 1987.
- Ajay Shanker : *Gandhian Satyagraha : An Analytical and Critical Approach*, New Delhi, 2000.
- Andrews, C. F.: *The Gandhian Thought: Social & Political Development*, Akashdeep Pub. House, Delhi, 1990.
- Anthony, J. Parel : *Hind Swaraj or Indian Home Rule*, Cambridge University Press, 1925.
- Arnold, David: *Gandhi, Harlow*, Longman, New York, 2001.
- Asha Rani: *Gandhian Non-Violence and India's Freedom Struggle*, Shree Pub. House, Delhi, 1981.
- Prasad, Bimla: *Gandhi, Nehru & J.P.: Studies in Leadership*, Chankya Publications, Delhi, 1985.
- Prasad, Lal Bahadur : *Indian Political System and Law*, New Delhi, Shree, 2005.
- Pruthi, R.K. : *Indian Political Thought*, New Delhi, Mohit Pub., 2007.
- Radhakrishnan, N. : *Gandhi : The Quest for Tolerance and Survival*, New Delhi, Gandhi Media Centre, 1995.
- Ram Binod : *Gandhian Approach to Development Planning*, New Delhi, Concept, 2006.
- Ramachandran, G.: *Quest for Gandhi*, Gandhi Peace Foundation, New Delhi, 1970.
- Ramakrishnan, Padma: *Gandhi and Indian Independence*, Blaze Publishers & Distributors, New Delhi, 1994.
- Ramakrishnan, S. : *Mahatma Gandhi Eternal Pilgrim of Peace and Love*, Mumbai, Bharatiya Vidya Bhavan, 2001.
- Rao, M. B.: *The Mahatma; A Marxist Symposium*, People's Pub. House, Bombay, 1969.
- Ray, Baren : *Gandhi's Campaign Against Untouchability, 1933-34 : An Account from the Raj's Secret Official Reports*, New Delhi, Gandhi Peace Foundation, 1996.
- Ray, Sibnarayan : *Gandhi, Gandhism and Our Times : An International Symposium*, Kolkata, Renaissance, 2003.
- Roy, Ramashray : *Gandhi and Ambedkar : A Study in Contrast*, Delhi, Shipra Pub., 2006.
- Ruhela, S.P. : *Gandhian Ideas on Education – Their Relevance in the 21 Century*, Delhi, Indian Publishers, 2002.
- Saksena, Baburam: *Gandhiji's Solution of the Language Problem of India*, Mahatma Gandhi Memorial Research Centre, Hindustani Prachar Sabha, Bombay, 1972.
- Sanghavi, Nagindas : *The Agony of Arrival : Gandhi : The South Africa Years*, New Delhi, Rupa & Co., 2006.
- Sankhdher, M. M.: *Gandhi, Gandhism and the Partition of India*, Deep & Deep Publications, New Delhi, 1982.
- Sarma, P.V. : *Gandhian Philosophy and Human Development*, New Delhi, Kanishka Pub., 2008.
- Satpal Kaur: *Mahatma Gandhi, a Psycho Dynamic Critique*, Commonwealth Publishers, New Delhi, 1988.
- Seshachari, C.: *Gandhi and the American Scene: an Intellectual History and Inquiry*, Nachiketa Publications, Bombay, 1969.
- Shankar Dayal: *Gandhi's First Step: Champaran Movement*, B.R. Pub. Corp., Delhi, 1994.
- Sharma, A.K. : *Gandhian Perspectives on Population and Development*, New Delhi, Concept, 1996.

Press and Politics in British India

Mukul Kumar Sharma

Research Scholar, Dept. of History
JP University, Chapra

Press and Politics information media in print popularly known as press is generally credited with having unseen power to mould public opinion. There is no historical evidence that the press as such existed before the east India company rule in the subcontinent, except for the mention of 'waqiah-navis' who primarily acted as an official news recorder and secret informer of the Mughal rulers. Reports have it that one British settler (William Bolts) dared to venture to bring out a paper covering the internal contradictions of the company activities in or about 1768, but he was soon forced to leave India. In 1780, James Augustus Hicky brought out the *Bengal Gazette or Calcutta General Advertiser*, a two-sheet weekly, ostensibly for the British residents. The paper was soon confiscated for its critical reporting on Warren Hastings, his wife and the English judges. The editor of the *Bengal Journal*, William Duane, also suffered a forcible deportation for his 'licentiousness' in reporting. In 1799, Lord Wellesley introduced the press censorship in Bengal in the aftermath of developments leading to the deportation of Dr. Charles Maclean for his anti-establishment reporting in *Bengal Harkara* of which Dr. Maclean was the printer.

Ganga Kishore Bhattacharya, a teacher and reformist, started the first Bangla weekly *Bengal Gazette* in early 1818 assisted by Raja Rammohan Roy. Thereafter, in April 1818, the Baptist missionaries published the Bangla monthly *Digdarshan* from Serampore. *Samacher Darpan* was published on 23 May 1818, a week after the release of *Bengal Gazette*. James Silk Buckingham, a British citizen, in his *Calcutta Journal* introduced honesty and decency in contemporary English journalism in India. Raja Rammohan set up *Sambad Kaumudi* in Bangla, *Brahminical Magazine* in English and the *Mirat-ul-Akbar* in Persian and united with both

the Indian and European editors to force Lord William Bentinck to liberalise the existing press laws.

Governor general John Adam introduced in 1823 the system of obtaining a license for printing in pursuance of the Bengal Resolutions issued in the same year, but Sir Charles Metcalfe repealed the Regulations of 1823 and passed the Act of 1835 under which the editor, printer and publisher were to give only a declaration about the place of the publication. When in 1835 English replaced Persian as court language, the Jnananeshan protested and pleaded for use of Bangla instead. The weekly *Rangpur Bartabaha* in 1847 propagated progressive views and started writing against local officials. Lord Ellenborough therefore restrained the officials from disclosing any official secrets.

Wahabi rising, rise of Titu Mir, Faraizi movement, the Santal rebellion of 1850s and the 1857 Sepoy revolt were indicative of simmering discontent in India. The newspapers, instead of sympathizing with these, warned the government of the impending danger. But when the Sepoy Revolt broke out the newspapers, especially the Urdu press, were blamed for it. The Persian papers the *Durbin*, the *Sultan-ul-Akhbar* and the *Hindu Patriot* of Calcutta published the famous proclamation of the last Mughal emperor Bahadur Shah asking the nation to prepare for a revolution. The *Samachar Sudhabarshan*, a bilingual daily in Bangla and Hindi from Calcutta, printed news and views about the progress of revolt and the atrocities of the British army, which prompted Lord Canning to reintroduce in 1857 the restrictive provisions of the Bengal Resolutions of 1823 to regulate the press and to restrain the circulation of printed books and papers. The *Friend of India* and the *Dacca News*, renamed later as the *Bengal Times*, were warned and the *Rangpur Bartabaha* was closed. The law was however withdrawn in 1858.

Ishwar Chandra Vidyasagar launched in 1858 a Bangla weekly *Som Prakash*. In 1859 the first printing press under the signboard 'Banglajantra' was set up in Dhaka from where the *Dacca Prokash* was published in 1861. The same year *The John Bull in the East* (later renamed as *The Englishman*)

became the powerful spokesman of the Europeans and of the interest of planters in India. In 1865, *The Pioneer* at Allahabad earned repute for exclusive news. In 1868, the Ghosh brothers launched *Amrita Bazar Patrika* from a small village of Pulua-Magura in Jessore as a Bangla weekly (later shifted to Calcutta). In 1875, Robert Knight founded *The Statesman*. In 1879, surendranath banerjea purchased the ownership of *Bengali* to make it more popular. In 1881 Jogendra Nath Bose launched the widely circulated *Bangabashi*. The Bangla drama *Neel-Darpan* by Dinabandhu Mitra, published in 1872, depicted the tyranny of the European indigo planters. The government reacted sharply by enacting in 1876 the dramatic performance act to protect the interests of the planters. *The Amrita Bazar Patrika* (Jessore) including some other local press also took up the cause of the indigo cultivators.

The Indian National Congress (INC) was born in 1885. *The Statesman* and *Friend of India* and the *Amrita Bazar Patrika* lent their weight to the cause of the INC. The Anglo-Indian press, especially the *Pioneer*, discouraged the Muslims joining the Congress. S.N. Banerjee, the pillar of the Congress and the editor of the *Bengali*, solicited the cooperation of the Muslims of Bengal, but there was no response. Syed Ameer Ali of Bengal kept silent. Sir Syed Ahmad Khan, in Lucknow, warned that a representative government proposed by the

Congress would bode evil for the Muslims. The *Pioneer* published Sir Syed's Lucknow speech. The *Aligarh Institute Gazette* implored the Congress to drop its claim of representing the nation. The *Englishman* identified Sir Syed Ahmad Khan, Nawab Abdul Luteef and Syed Ameer Ali as the true leaders of the Muslims.

Meanwhile the Viceroy Lord Dufferin dubbed the Congress as a 'microscopic minority'. The *Bangabashi*, unhappy at the taunt, the *New India* and the *Amrita Bazar Patrika*, the two pro-Congress papers, exhorted the party to avoid the nuisance of persistent begging for reforms. Dufferin's comments drew more 'sympathy' and support for the Congress even from the Muslims in the absence of any other political platform. The government perceived this shift and Syed Ameer Ali was appointed a judge.

After the Allahabad congress of the INC, a sizable section of the press, mostly the vernacular ones, supported the Congress, while those opposed it could roughly be divided into four groups. Firstly, the ultra-nationalists headed by the popular *Bangabashi* thought that the English educated Congress leaders were working under an illusion about the true character of British rule in India. Secondly, the Muslim press also opposed the Congress but was itself divided into two mutually recriminating groups, one subscribing to the Aligarh School and the other not subscribing to Sir Syed's policy of giving a carte blanche to the British. Thirdly, the Anglo-

Indian press, mainly the *Pioneer*, was creating skepticism among Muslims about the intention of Hindus.

Lastly, a section of the press aimed at pleasing the authorities only. The vernacular press published news of the INC's meetings, but believed in the Irish type of agitation backed by physical force preached by Sir Syed. With this backdrop in 1878 the vernacular press act was passed to bring publishing of newspapers in the local languages of the subcontinent under better control. In 1897 Sections on treason or sedition and class hatred had been inserted into the Indian Penal Code.

The criminal procedure code of 1898 relating to investigation and trial of criminal offences and forfeiture of seditious books and pamphlets was introduced. The Congress and the pro-Congress papers protested. The role of the *Sanatan Dharma Patrika* in favour of 'suddhi' movement of Arya Samaj, *Al Hakam* of Mirza Gulam Hussain Kadiani claiming divine revelation, the *Dar-ul-Saltanat* and *Urdu Guide* of the Shiites in creating mutual recriminations between the Hanafi, Mohammadi, Wahabis and Sunni sects, and added to that the *Amrita Bazar Patrika's* remarks offending the Muslims—all these factors sent Sir Syed again to prominence among his followers who began to reassess his policies. When his Aligarh college flourished into a university, and the All India muslim league commenced preaching isolationism and separatism, a

historical basis was discovered for separatism of India. The partition of Bengal announced in 1905 came unexpectedly handy for the Congress. Bankimchandra's song 'Bande Mataram' became suddenly an eloquent voice as Bengal was dismembered. The *Dacca Prakash* covered stories that the partition of Bengal would not be acceptable to the Muslim community. But Lord Curzon declared that the partition would secure for them a Muslim majority province.

The All India Muslim League was formed in Dhaka in 1906. Two other movements originated as a result of partition, the boycott of government posts and the Swadeshi movement. Meanwhile the Congress was divided into two distinct forces, the moderates and the nationalists, popularly called extremists. Most of the newspapers took a moderate line led by Surendranath while Bipin Chandra Pal and Arabinda led the extremists. The *Bande Mataram* of Arabinda and Bipin Chandra advocated the policy of total boycott while the *Yugantar* preached terrorism to eliminate the British colonial rule. The Muslims of Bengal supported the Swadeshi movement through the Persian papers, namely the *Rojnama-e-Mokaddas-Hablul* and the *Sultan*.

As a sequel, in 1908 the Newspapers (Incitement to Offences) Act was passed resulting in the closure of a number of newspapers sympathetic to terrorist activities. The Criminal Law

Amendment Act of 1913 and the Defence of India Regulations were used to silence any agitation and criticism. In the then East Bengal, the first English daily the *Herald* was published in 1916 from Dhaka. The *Jyoti*, probably the first Bangla daily of the eastern part of Bengal, coming out from Chittagong in 1921, had to suffer a closure for its involvement in the non-cooperation movement.

In 1931, the Indian Press (Emergency Power) Act was passed in which the local governmental authorities were empowered to forfeit the security of the press. From 1923 to 1939 the *Jagoron* of Kusthia, the *Desh Bani* of Noakhali, the *Barisal Hitaishi*, the *Bagurar Katha*, and the *Faridpur Hitaishini* earned the wrath of the British ruler for their writings. The mass uprising in 1945 and 1946 against British imperialism encouraged the press to be more vocal and free.

After the partition of India in 1947, there was practically no national newspaper in Dhaka and elsewhere in the province of East Bengal. The *azad* and the *morning news*, the only two papers supportive of the Muslim League, were still in Calcutta. A weak faction of the Muslim Leaguers in Calcutta ran the *Ittehad*. These three papers were gradually shifted to East Bengal. The *Jindegi* discontinued publication from Dhaka and the *sangbad* came out in the early 1950s. The *Pakistan Observer* came out in 1949. Maulana Abdul Hamid Khan Bhasani, the leader of the newly formed Awami Muslim

League, published the weekly *Ittefaq* the same year as an ardent critique of the Muslim League government. The weekly soon became popular. The left leaning political activists found sanctuary in the daily *Insaf* in 1950. By this time the daily *Paigam* of Chittagong and the daily *Naobelal* of Sylhet were assuming the role of the national dailies.

References

- Ajay Dash: *News Reporting*, Sonali Pub, Delhi, 2008.
- Anil K. Dixit: *Press Laws and Media Ethics*, Reference Press, Mumbai, 2006.
- Ashton, S.R. *British Policy Towards the Indian States, 1905-1939*. London Studies on South Asia, No. 2. London: Curzon, 1982.
- G. D. Chaturvedi: *The Ethics of Reporting the News : Role of the Press and the Moral Code*, ABD, Delhi, 2004.
- H S Srinivasan: *Mass Media in New World Order*, Pearl Books, Delhi, 2007.
- Hopkins, Thomas J. : *The Hindu Religious Tradition*, Encino, California, Dickenson, 1971.
- Jagannath Pati: *Media and Tribal Development*, Concept, Delhi, 2004.
- Jahangir Khan: *Basics of Electronic Media*, Shipra Pub, Delhi, 2006.
- Kiran Prasad: *Women, Globalization and Mass Media : International Facets of Emancipation*, The Women Press, Delhi, 2006.
- Moon, Penderel: *The British Conquest and Dominion of India*. London: Duckworth, 1989.
- Pramod Kumar Sinha: *Elements of Electronic Media : Tools and Techniques*, Kanishka, Delhi, 2007.
- S. C. Sharma and Sweta Bakshi: *Modern Journalism and Mass Communication*, A. K. Pub, Delhi, 2009.
- Silverberg, James: *Social Mobility in the Caste System in India*, Mouton Publishers, The Hague, 1968.

Vietnam War and International Politics

Rajesh Kumar Pandey

Research Scholar, PG Dept. of Political Science

VKS University, Arrah

The Vietnam War, also known as the Second Indochina War, was a Cold War military conflict that may be said to have occurred in Vietnam, Laos, and Cambodia from September 26, 1959 to April 30, 1975. The war was fought between the communist North Vietnam, supported by its communist allies, and the government of South Vietnam, supported by the United States and other anti-communist nations.

The Viet Cong, a lightly armed South Vietnamese communist-controlled common front, largely fought a guerrilla war against anti-communist forces in the region. The North Vietnamese Army engaged in a more conventional war, at times committing large units into battle. U.S. and South Vietnamese forces relied on air superiority and overwhelming firepower to conduct search and destroy operations, involving ground forces, artillery and airstrikes.

The United States entered the war to prevent a communist takeover of South Vietnam as part of their wider strategy of containment. Military advisors arrived beginning in 1950. U.S. involvement escalated in the early 1960s, with U.S. troop levels tripling in 1961 and tripling again in 1962. U.S. combat units were deployed beginning in 1965. Involvement peaked in 1968 at the time of the Tet Offensive. After this, U.S. ground forces were withdrawn as part of a policy called Vietnamization. Despite the Paris Peace Accords, signed by all parties in January 1973, fighting continued.

The Case-Church Amendment, passed by the

U.S. Congress in response to the antiwar movement, prohibited direct U.S. military involvement after August 15, 1973. U.S. military and economic aid continued until 1975. The capture of Saigon by North Vietnamese army in April 1975 marked the end of Vietnam War. North and South Vietnam were reunified the following year. The war exacted a huge human cost in terms of fatalities, including 3 to 4 million Vietnamese from both sides, 1.5 to 2 million Laotians and Cambodians, and 58,159 U.S. soldiers.

Terminology

Various names have been applied to the conflict. *Vietnam War* is the most commonly used name in English. It has also been called the *Second Indochina War*, and the *Vietnam Conflict*. As there have been so many conflicts in Indochina, this conflict is known by the name of their chief opponent to distinguish it from the others.

The main military organizations involved in the war were, on the side of the South, the Army of the Republic of Vietnam (ARVN) and the U.S. military, and, on the side of the North, the Vietnam People's Army (VPA), or North Vietnamese Army (NVA), and the Vietcong, or National Front for the Liberation of South Vietnam (NLF), a communist army based in the South.

Background to 1949

France began its conquest of Indochina in 1859. In spite of military resistance, by 1888 the area of the current-day nations of Cambodia and Vietnam was made into the colony of French Indochina (Laos was added later). Various Vietnamese opposition movements to the French rule existed during this period but none were ultimately as successful as the Viet Minh common front (openly controlled by the Communist Party of Vietnam) which was founded in 1941.

During World War II, the French were defeated by the Germans in 1940. For French Indochina, this meant that the colonial authorities became Vichy French, allies of the German-Italian Axis powers. In turn this meant that the French collaborated with the Japanese forces after their invasion of French Indochina during 1940. The French continued to run affairs in the colony, but ultimate power resided in the hands of the Japanese.

This situation continued until the German forces were expelled from France and the French Indochina colonial authorities started holding secret talks with the Free French. Fearing that they could no longer trust the French authorities the Japanese army interned them all on 9 March 1945 and assumed direct control themselves through their puppet state of the Empire of Vietnam under B̄o Đ̄i.

During 1944–1945, a famine struck northern Vietnam due to a combination of poor weather and Japanese exploitation. 1 million people died of starvation (out of a population of 10 million in the affected area). Exploiting the administrative gap that the internment of the French had created, the Viet Minh in March 1945 urged the population to ransack rice warehouses and refuse to pay their taxes. Between 75 and 100 warehouses were consequently raided. This rebellion against the effects of the famine and the authorities that were partially responsible for it, bolstered the Viet Minh's popularity and they recruited many members during this period.

In August 1945, the Japanese had been defeated and surrendered unconditionally. In French Indochina this created a power vacuum as the French were still interned and the Japanese forces stood down. Into this vacuum, the Viet Minh entered and grasped power across Vietnam in the "August Revolution" (in large part supported by the Vietnamese population).

On 2 September 1945, Ho Chi Minh (leader of the Viet Minh) declared the

independent Democratic Republic of Vietnam before a crowd of 500,000 in Hanoi. In an overture to the Americans, he began his speech by paraphrasing the United States Declaration of Independence: *All men are created equal. The Creator has given us certain inviolable Rights: the right to Life, the right to be Free, and the right to achieve Happiness.*

However, the major allied victors of World War II (the United Kingdom, the USA and the Soviet Union) all agreed that the area belonged to the French. As the French did not have the ships, weapons or soldiers to immediately retake Vietnam, the major powers came to an agreement that British troops would occupy the south while Nationalist Chinese forces would move in from the north. When the British landed they rearmed the interned French forces as well as parts of the surrendered Japanese forces to aid them in retaking south Vietnam as they did not have enough troops to do this themselves.

Following the party line from Moscow, Ho Chi Minh initially attempted to negotiate with the French who were slowly re-establishing their control across the country. In January 1946, the Viet Minh won elections across central and northern Vietnam. The French landed in Hanoi by March 1946 and in November of that year they ousted the Viet Minh from the city. Soon thereafter the Viet Minh began a guerrilla war against the French Union forces, beginning the First Indochina War.

The war spread to Laos and Cambodia where Communists

organized the Pathet Lao and the Khmer Serai after the model of the Viet Minh. Globally, the Cold War began in earnest which meant that the rapprochement that had existed between the Western powers and the Soviet Union during World War II disintegrated. The Viet Minh fight was hampered by a lack of weapons; this situation changed by 1949 when the Chinese Communists had largely won the Chinese Civil War and were free to provide arms to their Vietnamese allies.

Exit of the French, 1950–1954

In January 1950, the communist nations, led by the People's Republic of China (PRC), recognized the Viet Minh's Democratic Republic of Vietnam as the government of Vietnam. Non-Communist nations recognized the French-backed State of Vietnam in Saigon led by former Emperor Bao Dai the following month. The outbreak of the Korean War in June 1950 convinced many Washington policymakers that the war in Indochina was an example of communist expansionism directed by the Kremlin. PRC military advisors began assisting the Viet Minh in July 1950. PRC weapons, expertise, and laborers transformed the Viet Minh from a guerrilla force into a regular army. In September, the U.S. created a Military Assistance and Advisory Group (MAAG) to screen French requests for aid, advise on strategy, and train Vietnamese soldiers. By 1954, the U.S. had supplied 300,000 small arms and spent US\$1 billion in support of the French military effort and was shouldering 80 percent of the

cost of the war. There were also talks between the French and Americans in which the possible use of three tactical nuclear weapons was considered, though how seriously this was considered and by whom are even now vague and contradictory. One version of plan for the proposed Operation Vulture envisioned sending 60 B-29s from US bases in the region, supported by as many as 150 fighters launched from US Seventh Fleet carriers, to bomb Viet Minh commander Vo Nguyen Giap's positions. The plan included an option to use up to three atomic weapons on the Viet Minh positions. Admiral Arthur W. Radford, Chairman of the U.S. Joint Chiefs of Staff, gave this nuclear option his backing. US B-29s, B-36s, and B-47s could have executed a nuclear strike, as could carrier aircraft from the Seventh Fleet.

U.S. carriers sailed to the Tonkin gulf, and reconnaissance flights over Dien Bien Phu were conducted during the negotiations. According to Richard Nixon the plan involved the Joint Chiefs of Staff drawing up plans to use 3 small tactical nuclear weapons in support of the French. Vice president Richard Nixon, a so-called "hawk" on Vietnam, suggested that the U.S. might have to "put American boys in". President Eisenhower made American participation contingent on British support, but London was opposed. In the end, convinced that the political risks outweighed the possible benefits, Eisenhower decided against the intervention.

The Viet Minh received

crucial support from the Soviet Union and PRC. PRC support in the Border Campaign of 1950 allowed supplies to come from PRC into Vietnam. Throughout the conflict, U.S. intelligence estimates remained skeptical of French chances of success.

The Battle of Dien Bien Phu marked the end of French involvement in Indochina. The Viet Minh and their mercurial commander Vo Nguyen Giap handed the French a stunning military defeat, and on 7 May 1954, the French Union garrison surrendered. At the Geneva Conference the French negotiated a ceasefire agreement with the Viet Minh. Independence was granted to Cambodia, Laos, and Vietnam.

Vietnam was temporarily partitioned at the 17th parallel, and under the terms of the Geneva Convention, civilians were to be given the opportunity to freely move between the two provisional states. Elections throughout the country were to be held, according to the Geneva accords, but were blocked by the South Vietnamese president, who feared a communist victory.

Around one million northerners, mainly Catholics, fled south, fearing persecution by the communists, following an American propaganda campaign using slogans such as, "The Virgin Mary is heading south", and aided by a U.S. funded \$93 million relocation program, which included ferrying refugees with the Seventh Fleet. It is estimated that as many as two million more would have left had they not been stopped by the Viet Minh.

References

- A. K. Dixit : *Politics and Policies of International Relations*, Cyber Tech Pub, Delhi, 2009.
- Cavanaugh, John William : *Media Effects on Voters*, Lanham, MD, University Press of America, 1995.
- Devetak, Richard : *Critical Theory, in Burchill, Theories of International Relations*, Palgrave MacMillan, London, 2005.
- Gupta, P. S. : *Towards Freedom, Documents on the Movement for Independence in India*, Delhi: Oxford UP, 1997.
- Jamieson, Kathleen Hall : *Dirty Politics, Deception, Distraction and Democracy*, Oxford University Press, New York, 1992.
- Littlewood, Thomas B : *Calling Elections, The History of Horse-Race Journalism*, Notre Dame, University of Notre Dame Press, 1998.
- Mears, Walter R : *Deadlines Past, Forty Years of Presidential Campaigning, A Reporter's Story*, Andrews McMeel Publishing, Kansas City, 2003.
- Paletz, David L. : *The Media in American Politics*, Addison-Wesley, New York, 2001.
- R.P. Sinha and Surya Dandekar: *Asian Government and Politics: Studies in People, Power and Political Development*, Kanishka, Delhi, 1998.
- Richard Falk : *Culture, Modernism, Postmodernism, A Challenge to International Relations*, N.Y., Praeger, New York, 1990.
- Ritchie, Donald A. : *Press Gallery, Congress and the Washington Correspondents*, Harvard University Press, Cambridge, 1991.
- Singh, Kirpal : *Select Documents on Partition of Punjab, India and Pakistan*, National Bookshop, Delhi, 1991.
- Sunil Sondhi : *International Relations, A Framework for Analysis*, Sanjay Prakashan, Delhi, 2004.
- Vasant Saberwal and Mahesh Rangarajan: *Battles Over Nature: Science and the Politics of Conservation*, Permanent Black, Delhi, 2003.

India and the Global Balance of Power

Dr. Sadhna Thakur

Senior Lecturer, Dept. of Political Science

Sri Arvind Mahila College, Patna

After disappointing itself for decades, India is now on the verge of becoming a great power. The world started to take notice of India's rise when New Delhi signed a nuclear pact with President George W. Bush in July 2005, but that breakthrough is only one dimension of the dramatic transformation of Indian foreign policy that has taken place since the end of the Cold War.

After more than a half century of false starts and unrealized potential, India is now emerging as the swing state in the global balance of power. In the coming years, it will have an opportunity to shape outcomes on the most critical issues of the twenty-first century: the construction of Asian stability, the political modernization of the greater Middle East, and the management of globalization.

Although India's economic growth has been widely discussed, its new foreign policy has been less noted. Unlike their U. S. counterparts, Indian leaders do not announce new foreign policy doctrines. Nonetheless, in recent years, they have worked relentlessly to elevate India's regional and international standing and to increase its power. New Delhi has made concerted efforts to reshape its immediate neighbourhood, find a *modus vivendi* with China and Pakistan (its two regional rivals), and reclaim its standing in the "near abroad": parts of Africa, the Persian Gulf, Central and Southeast Asia, and the Indian Ocean region. At the same time, it has expanded relations with the existing great powers – especially the United States. India is arriving on the world stage as the first large, economically powerful, culturally vibrant, multiethnic, multireligious democracy outside of the geographic West. As it rises, India has the potential to become a leading member of the

"political West" and to play a key role in the great political struggles of the next decades. Whether it will, and how soon, depends above all on the readiness of the Western powers to engage India on its own terms.

India and the Global Power Shift

The international security environment is witnessing a power shift from the developed Western states to Asia led by the rise of China and India. This power shift will have a significant impact on global geopolitics. Although a unipolar global order has been in place for a decade and a half, a non-polar world (as against a multipolar world) is in the making. Political, economic and demographic trends have made it inevitable.

As Richard Haass has noted, "In contrast to multipolarity – which involves several distinct poles or concentrations of power – a nonpolar international system is characterized by numerous centers with meaningful power." He adds that while "the United States is and will long remain the largest single aggregation of power... power and influence are less and less linked in an era of nonpolarity." According to Haass, "today's nonpolar world is not simply a result of the rise of other states and organizations or of the failures and follies of U. S. policy. It is also an inevitable consequence of globalization."

Analysts assess that despite its pre-eminence in military, scientific and economic fields, the US remains a country in relative decline. Even if that decline is unlikely to make a difference in the near future, the certainty of new powers rising to be global players augurs for a new global power balance. Explosive rates of population and economic growth in Asian states are indicators of a new world order in which power will be more dispersed. The critical question is, if this multipolar world will have a benign or malign form. There are two likely possibilities on this.

The world could fragment into competing blocs that attempt to resolve their differences through power politics as nation states did in the 19th and 20th centuries. Robert Kagan has talked of an 'axis of democracy', including the US, EU, India and Japan, counterbalancing a 'club of autocrats', including Russia, China and Iran.² The other possibility is of existing and rising powers

choosing to manage their relations through mutual interdependence, as has been attempted successfully in Europe over the second half of the last century.

Global shifts happen rarely and are even less often peaceful. The transfer of power from west to east will dramatically change the context of dealing with international challenges. In the early 20th century the imperial order and the aspiring states of Germany and Japan failed to adjust to each other. That led to wars which devastated the better part of the world. The coming shift in power will have a greater impact globally and will require assimilation of diverse political and cultural systems. Today's rising powers seek redress of past grievances, are proudly nationalistic and want to claim their rightful place in the comity of nations. Asian rise in economic terms will translate into greater political and military power, thus increasing the potential damage from conflicts. Former British Prime Minister Tony Blair has noted that "In the next two decades China and India will undergo industrialisation four times the size of the United States and at five times the speed. . . For the first time in many centuries, power is moving East." Blair added that

"In this new world, we must clear a path to partnership, not stand off against each other competing for power. The world...cannot afford a return to the 20th century struggles for hegemony."

It is also clear that military power, however strong, is in itself insufficient to obtain the

political objectives of a war. The capacity of weaker opponents to impose high costs through asymmetric or 4th Generation War fighting is enough to make even the strongest military power think carefully before embarking on a military option. The costs of managing Iraq after an easy military victory offer a clear indication of a fundamental shift in military affairs. As Fareed Zakaria has written, "On every dimension other than military power – industrial, financial, social, cultural – the distribution of power is shifting, moving away from U. S. dominance. That does not mean we are entering an anti-American world. But we are moving into a post-American world, one defined and directed from many places and by many people. Recent studies on managing the consequences of the waning US hegemony have in turn led to the need to choose between two policy approaches. One reflects a desire to use US military capacity in 'full spectrum dominance' and its global reach to contain rising powers.

The other looks at the evolving global power shift as an opportunity to build a new basis for global order, which would be predicated on cooperation and equity. According to Kishore Mahbubani, "The application of the three western principles of democracy, rule of law and social justice will go a long way towards creating a more stable world order. But the West will not be able to apply them on its own. . . Hitherto the most successful partnerships have been West-West, for example the Trans-Atlantic Alliance. Equally strong East-West

partnerships must be created. But in working with partners from other cultures and civilizations the West will have to curtail its ideological impulses and learn to be more pragmatic."

Bill Emmott has noted that "both the US and the EU should, as a matter of urgency, scrap or reform all the top organizations of global governance in which China, India and Japan are not properly and fully represented." This would include the G8 and the UNSC. He also recommends that "the US should support the EAS (East Asia Summit) as Asia's principal political and economic forum and state that it sees Asian integration and intra-regional cooperation as desirable." Recent US policies in the wake of 9/11, clearly demonstrated the former approach. Its consequences in Iraq and the anti-American mood in the Islamic world have raised doubts on the viability of such a policy. What strategy initiatives will emerge from the principal determinant of the global order, i.e. the US, remains to be seen.

US Seeks to Maintain Primacy

The US has sought to maintain its position as the pre-eminent power by following a policy of defence transformation, which leverages its technological superiority. As the US National Security Strategy states, "Innovation within the armed forces will rest on experimentation with new approaches to warfare, strengthening joint operations, exploiting US intelligence advantages, and taking full

advantage of science and technology. "7 Transformation is designed to help address not only the traditional threats but also the emerging asymmetric threats from both state and non-state actors.

According to the US Quadrennial Defence Review, "although the U. S. military maintains considerable advantages in traditional forms of warfare, this realm is not the only, or even the most likely, one in which adversaries will challenge the United States during the period immediately ahead. Enemies are more likely to pose asymmetric threats, including irregular, catastrophic and disruptive challenges." The National Security Strategy notes that the US is "pursuing a future force that will provide tailored deterrence of both state and non-state threats...while assuring allies and dissuading potential competitors." Thus the US simultaneously has to prepare against threats from state as well as non-state actors, which have acquired greater significance post 9/11. With respect to non-state actors, the primary threat comes from Al Qaeda and associated groups against whom the US is in the midst of fighting the so-called Global War against Terror, which it admits is going to be a 'Long War'.

The Global War against Terror includes overseas fronts like Iraq and Afghanistan and also homeland defence against future terrorist attacks on US soil. The US recognizes the asymmetric nature of the threat from China, which is unable to match US military capabilities and is hence seeking to negate

US superiority by targeting its technological dependence. The Chinese anti-satellite test in January 2007 is an example of the new kind of asymmetric threat posed by China. Since the US depends heavily on space-based assets, this has led to fears of a new arms race in space. According to the US National Space Policy of 2006, "The United States considers space capabilities – including the ground and space segments and supporting links – vital to its national interests. Consistent with this policy, the United States will: preserve its rights, capabilities, and freedom of action in space; dissuade or deter others from either impeding those rights or developing capabilities intended to do so; take those actions necessary to protect its space capabilities; respond to interference; and deny, if necessary, adversaries the use of space capabilities hostile to U. S. national interests."

With respect to state actors, the Quadrennial Defence Review suggests that the primary threat comes from China. As it notes, "Of the major and emerging powers, China has the greatest potential to compete militarily with the United States and field disruptive military technologies that could over time offset traditional U. S. military advantages absent U. S. counter strategies."

The US is strengthening its alliances in the Asia-Pacific with Japan, South Korea and Australia as well as building bridges with emerging powers like India. This quest for building up its alliances and partnerships is primarily

designed to hedge against the possibility that the rise of China may place it on a collision course with the US. Although an outright war is unlikely, the possibility that tensions in the Taiwan Straits could escalate into military action, drawing in the US cannot be ruled out.

References

- Jawaharlal Nehru, *Towards A Socialistic Order*, New Delhi, 1956.
- Jha, Prem Shankar: *India: A Political Economy of Stagnation*, Bombay, Oxford University Press, 1980.
- Kripalani, Krishna : *All Men are Brothers*, Navjivan Publishing House, 1937.
- Kumarappa, Bharatan : *Nature Cure*, Navjivan Publishing House, 1944.
- Leo Tansky, *US and USSR Aid to Developing Countries: A Comparative Study of India, Turkey, and the UAR*, New York, 1967.
- Maheshwari, Shriram: *Rural Development in India: A Public Policy Approach*, New Delhi, Sage, 1995.
- Morris-Jones, W.H.: *The Government and Politics of India*, London, Hutchinson, 1971.
- Narula, Sanjay : *Indian Politics*, New Delhi, Murari Lal and Sons, 2007.
- Noorani, A.G. : *Indian Political Trials: 1775-1947*, New Delhi, Oxford University Press, 2005.
- Patnaik, Naveen: *A Second Paradise: Indian Courtly Life, 1590-1947*, Garden City, New Jersey, Doubleday, 1985.
- Prasad, Lal Bahadur : *Indian Political System and Law*, New Delhi, Shree, 2005.
- Pruthi, R.K. : *Indian Political Thought*, New Delhi, Mohit Pub., 2007.
- R.P. Masani, *Dadabhai Naoroji: The Grand Old Man of India*, London, 1939.
- Ram, S. and R. Kumar : *Encyclopaedia of Indian Freedom Struggle*, Commonwealth Pub., New Delhi, 2008.
- Ramesh S. Betai : *Gita and Gandhiji*, New Delhi, National Gandhi Museum, 2002.

India and the US: Embracing a New Paradigm

Gajendra Kumar

Research Scholar, VKS University, Arrah

Indo-American relations refers to the bilateral relations between the United States of America and the Republic of India. Despite being one of the pioneers and founding members of the Non-Aligned Movement, India developed a closer relationship with the Soviet Union during the Cold War.

India's strategic and military relations with Moscow and strong socialist policies had an adverse impact on its relations with the United States. After the collapse of the Soviet Union, India began to review its foreign policy in a unipolar world following which, it took steps to develop closer ties with the European Union and the United States. Today, India and the U.S. share an extensive cultural, strategic, military and economic relationship.

During the tenure of the Clinton and Bush administration, relations between India and the United States blossomed primarily over common concerns regarding growing Islamic extremism, energy security and climate change.

According to some foreign policy experts, there was a slight downturn in India-U.S. relations following the election of Barack Obama as the President of the United States in 2009. This was primarily due to Obama administration's desire to increase relations with China, and Barack Obama's protectionist views on dealing with the economic crisis. However, the leaders of the two countries have repeatedly dismissed these concerns.

History

The historic relationship between India and the United States was very strong. One event is the visit of Swami Vivekananda who introduced

Yoga and Vedanta to America. Vivekananda was the first known Hindu Sage to come to the West, where he introduced Eastern thought at the World's Parliament of Religions, in connection with the World's Fair in Chicago, in 1893]. Here, his first lecture, which started with this line "Sisters and Brothers of America," made the audience clap for two minutes just to the address, for prior to this seminal speech, the audience was always used to this opening address: "Ladies and Gentlemen". It was this speech that catapulted him to fame by his wide audiences in Chicago and then later everywhere else in America, including far-flung places such as Memphis, Boston, San Francisco, New York, Los Angeles, and St. Louis.

After Indian independence until the end of the cold war, the relationship between the two nations has often been thorny. Dwight Eisenhower was the first U.S. President to visit India in 1959. He was so supportive of India that the *New York Times* remarked "It did not seem to matter much whether Nehru had actually requested or been given a guarantee that the U.S. would help India to meet further Chinese communist aggression. What mattered was the obvious strengthening of Indian-American friendship to a point where no such guarantee was necessary."

During John F. Kennedy's period as President, he saw India as a strategic partner against the rise of communist China. He said "Chinese Communists have been moving ahead the last 10 years. India has been making some progress, but if India does not succeed with her 450 million people, if she can't make freedom work, then people around the world are going to determine, particularly in the underdeveloped world, that the only way they can develop their resources is through the Communist system." From 1961 to 1963 there was a promise to help set up a large steel mill in Bokaro that was withdrawn by the U.S. The 1965 and 1971 Indo-Pakistani wars did not help their relations. During the Cold War, the U.S. asked for Pakistan's help because India was seen to lean towards the Soviet Union. Later, when India would not agree to support the anti-Soviet operation in Afghanistan, it was left with few allies. Not until 1997 was there any effort to improve relations with

the United States. Soon after Atal Bihari Vajpayee became Indian Prime Minister, he authorized a nuclear weapons test in Pokhran, which got the immediate attention of the US.

The Clinton administration and Vajpayee exchanged representatives to help build relations. In March 2000, President Bill Clinton visited India. He had bilateral and economic discussions with Prime Minister Vajpayee. Over the course of improved diplomatic relations with the Bush administration, India has agreed to allow close international monitoring of its nuclear weapons development while refusing to give up its current nuclear arsenal. India and the U.S. have also greatly enhanced their economic ties.

During the September 11 attacks in 2001, President George W. Bush chose India as the country to control and police the Indian Ocean sea-lanes from the Suez to Singapore. The December 2004 tsunami saw the U.S. and Indian navies cooperating in search and rescue operations and reconstruction of affected areas. An Open Skies Agreement was made in April 2005. This helped enhance trade, tourism, and business by the increased number of flights. Air India purchased 68 U.S. Boeing aircraft, which cost \$8 billion.

Former U.S. Secretary of Defence Donald Rumsfeld and U.S. Secretary of State Condoleezza Rice have made recent visits to India as well. After Hurricane Katrina, India donated \$5 million to the American Red Cross and sent two plane loads of relief

supplies and materials to help. And on 1 March 2006, President Bush made another diplomatic visit to expand relations between India and the United States.

Military Relations

The U.S.-India defence relationship derives from a common belief in freedom, democracy, and the rule of law, and seeks to advance shared security interests. These interests include maintaining security and stability, defeating terrorism and violent religious extremism, preventing the spread of weapons of mass destruction and associated materials, data, and technologies and protecting the free flow of commerce via land, air and sea lanes. In recent years India has conducted joint military exercises with the U.S. in the Indian Ocean. Despite this the Indian government sees the sole U.S. base in the Indian Ocean, Diego Garcia, and the permanent presence of the U.S. military there, as a potential escalation point in a future war, especially because of the current U.S. operations in Iraq and Afghanistan.

Recognizing India as a key to strategic U.S. interests, the United States has sought to strengthen its relationship with India. The two countries are the world's largest democracies, both committed to political freedom protected by representative government. India is also moving gradually toward greater economic freedom. The U.S. and India have a common interest in the free flow of commerce and resources, including through the vital sea lanes of the Indian

Ocean. They also share an interest in fighting terrorism and in creating a strategically stable Asia. There were some differences, however, including over India's nuclear weapons programs and the pace of India's economic reforms. In the past, these concerns may have dominated U.S. thinking about India, but today the U.S. views India as a growing world power with which it shares common strategic interests. A strong partnership between the two countries will continue to address differences and shape a dynamic and collaborative future.

In late September 2001, President Bush lifted sanctions imposed under the terms of the 1994 Nuclear Proliferation Prevention Act following India's nuclear tests in May 1998. The nonproliferation dialogue initiated after the 1998 nuclear tests has bridged many of the gaps in understanding between the countries. In a meeting between President Bush and Prime Minister Vajpayee in November 2001, the two leaders expressed a strong interest in transforming the U.S.-India bilateral relationship. High-level meetings and concrete cooperation between the two countries increased during 2002 and 2003. In January 2004, the U.S. and India launched the Next Steps in Strategic Partnership (NSSP), which was both a milestone in the transformation of the bilateral relationship and a blueprint for its further progress.

In July 2005, President Bush hosted Prime Minister Singh in Washington, DC. The two leaders announced the

successful completion of the NSSP, as well as other agreements which further enhance cooperation in the areas of civil nuclear, civil space, and high-technology commerce. Other initiatives announced at this meeting include: an U.S.-India Economic Dialogue, Fight Against HIV/AIDS, Disaster Relief, Technology Cooperation, Democracy Initiative, an Agriculture Knowledge Initiative, a Trade Policy Forum, Energy Dialogue and CEO Forum. President Bush made a reciprocal visit to India in March 2006, during which the progress of these initiatives were reviewed, and new initiatives were launched.

In December 2006, Congress passed the historic Henry J. Hyde United States-India Peaceful Atomic Cooperation Act, which allows direct civilian nuclear commerce with India for the first time in 30 years. U.S. policy had opposed nuclear cooperation with India because the country had developed nuclear weapons in contravention of international conventions and never signed the Nuclear Non-Proliferation Treaty. The legislation clears the way for India to buy U.S. nuclear reactors and fuel for civilian use.

In July 2007, the United States and India reached a historic milestone in their strategic partnership by completing negotiations on the bilateral agreement for peaceful nuclear cooperation, also known as the "123 agreement." This agreement, signed by Secretary of State Rice and External Affairs Minister

Mukherjee on October 10, 2008, governs civil nuclear trade between the two countries and opens the door for American and Indian firms to participate in each other's civil nuclear energy sector.

The U.S. and India seek to elevate the strategic partnership further to include cooperation in counter-terrorism, defence cooperation, education, and joint democracy promotion.

Economic Relations

The United States is also one of India's largest direct investors. From 1991 to 2004, the stock of FDI inflow has increased from USD \$11.3 million to \$344.4 million, totaling \$4.13 billion. This is a compound rate increase of 57.5% annually. Indian direct investments abroad were started in 1992].

Indian corporations and registered partnership firms are allowed to invest in businesses up to 100% of their net worth. India's largest outgoing investments are manufacturing, which account for 54.8% of the country's foreign investments. The second largest are non-financial services (software development), which accounts for 35.4% of investments.

The United States is India's largest trading partner. In 2007, the United States exported \$17.24 billion worth goods to India and imported \$24.02 billion worth of Indian goods. Major items exported by India to the U.S. include Information Technology Services, textiles, machinery, ITeS, gems and diamonds, chemicals, iron and steel products, coffee, tea, and

other edible food products. Major American items imported by India include aircraft, fertilizers, computer hardware, scrap metal and medical equipment.

The United States is also India's largest investment partner, with American direct investment of \$9 billion accounting for 9% of total foreign investment into India. Americans have made notable foreign investment in India's power generation, telecommunications, ports, roads, petroleum exploration/processing, and mining industries.

References

- Hollihan, Thomas A. : *Uncivil Wars, Political Campaigns in a Media Age*, Boston: St. Martins, Delhi, 2001.
- M.D. Dharamdasani: *Asia's Role in Global Politics*, SBS Pub, Delhi, 2007.
- Navnita Chadha Behera : *International Relations in South Asia* Pramod Kumar Mishra : *Search for an Alternative Paradigm*, Sage Pub, Delhi, 2008.
- Rama Puri: *Antarctica : A Natural Reserve : A Study in International Environmental Politics*, Indian Inst. of Advanced Study, Delhi, 1997.
- Sunil Sondhi : *International Relations: Search for Security and Development*, South Asian Pub, Delhi, 2007.
- Ashton, S.R.: *British Policy Towards the Indian States, 1905-1939*, London: Curzon, 1982.
- Bhambhri, C.P. : *Indian Politics Since Independence*, 1999.
- Chopra, P.N. and Prabha Chopra : *The Encyclopaedia of Indian Culture*, Reliance Pub., New Delhi, 2003.
- Dan Nabudere: *The Political Economy of Imperialism*, London, 1977.
- Dash, Nibedita : *Life and Thoughts of Gandhi and Nehru*, New Delhi, Dominant, 2004.

Women Participation in Political System of Jharkhand

Dr. Margaret Lakra

Reader

University Department of Political Science
Vinoba Bhave University, Hazaribag, Jharkhand

The Constitution of India is based on the principles of equality and guarantees equality before law and equal protection to all its citizens. It not only guarantees fundamental rights and freedoms, but also prohibits discrimination on the basis of religion, race, caste, sex, and place of birth. However, women have been denied social, economic, civil and political rights in many spheres. Position of women has changed over time. From equal status women became a subordinate and afterwards her position deteriorated a lot. A society cannot be modernized if half of the population is ignored. In the words of Pandit Jawaharlal Nehru:-

*When a woman rises, the family moves;
When the family moves, the society moves;
When the society moves, the nation moves.*

An important area where women have been inadequately represented is in the political sphere. Articles 325 and 326 of the Constitution of India guarantee political equality - equal right to participation in political activities and right to vote respectively. While the latter has been accessed, exercised and enjoyed by a large number of women, the former i.e., right to equal political participation is still a distant dream. Lack of space for participation in political bodies has not only resulted in their presence in meagre numbers in these decision making bodies but also in the neglect of their issues and experiences in policy making. Political participation of women is an important issue to be considered. Jharkhand came into existence on 15th November 2000, with new dreams, abundant natural resources and great human resource. The total population of Jharkhand can be divided into males and females. The female population can be further divided to general, SC, ST, OBC, minority, categories etc. There are different trends seen in political

participation among these groups of women. Political participation is high among women who are working, attached to any self help group, NREGS or linked to any NGO's. But the area where there is no accessibility to any government body or any self help groups and NGOs it is observed the political participation is almost negligible. Also the conservatism, malpractices, etc. are the loopholes in participation of women in the political system of Jharkhand. Unequal access to information and other economic and non-economic resources is a barrier to women's political participation. Most of the information's on governance is written in a language that is inaccessible to women. Because of the high rate of illiteracy and low levels of education among women they are deprived of information. Women's mobility being restricted they do not have the exposure to public life, thus limiting the scope of their interaction with others and the acquisition of information. Oral transactions invariably take place in the public sphere, which is inaccessible by women, as they are confined to their households. Despite all these problems it can be clearly said that political parties who put women empowerment and political participation of women as their primary agenda are not serious about this issue.¹ That is why the women reservation bill has not yet passed. Women are poorly represented at higher leadership levels. Even historically, it is observed that women's participation in positions of power in both houses of the Parliament has never exceeded 15 percent of total seats.

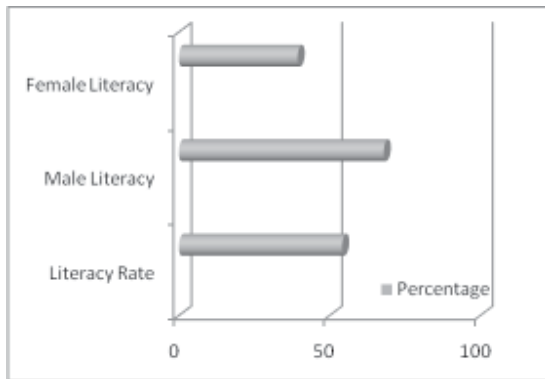
Women are concentrated in the informal economy, the subsistence sector, where many are engaged in low wage or unpaid, low skilled or unskilled labour. Much of their work remains invisible, unrecognised and devalued and is therefore unprotected by laws and legislations. The income they earn, however meagre are still seen by them and their families as an income to be spent on the family. Therefore, the expense required for political participation such as election campaign expenditure or resources required to attend meetings, visit and interact with government officials, become an additional burden that women can ill afford, thus impeding their full participation. Women get entangled in the web of oppression right from childhood. It is the girl child who is the first to be drawn out of the school (as education of the girl child is not the priority) to contribute to wage earning or to assist in sharing women's domestic chores in the household or to be surrogate mother to her

siblings. Thus depriving an opportunity for acquiring knowledge and skills, which would enable her to be economically independent. Few factors which are responsible for less participation of women in the political system of Jharkhand are as follows: a) Illiteracy; b) Practices such as purdha system, witchcraft and superstitious beliefs (prominent among the lower caste people); c) Conservatism; d) Problems of naxalism; e) Lack of interest; f) Lack of opportunity; g) Double standards of political parties.

Census Report 2001²

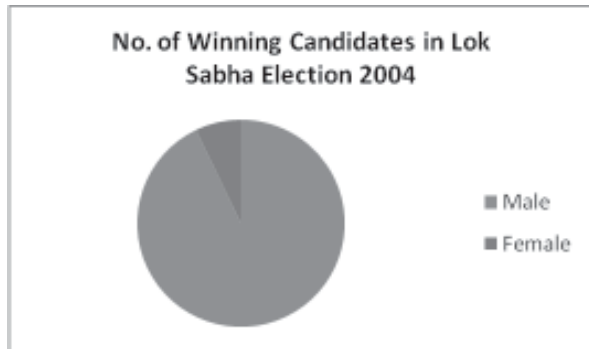
- Population: 26.91 million
- Urban population: 22.25% (5,986,697)
- Rural population: 77.75% (20,922,731)
- Literacy rate: 54.13%
- Male literacy: 67.94%
- Female literacy: 39.38%
- Sex ratio: 941 (females per 1000 males)

Graph showing the literacy percentage in Jharkhand according to the data given above:



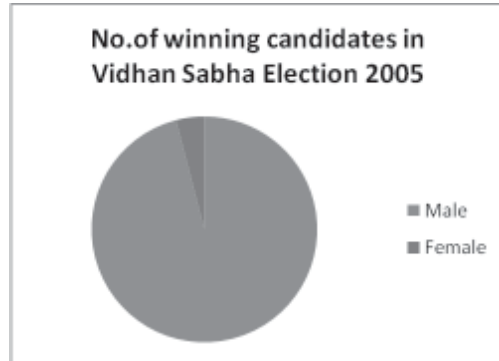
Given below are the figures of Lok Sabha elections held in 2004 and 2009 and Vidhan Sabha elections held in 2005 and 2009.

Lok Sabha election 2004: Out of 14 seats only one seat was occupied by a female candidate, Sushila Kerketta from Khunti constituency with winning margin of 51163 and total polling percentage of 53.64%

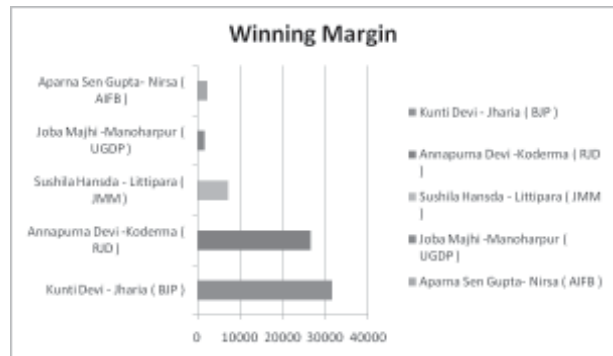


Lok Sabha election 2009: The major political parties BJP and INC did not give ticket to any female candidate.

Vidhan sabha election 2005: Out of 81 seats 5 seats were occupied by female candidates. The data is as follows³:



NAME OF THE CANDIDATE	CONSTITUENCY	PARTY	WINNING MARGIN
1.Kunti Devi	Jharia	BJP	31588
2.Annapurna Devi	Koderma	RJD	26454
3.Sushila Hansda	Littipara	JMM	7197
4.Joba Majhi	Manoharpur	UGDP	1597
5.Aparna Sen Gupta	Nirsa	AIFB	2334



Vidhan Sabha elections 2009

Winning female candidates in Vidhan Sabha elections 2009⁴

NAME OF WINNING FEMALE CANDIDATE	PARTY	CONSTITUENCY
1.Vimla Pradhan	BJP	Simdega
2.Sudha Chaudhery	JDU	Chatarpur
3.Geeta Koda	JBSP	Jaganathpur
4.Sita Soren	JMM	Jama
5.Annapurna Devi	RJD	Koderma
6.Kunti Devi	BJP	Jharia
7.Chandrika Mahtha	JVM	Jamua
8.Geetashree Oraon	CONG	Sisai

Geetashree Oroan has also won as MLA in 2009 Vidhan Sabha elections. Among women MLA's elected in 2004, Joba Majhi served as minister for the longest period. Aparna Sen Gupta served as minister for a short while. Annapurna Devi also served as minister for only for nine days when Shibu Soren was made chief minister for the first time. Among those elected in 2009, Sudha Chaudhary has been made minister. Annapurna Devi has also established her credentials by being among the winners of the 'Best Legislature Award' given away annually. She is presently serving as leader of RJD legislature party leader. Earlier, Sushila Kerketta had once served as president of Jharkhand Pradesh Congress Committee. However, though Jharkhand has trends of having two deputy chief ministers, till date a woman has not been considered fit for appointment to the office of Chief minister or even that of deputy chief minister or speaker. Even the Central government, headed by a woman as President of the Indian state, has never found it fit to appoint a woman as a governor of Jharkhand.

Measures that should be taken in order to increase the participation of women in political process of Jharkhand: Equal access to economic resources such as income, land, house, and credit will facilitate women's effective participation in electoral processes viz., contesting elections, campaigning, building and sustaining their constituencies and fulfilling their role as elected representatives. Information or knowledge is a key input towards enabling women for participation in political system effectively. Several studies confirm that the lack of access to information, results in women members not being

taken seriously. The most effective way to provide women with information is through training and capacity building. Media should endeavour to put out stories of 'best practices' i.e. success stories of elected women who are performing their political duties and overcoming the challenges of a male-dominated profession. Women do not have easy access to financial resources as they are denied property rights. They have no control over their earnings and form the low-waged or non-waged strata of society. Other steps that should be taken in order to increase participation of women in political system of Jharkhand: 1. Increasing education standards for women. 2. Door to door campaign of political parties. 3. Increasing awareness through political workshops. 4. Promoting youth in politics. 5. Through NGO's.

Conclusion

Not having a critical mass within the political institutions makes it difficult for women to centre-stage and push their agenda forward. Not having a critical mass within the political institutions makes it difficult for women to centre-stage and push their agenda forward.

Lack of an active and articulate critical mass further disadvantages women. Even where women are articulate and assertive, they are deliberately marginalised through a process of exclusion by the dominant and powerful sections in these political institutions. This is compounded by the fact that elected women representatives do not have a critical mass as an organised electorate, in the form of women's collectives, NGOs and an informed and politically conscious women's constituency to support them. Though women have been

entering the political arena they are denied positions of power.

Even when a few women have been given decision-making positions they do not have political allies in key positions to support them. Also those in power are invariably given 'soft portfolios' which are an extension of women's stereotypical images. These portfolios rarely have the resources or decision-making powers to back women and therefore relegate them again to the backseat. It has been found that persons who have been in public life and other institutions such as trade-unions, cooperatives, mahila mandals, women's collectives and other registered societies are more easily absorbed.

Going through the drawbacks and remedies for women participation in political system of Jharkhand it can be said that there is a need to increase opportunities for women. Women's political participation in regional local context will also help identify the factors which create hurdles in the way of meaningful participation by women in politics.⁵ Women can only participate in the political system if they are self-reliant and self-dependent. Increase in the status of women can help their high participation in political system. There is a famous Chinese saying:

"If you want to plan for three years, plant wheat, If you wish to plan for ten years grow trees but if you want to plan for hundred years empower women."

References:

1. Niroj Sinha, *Empowerment of women through political participation*, Kalpaz Publications, 2007
2. Census report, Govt. of India, 2001
3. www.travelindia-guide.com
4. *ibid.*
5. *op.cit*

India and Russia: Renewing the Relationship

Sunil Kumar Singh

Research Scholar, VKS University, Arrah

India-Russian relations refers to the bilateral relations between the Republic of India and the Russian Federation. During the Cold War, India and the Soviet Union enjoyed a strong strategic, military, economic and diplomatic relationship. After the collapse of the USSR, India improved its relations with the West but it continued its close relations with Russia. India is the second largest market for the Russian arms industry. In 2004, more than 70% of the Indian Military's hardware came from Russia, making Russia the chief supplier of arms.

India has an embassy in Moscow and 2 Consulates-General (in Saint Petersburg and Vladivostok). Russia has an embassy in New Delhi and 4 Consulates-General (in Chennai, Hyderabad, Kolkata, Mumbai). Since 2000 and the visit of Vladimir Putin in India there have been an Indo-Russian Strategic Partnership.

Soviet Union and India

A cordial relationship with India that began in the 1950s represented the most successful of the Soviet attempts to foster closer relations with Third World countries. The relationship began with a visit by Indian prime minister Jawaharlal Nehru to the Soviet Union in June 1955 and Khrushchev's return trip to India in the fall of 1955. While in India, Khrushchev announced that the Soviet Union supported Indian sovereignty over the disputed territory of the Kashmir region and over Portuguese coastal enclaves. The Soviet relationship with India rankled the Chinese and contributed to Sino-Soviet enmity during the Khrushchev period.

The Soviet Union declared its neutrality during the 1959 border dispute and the Indo-China war of 1962, although the Chinese strongly objected. The Soviet Union gave India substantial economic and military assistance during the Khrushchev period, and by 1960 India had received more Soviet assistance than China had. This disparity became another point of contention in Sino-Soviet relations. In 1962 the Soviet Union agreed to transfer technology to coproduce the MiG-21 jet fighter in India, which the Soviet Union had earlier denied to China.

In 1965 the Soviet Union served successfully as peace broker between India and Pakistan after an Indian-Pakistani border war. The Soviet chairman of the Council of Ministers, Aleksei N. Kosygin, met with representatives of India and Pakistan and helped them negotiate an end to the military conflict over Kashmir.

In 1971 the former East Pakistan region initiated an effort to secede from its political union with West Pakistan. India supported the secession and, as a guarantee against possible Chinese entrance into the conflict on the side of West Pakistan, signed a treaty of friendship and cooperation with the Soviet Union in August 1971. In December, India entered the conflict and ensured the victory of the secessionists and the establishment of the new state of Bangladesh.

Relations between the Soviet Union and India did not suffer much during the rightist Janata Party's coalition government in the late 1970s, although India did move to establish better economic and military relations with Western countries. To counter these efforts by India to diversify its relations, the Soviet Union proffered additional weaponry and economic assistance.

During the 1980s, despite the 1984 assassination by Sikh extremists of Prime Minister Indira Gandhi, the mainstay of cordial Indian-Soviet relations, India maintained a close relationship with the Soviet Union. Indicating the high priority of relations with the Soviet Union in Indian foreign policy, the new Indian prime minister, Rajiv Gandhi, visited the Soviet Union on his first state visit abroad in May 1985 and signed two long-term economic agreements with the Soviet Union. In turn, Gorbachev's first visit

to a Third World state was his meeting with Prime Minister Rajiv Gandhi in New Delhi in late 1986. Gorbachev unsuccessfully urged Gandhi to help the Soviet Union set up an Asian collective security system.

Gorbachev's advocacy of this proposal, which had also been made by Brezhnev, was an indication of continuing Soviet interest in using close relations with India as a means of containing China. With the improvement of Sino-Soviet relations in the late 1980s, containing China had less of a priority, but close relations with India remained important as an example of Gorbachev's new Third World policy.

Russia and India

Relations with India have always been and I am sure will be one of the most important foreign policy priorities of our country. Our mutual ties of friendship are filled with sympathy, and trust, and openness. And we must say frankly that they were never overshadowed by disagreements or conflict. This understanding - this is indeed the common heritage of our peoples. It is valued and cherished in our country, in Russia, and in India. And we are rightfully proud of so close, so close relations between our countries.- *Dmitry Medvedev, about relations with India*

We are confident that India lives in the hearts of every Russian. In the same way, I can assure you that Russia also lives in our souls as a Homeland, as people who share our emotions,

our feelings of mutual respect and constant friendship. Long live our friendship!- *Pratibha Patil, about relations with Russia*

Military Relations

Defence relations between India and the Russian Federation have a historical perspective. Russia has been an important supplier of defence goods for several decades. Today, the cooperation is not limited to a buyer-seller relationship but includes joint research and development, training, service to service contacts, including joint exercises. The last joint naval exercises took place in April 2007 in the Sea of Japan and joint airborne exercises were held in September 2007 in Russia.

There is an Inter-Governmental commission on military-technical cooperation co-chaired by the two Defence Ministers. The Seventh session of this Inter-Governmental Commission was held in October 2007 in Moscow. During the visit, an Agreement on joint development and production of prospective multi role fighters was signed between the two countries.

India-Russia original co-operation agreement was signed in December 1988. It has seen the trade of a multitude of defence equipment to India and also the emergence of that country as a development partner as opposed to purely a buyer. Two programmes that evidence this approach are the projects to form Indian-Russian joint ventures to develop and

produce the Fifth Generation Fighter Aircraft (FGFA) and the Multirole Transport Aircraft (MTA).

Deba R Mohanty, a senior fellow in security studies at the New Delhi-based Observer Research Foundation, told *Jane's* on 13 October that the original co-operation agreement has laid a "very solid foundation" for India to develop further as a development partner. He added: "The mutual benefits are clear: India can acquire modern platforms and technologies while Russia gains access to India's growing defence market."

India and Russia have several major joint military programs such as those mentioned below:

- Brah Mos cruise missile program
- INS Vikramaditya aircraft carrier program
- 5th generation fighter jet program
- Sukhoi Su-30 MKI program (230+ to be built by Hindustan Aeronautics)
- Ilyushin/HAL Tactical Transport Aircraft.

Additionally, India has purchased/leased several military hardware from Russia:

- T-90S Bhishma program. (1000+ to be built in India)
- Akula-II nuclear submarine (2 to be leased with an option to buy them when the lease expires)
- Tu-22M3 bombers (4 ordered)

- US\$900 million upgrade of MiG-29
- Mil Mi-17 (80 ordered)
- Ilyushin Il-76 Candid (6 ordered to fit Israeli Phalcon radar).

Russia's MiG-35 is competing in the Indian MRCA Competition and is considered to be the front-runner for the winning bid, given India's already, largely Russian-built air force. The Farkhor Air Base in Tajikistan is currently jointly operated by India and Russia.

Economic Relations

Bilateral trade turnover is modest and stood at US \$ 3 bn in 2006-07, out of which Indian Exports to Russia were valued at US \$ 908 mn. Main Indian exports to Russia are pharmaceuticals; tea, coffee & spices; apparel & clothing; edible preparations; and engineering goods. Main Indian imports from Russia are iron and steel; fertilizers; non-ferrous metals; paper products; coal, coke & briquettes; cereals; and rubber. Indo-Russian trade is expected to reach US\$10 billion by 2010.

The India-Russia Inter-Governmental Commission on Trade, Economic, Scientific, Technological and Cultural Cooperation (IRIGC) has had 13 sessions so far and is co-chaired by the External Affairs Minister from the Indian side and a Deputy Prime Minister from the Russian side.

There are six Joint Working Groups [WG] under the IRIGC, namely, WG on Trade and Economy [trade and financial matters], WG on Energy [oil

and gas, thermal and hydel power, non-conventional energy], WG on Metallurgy and Mining [steel, non-ferrous metal, coal], WG on Science & Technology; WG on Communication and Information Technology; and WG on Culture and Tourism. The 13th of the IRIGC was held in Moscow on 12 October 2007.

The two countries have setup India-Russia Forum on Trade and Investment at the level of the two Commerce Ministers to promote trade, investment and economic cooperation.

The first Forum was held in New Delhi on 12-13 February 2007 which was attended by the Minister of Commerce and Industry and the Russian Minister of Economic Development and Trade, apart from a large number of business representatives from both sides. The Minister of Commerce & Industry, Shri Kamal Nath participated in the 11th Saint Petersburg International Economic Forum on 9-10 June 2007.

In February 2006, India and Russia also setup a Joint Study Group to examine ways to increase trade to US \$ 10 bn by 2010 and to study feasibility of a Comprehensive Economic Cooperation Agreement (CECA). The Group finalized its report after its fourth meeting in Moscow in July 2007. It has been agreed that a Joint Task Force would monitor the implementation of the recommendation made in the Joint Study Group Report, including considering CECA.

References

- Ahmad, Imtiaz: *State and Foreign Policy: India's Role in South Asia*, New Delhi, Vikas, 1993.
- Bhambhri, C.P. : *Indian Politics Since Independence*, 1999.
- Dan Nabudere: *The Political Economy of Imperialism*, London, 1977.
- Gaur, Mahendra : *Indian Political Parties Annual*, Delhi, Kalpaz Pub., 2006.
- Jain, U.C. and Jeevan Nair : *Encyclopaedia of Indian Government and Politics*, 2000.
- Jha, Prem Shankar: *India: A Political Economy of Stagnation*, Bombay, Oxford University Press, 1980.
- Leo Tansky, *US and USSR Aid to Developing Countries: A Comparative Study of India, Turkey, and the UAR*, New York, 1967.
- Morris-Jones, W.H.: *The Government and Politics of India*, London, Hutchinson, 1971.
- Narula, Sanjay : *Indian Politics*, New Delhi, Murari Lal and Sons, 2007.
- Patnaik, Naveen: *A Second Paradise: Indian Courtly Life, 1590-1947*, Garden City, New Jersey, Doubleday, 1985.
- Probyn, Mr. : *Indian Coinage and Currency*, Effingham Wilson, London, 1897.
- Ram, S. and R. Kumar : *Encyclopaedia of Indian Freedom Struggle*, Commonwealth Pub., New Delhi, 2008.
- Ray, B.N. : *Gandhigiri : Satyagraha After Hundred Years*, New Delhi, Kaveri Books, 2008.
- S.C. Gangal and Anurag Gangal : *Contemporary Global Problems : A Gandhian Perspective*, Jammu, Vinod, 1995.
- Sankar Ghose: *Congress Presidential Speeches*, New Delhi, 1975.
- Sarvepalli Gopal: *Jawaharlal Nehru: An Anthology*, Delhi, 1980.
- Smith, Col. J. T. : *Silver and the India Exchanges*, Effingham Wilson, London, 1876.
- Stephen E. Ambrose and James Alden Barber: *The Military and American Society*, New York, 1972.

India and South Asia: Towards a Benign Hegemony

Rajiv Ranjan Verma

Research Scholar, VKS University, Arrah

South Asia is the epitome of Third World and occupies juxtaposed problems, assets and culture with distinguished variance in economics, scientific and technological levels and factors accompanying development. In concepts, ideology and philosophy and hypothesis of international relations the South Asian subcontinent interacts with dimensions uncommon in the developed North. This unit focus on the security dynamics in the region not just in military terms but also political, economic and environmental security.

Traditionally, security has been conceptualised in terms of protection of state's territorial integrity, political independence and sovereignty. In the post-Cold war period, it is increasingly being realised that this conception of security fails to address the issues that arise from the two dominant trends of the times-increasing globalisation and rapid fragmentation. Both are trends which the nation-state is not particularly suited to deal with. It is in this context, that the security paradigm was deepened to focus on not just on the state but on the groups and interests as well. The notion of security was broadened to include not only military but political, economic and social dimensions as well. These new dimensions are generally categorised as non-traditional security concerns.

The principal thrust of this Unit is to analyze the dynamics of South Asian security which inter-alia shall involve discussion on various facets related to South Asian security. We will first examine the broad features of the South Asia region that have a bearing on security and then proceed to examine the traditional and non-traditional dimensions of security.

Geographically, South Asia is a natural strategic unit surrounded by the great chain of mountains- the Himalayas, Karakorum, Hindukush in the north and by the Indian Ocean in the south, east and west. Historically from the earliest times, the peoples of this region have been intimately linked by race, culture, religion, and sometimes by political allegiance.

Political boundaries have not been constant in South Asia. Empires have grown and fallen. There have been different foci of political authority, though Delhi has the longest history of being the imperial capital. The British Empire in the eighteenth and nineteenth century encompassed not only what is known as the region of South Asia but also some region which is now-a-days part of West and Southeast Asia regions. It was during this period that the political boundaries were drawn over contiguous cultural landmass.

The territorial boundaries of the seven countries of the region are thus colonial creations. The most conspicuous feature on the face of South Asia is India, a veritable powerhouse in the region. In size, population, natural resources, level of economic development, standard of education, scientific and technological progress, gross national product and evolution of democratic political institutions, India is a relative giant.

In absolute terms, therefore, India is a big country surrounded by small ones, with the exception of China. Further, both as a consequence of geography and history, every country in South Asia is intimately connected with India. The same ethnic and religious groups to which their peoples belong are also found in India, which is a vast and heterogeneous country. Social organization and styles of managing the environment are similar between each South Asian country and its adjoining part in India; for example, between Nagaland and northern Burma, West Bengal and Bangladesh, Tamil Nadu and Sri Lanka.

Formal boundaries do not, and indeed cannot, contain the cultural overlap. There are

matrimonial alliances, family ties and social associations across the borders between India and all of its South Asian neighbours. For better or worse, this intermingling of peoples, cultures, and religions imparts a familial quality to interstate relations in South Asia. This is in contrast to other geographical regions including Europe.

Families are often disrupted by sibling rivalry and the identity problems of family members; so also in South Asia. Sibling rivalry, with its intricate causes and bitter consequences, characterizes many public stances adopted by India, Pakistan and Bangladesh towards each other which have the longest history of shared political allegiance. To a large extent the ruling elites of Bangladesh, Pakistan and India resemble sibling rivals. They contested for the affection and material rewards handed out first by the British colonialists, and then by the imperial substitutes, the new super powers, to the detriment of thirties with each other.

While the sources of conflict in a region with multi-ethnic and multi-religious societies are manifold, broadly, they can be traced to the colonial legacies, particularly, the drawing of political boundaries on a common cultural landmass and economic space and to the political dynamics in these post-colonial phase. The two geo-political features of the region, Indo-centrism and the asymmetry of power and resources among states in the

the security dynamics in the region.

Political Dynamics and Imr-state Conflict

In South Asia, British colonialism not only acted as a unifying force but also as a force creating dissonance and division. While it brought the South Asian countries within the common colonial system, colonialism simultaneously sowed several seeds of discord which continue to plague interstate relations in South Asia even today. The differences between India and Pakistan over the two-nation theory and between Sri Lanka and India over the nationality of Tamil plantation workers are only two outstanding examples of dissensions among South Asian states which owe their origin to British (mis) rule.

The final hasty retreat of the British and the ensuing bitterness generated between the ruling elites of the two major countries of the region gravely disrupted the traditional complementarity and cohesion.

In the post-colonial phase, the political dynamics in the countries of the region have been different owing to differences in the evolution of the forces of nationalism, the socio-cultural set up and the inherited economic structures. In India and Sri Lanka politics have remained generally stable and evolved smoothly. Other countries of the region have witnessed a cycle of democratic distortions and resurgence. Pakistan, Nepal and Bangladesh witnessed erosion

of democratic processes and assertion of authoritarian governments in 1958, 1960 and 1975. Bhutan has always remained a monarchy, though there are now signs of democratic processes being introduced. There was a democratic resurgence in all these countries in the early 1990s, but forces of regression have again been on the ascendance in Pakistan and Nepal.

While such political divergences act as hurdles in strengthening regional cooperation, the emergence of sectarian forces in South Asian countries in the recent past is vitiating the intra-state and interstate relations: It is difficult to precisely identify the factors that led to the rise of authoritarian and sectarian forces. But, you should note that the search for ~ e ~ i t imaby; ~th e authoritarian forces (like in Pakistan, Nepal, Bangladesh and Bhutan) and struggle for democratic power (as in India and Sri Lanka) has led to the mobilisation of sectarian constituencies. The rise of sectarian forces in the multiethnic and multi-religious societies of South Asia has alienated the minorities resulting in the rise of ethnic and separatist movements. In Sri Lanka, the Tamil insurgency since the early 1980s that poses a challenge to Sri Lankan unity and entity has resulted from the politics of ethnic consolidation of the Sinhalese in the political stem. In Pakistan, the separation of Bangladesh was the consequence of the dominance of Punjabi ethnicity

under the grab of the Islamic state. Similarly, the sense of deprivation in North Western Frontier Province, Balochistan and Sindh as well as the rise of the Shia and Sunni sectarian conflict are the result of alienation caused by over centralisation and sectarianism. In Bangladesh, the Chakrna unrest is a reflection of Bengali and Islamic assertion. In Nepal, the Terai movement of the Maoist insurgency of the late 1990s are manifestations of protest against the dominance of hill people, and against a Hindu state, respectively. In India, the unrest and ethnic turmoil in the northeast is a clear evidence of the failure of even a secular state to integrate its socially divergent groups.

Clearly, nation-building process is still an unfinished task in the region. Almost all the countries in the region face the threat of political disintegration. Given the ethnic and religious overlap in the region, ethnic, religious and linguistic conflicts in one country invariably have an impact in the other country of the region. The contiguous and open boundaries allow easy flow of people, goods and ideas across the borders interfering with economic and political relations. Most of the internal security crises that plague South Asian states have a cross-border dimension, and many are inter-related. Whether it is the Maoist insurgency in Nepal, the persistent ethnic problem in Sri Lanka, the increasing use of Bangladeshi territory by Islamist extremists, the proliferation of small arms, or

the menace of drug trafficking and narco-terrorism, each has significant transnational dimensions. States in the region, often accuse each other of covertly or overtly lending support to separatist and the dissident movements.

Indo Centric

With none of the South Asian countries sharing borders with each other, except with and through India, the region is geopolitically Indocentric in character. One consequence of this is that India's intra-regional interactions are inherently bilateral. India cannot avoid interactions with its neighbours, while none of its neighbours have a similar compulsion to interact with the other South Asian country, except India. It is, therefore, not surprising that India figures prominently in the interstate problems of the region.

References

- A.M. Zaidi and S.G. Zaidi: *The Foundations of Indian Economic Planning*, New Delhi, 1979.
- Ahmad, Imtiaz: *State and Foreign Policy: India's Role in South Asia*, New Delhi, Vikas, 1993.
- Ashton, S.R.: *British Policy Towards the Indian States, 1905-1939*, London: Curzon, 1982.
- B.N. Ganguli: *Indian Economic Thought: Nineteenth Century Perspectives*, New Delhi, 1977.
- Bhambhri, C.P. : *Indian Politics Since Independence*, 1999.
- Chakrabarti, Santosh : *Studies in Tagore : Critical Essays*, New Delhi, Atlantic, 2004.
- Dan Nabudere: *The Political Economy of Imperialism*, London, 1977.
- Dash, Nibedita : *Life and Thoughts of Gandhi and Nehru*, New Delhi, Dominant, 2004.
- Gangal, S.C. and Anurag Gangal : *Contemporary Global Problems : A*

- Gandhian Perspective*, Jammu, Vinod, 1995.
- Gaur, Mahendra : *Indian Political Parties Annual*, Delhi, Kalpaz Pub., 2006.
- Jain, U.C. and Jeevan Nair : *Encyclopaedia of Indian Government and Politics*, 2000.
- Jawaharlal Nehru, *Towards A Socialistic Order*, New Delhi, 1956.
- Jha, Prem Shankar: *India: A Political Economy of Stagnation*, Bombay, Oxford University Press, 1980.
- Leo Tansky, *US and USSR Aid to Developing Countries: A Comparative Study of India, Turkey, and the UAR*, New York, 1967.
- Maheshwari, Shriram: *Rural Development in India: A Public Policy Approach*, New Delhi, Sage, 1995.
- Morris-Jones, W.H.: *The Government and Politics of India*, London, Hutchinson, 1971.
- Narula, Sanjay : *Indian Politics*, New Delhi, Murari Lal and Sons, 2007.
- Noorani, A.G. : *Indian Political Trials: 1775-1947*, New Delhi, Oxford University Press, 2005.
- Patnaik, Naveen: *A Second Paradise: Indian Courtly Life, 1590-1947*, Garden City, New Jersey, Doubleday, 1985.
- Prasad, Lal Bahadur : *Indian Political System and Law*, New Delhi, Shree, 2005.
- Pruthi, R.K. : *Indian Political Thought*, New Delhi, Mohit Pub., 2007.
- Ram, S. and R. Kumar : *Encyclopaedia of Indian Freedom Struggle*, Commonwealth Pub., New Delhi, 2008.
- S.C. Gangal and Anurag Gangal : *Contemporary Global Problems : A Gandhian Perspective*, Jammu, Vinod, 1995.
- Sarma, P.V. : *Gandhian Philosophy and Human Development*, New Delhi, Kanishka Pub., 2008.
- Seligman, E. R. A. : *Currency Inflation and Public Debts*, New York, 1922.
- Yasin, Mohammad : *Indian Politics : Processes, Issues and Trends*, New Delhi, Kanishka, 2004.

Welfare's Social Provisions and Labour Perspective

Dr. Jai Vardhan

M.A., Labour and Social Welfare

The task faced by modern society is to resolve the dilemma of achieving both social responsibility and the creativity that guarantees the means of its support. In articles that range from Helen Ginsburg and Marguerite Rosenthal on the quintessential social democratic model in Sweden to that of Phineas Baxandall on the manifest need in Hungary (whose economic collapse meant that a state presumably founded on social welfare could no longer provide it), the authors examine the history and present circumstances of the 'welfare state' in nine countries. In addition to the cogent assessment of the question posed by the title, the work is recommended for the wealth of detail that forms a veritable compendium of social legislative history within the countries discussed.

Of particular interest to an American is the greater consensus that Europeans accord the institution of welfare. Gertrude Goldberg in her introduction observes that welfare's aristocratic origins in the policies of Otto von Bismarck endow the system with an appeal that transcends the vicissitudes of party politics. Welfare antedates parliamentary democracy as it adapts from earlier aristocratic traditions of civil service stewardship. Thus, in patrician Sweden where the civil service had implemented the egalitarian principles of Social Democracy, welfare has only recently been challenged, not by traditional classes but by the global demands of the market model. Its institutional origins probably account for Mark Kesselman's finding that welfare in France does not appear to be strongly correlated to political party agendas. Nor in the United

Kingdom, Jane Millar argues, has the system deteriorated much despite Margaret Thatcher's opposition. The German historic home of welfare legislation faces current pressure from both the price stability requirements of the nation's prominence in the global economy and the strains of integrating a former communist state within its borders. Gerhard Backer and Ute Klammer note the legacy of the Weimar Republic's experience in driving what they describe as the dismantling of the welfare state.

Two other countries—Japan and Italy—exhibit features of a welfare system that integrates preexisting social structures. Masami Nomura and Kimiko Kimoto on Japan indicate the uncompensated economic role of the wife. Enrica Morlicchio, Enrico Pugliese, and Elena Spinelli find a similar situation in Italy. On the other hand, the nurturing function of women in Sweden—particularly child and elder care—has received modern recognition as socially useful work because they are taken out of the home and paid by state programs. Unlike Sweden, the wives in Japan and Italy remain only indirectly compensated for their socially sanctioned role. The architect of the post-World War II 'welfare state,' the model that most clearly comes to mind when describing its 'golden age,' is the English statesman Sir William Beveridge. In 1942, he proposed a program for post-war income security that included comprehensive social insurance and national assistance programs. He advocated a full employment program. Social insurance was to be universal, compulsory, and contributory, and the benefits were at the same flat subsistence rates for all. The Beveridge plan was hailed as a landmark in social-security thought with influences throughout every major country in the world.

Aspects of the plan are found in both Canada and the United States occasioned by the duress of the Great Depression. Nineteenth century liberalism informs the prevailing attitudes to the role of government in both countries. Patricia Evans, for example, notes the paradox resulting from universal healthcare: although Canada's welfare system is considered the more compassionate, it is actually less well-funded than that of the United States. Also, ideological hostility in both countries is muted by welfare recipients, who themselves become a clientele with a vested interest in the institution. Goldberg concludes that the welfare state is beleaguered.

The Bretton Woods collapse and consequent inflationary liquidity caused by every central bank's scramble for the others' currency led to today's primary concentration on price stability. The globalized banking system constrains national fiscal policies required to deal with rising unemployment. That and an aging population have increased welfare costs. Whether rising costs are viewed as a problem within the welfare state or an attack on the institution itself remains to be seen. This collection marshals substantial evidence for a knowledgeable debate on the topic.

Self-employed individuals enjoy benefits related to owning their own business, including a sense of autonomy, greater flexibility in scheduling and unlimited opportunities for long-term growth and professional development. However, this freedom comes with pitfalls. Individuals working for large companies may have a greater sense of security and deeper safety net, including health insurance, retirement options and relatively stable income.

To counteract this disparity, self-employed workers can take advantage of social welfare benefits designed to help stabilize self-employed workers' lives. These include options for health care, food procurement and business development. Self-employed workers may be eligible for social welfare benefits related to health insurance, according to the National Center for Health Statistics. Additionally, between 1990 and 1994, some states passed laws requiring health insurance carriers to offer affordable health

insurance coverage to self-employed workers. California, Florida and Washington, among other states, established pools for small businesses to purchase affordable coverage.

For example, the Washington State Health Insurance Pool is for individuals whose high-risk insurance backgrounds prevent them from being accepted into traditional health insurance pools and for others who cannot afford traditional health insurance—such as self-employed workers. In 1993, between 4 and 5 percent of non-elderly self-employed workers took advantage of social welfare benefits related to health care, according to a National Center for Health Statistics study. Self-employed workers also gained increased tax deductibility benefits to mitigate the cost of privately-purchased health insurance, following the 1996 passage of the Health Insurance Portability and Accountability Act.

References

- European Commission / Eurostat. 2002. *European Social Statistics: Demography*. Luxembourg: Office for Official Publications of the European Communities.
- Lewis, J. 2002. "Gender and Welfare State Change." *European Societies* 4, no. 4: 331-357.
- Michel, Sonya, and Rianne Mahon, eds. 2002. *Child Care Policy at the Crossroads: Gender and Welfare State Restructuring*. New York: Routledge.
- Mitchell, Brian R., 1998. *International Historical Statistics: Europe 1750-1993*, London: Macmillan Reference.
- Pedersen, Susan. 1993. *Family, Dependence, and the Origins of the Welfare State: Britain and France 1914-1945*. Cambridge, UK: Cambridge University Press.
- Sainsbury, Diane, ed. 1994. *Gendering Welfare States*. Thousand Oaks, CA: Sage.
- Trägårdh, L. 1997. "State Individualism: On the Culturality of the Nordic." In *The Cultural Construction of Norden*, Sørensen and Bo Strath. Oslo: Scandinavian University Press.
- Acharya, Harihar (1992). *Participation of Women in the Management of Community Forests in Gorkha, Nepal* (draft). Save the Children Fund/US, Kathmandu.
- Acharya, Meena and Pushpa Acharya (1997a). *Gender Equality and Empowerment of Women*, A Status Report. UNFPA, Kathmandu.
- Action Aid (1998). *A Public Secret: An Exploratory Study on Hidden Sex Work in Kanchanpur District*, Kathmandu.
- ADB (1992). *The Bank's Medium-Term Strategic Framework (1992-1995)*. Manila.
- ADB (1993). *The Bank's Operational Strategy in Nepal*. Manila.
- ADB (1998). *Country Assistance Plan (CAP), Nepal*.
- ADB (1998). *The Bank's Policy on Gender and Development*. Manila.
- Bajracharya, Deepak, et al., (1990). *Women and the Management of Energy, Forests, and Other Resources*, MPE series No.3. ICIMOD, Kathmandu.
- Basnet, Mira (1997). *The Role of Women in the Movement for Democracy in Nepal* (in Nepali). Variety Printers, Kathmandu.
- Bhatt, N., L. Shrestha, B.T. Slayter, and I. Koirala (1994). *Managing Resources in a Nepalese Village: Changing Dynamics of Gender, Caste and Ethnicity*. IIDS, Kathmandu.
- Boserup, Easter (1970). *Women's Role in Economic Development*. George Allen and Unwin, London.
- CEDA (1981). *Statistics of Women in Nepal*. Vol. 2, Parts 1-9.
- Central Bureau of Statistics, (1995). *Population Monograph of Nepal*; Kathmandu.
- Central Bureau of Statistics/NPC/HMGN (1996). *Nepal Living Standards Survey, 1995/96, Main Findings*. Vol. I. & II, Kathmandu.
- Centre for Women and Development (1989). *Production Credit for Rural Women: An Impact Evaluation Study*. Kathmandu.

Globalization and Human Trafficking

Rajeev Kumar Rai

**M.A., Labour and Social Welfare
Patna University, Patna**

Globalization demands that social workers embrace more than just local and national perspectives; they must adopt an international viewpoint as well. A negative aspect of globalization that deserves more attention is the international movement of labour. This paper presents a description and analysis of trafficking, the more deleterious part of this movement of people, in a global context.

Decision makers seeking to make global migration more humane need to know about the dynamics and process of trafficking, as well as ways to combat it. Definitional controversies, contextual issues (including the dynamics and processes of trafficking), and consequences of this movement for individuals and societies are discussed. Implications for social work are also presented.

Globalization has resulted in an unprecedented flow of capital, goods and services, and labour into every continent and nearly every country in the world. Although much has been written on capital flows and emerging markets (Friedman, 2000), not as much attention has been given to the tremendous flow of people seeking work outside of their home countries. Indeed, in 2006 the International Organization for Migration estimated that there were more than 191 million immigrants worldwide (IOM, 2006).

Immigrants are frequently treated as outsiders in their host countries and not afforded the same protection and rights as citizens (Engstrom, 2006; Aleinikoff & Klusmeyer, 2002).

In part because of their outsider status, immigrants are particularly vulnerable to exploitation and other harms, and nowhere is this more apparent than in human trafficking, a violation of basic human rights that is aptly viewed as a modern form of slavery. Human trafficking represents perhaps the worst form of labour exploitation and can be regarded as one of the dark sides of globalization.

Trafficking supplies human beings for prostitution, sweatshop labour, street begging, domestic work, marriage, adoption, agricultural work, construction, armed conflicts (child soldiers), and other forms of exploitive labour or services. Estimating with any accuracy the number of victims of human trafficking is a daunting task, so much so that the United Nations Office on Drugs and Crime stated that such a "statistical goal may prove to be unachievable" (UNODC, 2006, p. 45).

Methodological problems have not, however, prevented organizations and scholars from offering widely ranging estimates. For example, a 2005 report by the International Labour Organization said that there were approximately 12,300,000 victims in forced labour in the world (ILO, 2005), while Bales (2005) offered an estimate of 27 million. There is general agreement that the majority of persons trafficked are female, perhaps nearly 80 percent (UNODC, 2006).

Labour exploitation of trafficked persons is hugely profitable. One estimate places the global profits at approximately \$32 billion annually (Feingold, 2005). The U.S. Department of Health and Human Services (US DHHS) described trafficking as the fastest growing criminal industry in the world (2004). Among illegal enterprises, trafficking is second only to drug dealing, and tied with the illegal arms industry, in its ability to generate dollars.

Human trafficking is both a global problem and a domestic problem. The United States is a major receiver of trafficked persons: It is estimated that 15,000 to 50,000 of internationally trafficked victims arrive in the United States each year (United States Department of State [US DOS], 2005; US DHHS, 2004; UNODC, 2006).

Trafficked victims can be found in various sectors of the U.S. economy, including prostitution, sweatshops, factories, and service industry work (US DHHS, 2004). These data demonstrate the scope of the problem.

Human trafficking is a highly underreported crime and victims can be extremely difficult to identify (Hopper, 2004). Due to the criminal, secretive nature of human trafficking, victims are often hidden in brothels, homes, and businesses. Moreover, law enforcement, social workers, health care professionals, and other authorities rarely encounter victims of human trafficking, both because they are frequently unaware of how to identify potential victims and because victims are intentionally kept out of sight (Diaz, 2006).

Even if victims do come into contact with law enforcement or social services, they are usually reluctant to ask for help, partly as a result of psychological coercion but also because they fear retribution from the trafficker (United States Department of Justice [US DOJ], 2006). Many victims come from countries with oppressive governments and are therefore fearful of any type of government official or authority figure (Human Rights Center, 2004).

Those who are trafficked are among the most vulnerable and exploited individuals in the new global economy that spawned this phenomenon. Now more than ever, social

workers need a global perspective (Healy, 2001) to understand the issues that are contributing to international migration, including the problem and dynamics of human trafficking.

Social workers need to recognize that some of the thousands of trafficked people in the United States will end up as our clients in emergency rooms, domestic violence shelters, mental health facilities, and child welfare systems. To intervene effectively, social workers must become aware of the realities of trafficking. Decision makers seeking to make global migration more humane also need to know about the dynamics and process of trafficking, as well as ways to combat it. It is within this framework—of trafficking in a global context—that this paper is presented.

Defining trafficking can be difficult. There is no single, universally accepted definition of trafficking (Arnold & Bertone, 2002; IMO, 2000). Trafficking is often confused with smuggling or illegal immigration; it is not synonymous with either, but may involve both. Smuggling can be defined as “the facilitation, transportation, attempted transportation, or illegal entry of a person or persons across an international border in violation of American immigration laws” (US DOJ, 2006, pp. 9-10).

Sometimes smuggling can turn into trafficking: for example, when people pay to be smuggled into a country, but

once there, find that they owe a large debt and are not free to leave. Human traffickers and human smugglers often work together to supply the U.S. labour market with workers (Cole, 2005).

Definitions of trafficking found in international and national law emphasize the elements of deception, fraud, and coercion for the purpose of exploitation. The UN defines human trafficking as:

The recruitment, transportation, transfer, harbouring or receipt of persons, by means of threat or use of force or other forms of coercion, of abduction, of fraud, of deception, of the abuse of power or of a position of vulnerability or of the giving or receiving of payments or benefits to achieve the consent of a person having control over another person, for the purpose of exploitation. Exploitation shall include, at a minimum, ... the prostitution of others or other forms of sexual exploitation, forced labour or services, slavery or practices similar to slavery, servitude or the removal of organs (UN, 2000, art. 3).

The protocol further specifies that consent of the person being trafficked is irrelevant. The protocol affords trafficked persons the status of victims even if they are involved in illegal activities. The UN Trafficking Protocol has received widespread international support, with 117 signatories (The Future Group, 2006).

The debate within the field reflects honest definitional disagreements: for example, over the extent to which

coercion and exploitation are necessary elements and whether a national border need be crossed for an activity to be labelled trafficking (Mekong Region Law Center, 1999). The lack of a common, accepted definition has resulted in much confusion on how governments and nongovernmental organizations (NGOs) ought to respond, confusion about these entities' roles, and difficulty in getting accurate counts of the numbers of trafficked persons.

Definitional issues over human trafficking are further compounded when one examines specific areas of labour exploitation. Prostitution provides perhaps the best and most studied example of the tension over an operational definition of the term. Prostitution arouses major concern because it is usually an illegal activity and carries stigmas that make it more difficult for the trafficked to escape than other types of work. Prostitution is also likely to involve the most vulnerable segments of the population: women and children (Derks, 2000; Hollingsworth, 2003); however, it is important to note that significant numbers of males are also trafficked as sex workers (Leuchtag, 2003).

Most anti-trafficking advocates, service providers, and policy makers believe that all those involved in the sex trade are coerced in some way. They argue that prostitution cannot be regarded as a rational choice, because too often it is a forced choice by those who have no alternatives for

economic survival (Leidholdt, 2003). Advocates for trafficked women also stress the issue of exploitation, because traffickers know how to take advantage of a victim's vulnerability.

For example, foreign women may agree to enter another as entertainers, but then find themselves functionally helpless in a country with a culture far different from their own, where they are subject to economic pressures and race and gender oppression that may drive them without overt coercion into the sex trade. Women may even agree to be trafficked for prostitution, but when they arrive at their destination they find the conditions to be much worse than they had agreed to or been promised – but they have no way to get out of the deal gone bad or return home.

In contrast, some advocates for women perceive that the issue of trafficking has been used to focus unwanted, unneeded attention on women who have voluntarily chosen to become sex workers, and claim that some trafficked prostitutes might not agree with the victim label (Biemann, 2005). In the opinion of these commentators, many women who are classified as trafficked have made rational decisions to do sex work, and do not require "rescue." These advocates emphasize the need to educate sex workers about safe sex practices and to monitor the working conditions in brothels and massage parlours (Engstrom, Minas, Espinoza, & Jones, 2004).

References

- Aleinikoff, T. A., & Klusmeyer, D. (2002). *Citizenship policies for an age of migration*. Washington, DC: Carnegie Endowment for International Peace.
- Arnold, C., & Bertone, A. (2002, Winter). Addressing the sex trade in Thailand: Some lessons learned from NGOs, part 1. *Gender Issues*, 26-51.
- Bales, K. (2005). Disposable people: New slavery in the global economy.
- Berkeley, CA: University of California Press.
- Biemann, U. (2005, July). Remotely sensed: A topography of the global sex trade 2005. *Feminist Review*, 80(1), 180-184.
- Cole, T. (2005). Modern slavery a hidden crime in the US. *Journal of the American Medical Association*, 294(5), 541-542.
- Derks, A. (2000). *Combating trafficking in South-East Asia*. Geneva, Switzerland: International Organization for Migration.
- Diaz, M. (2006). *Barriers faced by human trafficking victims in accessing services under the Trafficking Victims Protection Act*. Unpublished master's of social work thesis. San Diego State University.
- Engstrom, D. W. (2006). Outsiders and exclusion: Immigrants in the United States. In D. W. Engstrom & L. Piedra (Eds.), *Our diverse society*. Washington, DC: NASW Press.
- Engstrom, D. W., Minas, S. A., Espinoza, M., & Jones, L. (2004). Halting the trafficking of women and children in Thailand for the sex trade: Progress and challenges. *Journal of Social Work Research and Evaluation*, 5(2), 193-206.
- Farley, M. (2003). Preface: Prostitution, trafficking, and traumatic stress. *Journal of Trauma Practice*, 2(3/4), 17-28.
- Feingold, D.A. (2005, September/October). Human trafficking. *Foreign Policy* 150 26-31.
- Friedman, T. (2000). *The Lexus and the olive tree*. New York: Anchor Books.

Religious Stratification: Its Origins, Persistence and Consequences

Anand Vardhan

Lecturer, Girish Narayan Mishra College,
Parasthua, Rohtas

As sociologists, our job is to study social structures and processes. One of the things we have studied most is social stratification, the vertical ranking of individuals and groups in terms of their access to power, privilege, and prestige (Lenski 1966). Power is a largely political concept having to do with people's ability to get their way even when opposed by others. Privilege refers to economic resources, such as inherited wealth and the income people derive from work. Prestige reflects the amount of honour and respect given to factors such as different amounts of education, private and public schooling, and white collar and blue collar jobs. We are all familiar with studies documenting the vertical ranking of religious groups. Pyle (2006) has shown how religious families (such as "liberal Protestants," "conservative Protestants," Catholics, and Jews) rank in education, occupational prestige, and income. Smith and Faris (2005) published a similar analysis comparing specific Protestant denominations. Keister's (2006) book *Getting Rich* ranks religions in term of their members' wealth. Such rankings routinely appear in introductory textbooks in sociology and the sociology of religion.

The existence of these rankings is not in dispute. But the interpretation of them is. First, there is the question of origins: under what conditions does religious stratification arise? Most sociologists believe it has more to do with factors such as race, class, and gender than religion (e.g., Rothman 2005). They assume that these other factors are ascribed and, therefore, can not be changed, but that religion is purely a matter of personal choice (if your religion is holding you back, you can easily switch to one that does not).

They also think religious affiliation is not as visible—and therefore not as useful—as race, class, and gender in deciding who should, or should not, have access to social rewards. They assume that religion is of little or no social significance in modern society and that people's religious affiliations do not matter as much as they used to. Thus, they argue, any correlation is either spurious or due to the effect that access to resources has on religion, not the effect that religion has on access to resources. When they do consider religion, they usually frame the issue in terms of the Protestant ethic thesis (Weber 1958; Lenski 1961).

I believe religion has more to do with the origins of religious stratification than many colleagues think. For one thing, religion is an ascribed quality for most people: the vast majority of Americans never change their religion, even when it would be in their interest to do so (Fischer and Hout 2006; Kosmin and Keysar 2006).⁽¹⁾ All you have to do is watch the news on TV or read the newspapers to know that religion and religious affiliation still matter to people. Also, as Keister (2003, 2006), Pyle (2006), and others have shown, religion affects people's access to resources, even after other factors are taken into account. But, its effects can not be explained in terms of the Protestant ethic thesis, which is seriously flawed. It does not address the denominational differences among Protestants, and it does not take Jews and other religious traditions into account. It focuses on the groups' religious values, but ignores their worldly self-interests. It treats religious groups as separate entities, which they are not (historically, theologically, or sociologically). It assumes that groups are able to act without opposition from other groups, which simply is not true. It assumes that groups are able to act without opposition from other groups, which simply is not true. It blames the victims, which we are not willing to do in studies of race, class, and gender. And, as numerous reviews of the literature indicate, the evidence simply does not support the theory (e.g., Bouma 1973; Greeley 1964). We need to find another way to explain the origins of religious stratification.

Second, how does religious stratification persist and change over time? Many sociologists emphasize the amount of change that has taken

place in religious ranking over the course of U.S. history (e.g., Hammond 1992; Warner 2006). They argue that many of the conditions that fostered differences between religious groups on more equal footing. They point to the fact that our laws no longer permit religious establishments and religious discrimination the way they did 200 to 300 years ago. I also take issue with this argument. It underestimates the tenacity of stratification in general and religious stratification in particular. It also puts too much emphasis on laws and overlooks other factors that contribute to the persistence of inequalities based on religion. We need to account for change, but we also need to explain why some groups are at essentially the same rank they were at two or three centuries ago.

Third, what effect does religious stratification have on society, if any? Some sociologists believe it is of little or no consequence, because—in their view—religion has nothing to do with it. Others have a functionalist view, believing religious stratification is a good thing. For example, Baltzell (1964) felt that our society benefited from having a Protestant Establishment and suffers from not having one any more (Baltzell and Schneiderman 2001).

Once again, I beg to differ. At least some of the ranking is related to religion, and its effects are more negative than positive. Just as inequalities based on race, class and gender destabilize society, so do inequalities based on religion. We know that racial, class, and gender stratification produce social problems that otherwise would not exist. Why not

assume that religious stratification does not same thing?

Some former and current grad students and I have pursued these three issues in several recent studies (Coe and Davidson 2007; Davidson 1985, 1994; Davidson, et al. 2005; Davidson and Pyle 2005; Davidson, et al. 1995; Morgan and Davidson 2007; Pyle 1996; Pyle and Davidson 2003; Pyle and Koch 2001; Soper and Davidson 2007). I would like to share some of our findings. First, I will briefly outline the approach we are using. Then, I will summarize what we have learned about the origins of religious stratification in America's colonial period, offer some new observations about how it has persisted and changed, and introduce some thoughts about how it destabilizes society. When I am finished, I will say a couple of words about future research, including research at the meso- and micro-levels. Given the theme of the 2007 annual meeting, I will conclude with a few thoughts about building a more just and equal society.

Our Approach

We wanted a macro-level approach that would allow us to link studies of stratification based on race, class, gender—and religion. We believe that conflict theory allows us to do that better than other approaches. It has produced robust interpretations of inequalities related to race, class, and gender (Anderson and Massey 2004; Crompton and Mann 1986; Geschwender 1978; Huber 1986; Nerad 1999). We think it can do the same for analyses of religious stratification.

Basically, we are using a Weberian—not a Marxian—version of conflict theory (Landry 2007; Rothman 2005; Pyle 1996). We assume that society is in constant turmoil. The main reason for this is the co-existence of different races, classes, genders, and religions. Under certain conditions, these groups develop unequal access to power, privilege, and prestige. The groups that get the upper hand try to pass laws, develop ideologies, and create customs aimed at preserving their advantages over others. Of course, they encounter opposition, but to the extent that they succeed, inequality is transformed into a more permanent pattern of stratification.

References

- Farnsley II, Arthur E., N.J. Demerath III, Etan Diamond, Mary L. Mapes, and Elfriede Wedam. 2004. *Sacred Circles, Public Squares*. Bloomington, IN: Indiana University Press.
- Finke, Roger, and Rodney Stark. 1992. *The Churched of America, 1776-1990*. New Brunswick, NJ: Rutgers University Press.
- Gaustad Edwin Scott. 1962. *Historical Atlas of Religion in America*. New York: Harper and Row.
- Gerber, David A. 1986. *Anti-Semitism in American History*. Urbana, IL: University of Illinois Press.
- Geschwender, James A. 1978. *Racial Stratification in America*. Dubuque, IA: W.C. Brown.
- Gordon, Milton. 1964. *Assimilation in American Life: The Role of Race, Religion, and National Origins*. New York: Oxford University Press.
- Greeley, Andrew M. 1964. "The Protestant Ethic: Time for a Moratorium." *Sociological Analysis* 25:20-33.
- Higham, John. 1988. *Strangers in the Land*, 2nd edition. New Brunswick, NJ: Rutgers University Press.

Secularity: West and East

Amit Kumar

There now exists a body of thought in the historical and social sciences that has, quite accurately, been called secularization theory. This theory, of course, has not been without its critics, but even for them it has served as a useful foil for various explorations of the fate of religion in the contemporary world. Most broadly, secularization theory proposes a positive relationship between modernity and secularity, in the sense that modernization has brought about a decline in the importance of religion both on the level of institutions and on the level of individual consciousness. In other words, secularization theory proposes a certain view of the way in which modernity has acted upon religion. It is important to point out, however, that there is another aspect of secularization theory, which deals not with the effects but with the roots of modernity. This version of secularization theory proposes that modern secularity, however inimical it might now be toward religion, has religious roots itself. In other words, it is here proposed that religion has served as a causal factor in the genesis of modernity. This proposition (which, incidentally, has had an interesting career within recent Christian theology) refers specifically to the allegedly secularizing consequences of the Judaeo-Christian tradition. It is paradoxical, even ironic view of western history, the alleged secularizing consequences, of course, are deemed to have been unintended and unanticipated. In any case, these two aspects of the problem of modern secularity, though distinct, are very much related, indeed intertwined. This interrelation of the two aspects becomes particularly clear as one moves from West to East in one's thinking, as I will try to show in what follows.

Secularization theory, of course, originated in the context of Western scholarship, and this provenance has inevitably affected the way in

which the theory has been applied to Eastern cultures. This is not at all to attribute ethnocentrism or cultural arrogance to the Western scholars in question; in most instances such a suggestion would be grossly unfair. Also, no agreement is implied here with the currently widespread notion that cultures can only be properly studied by insiders; on the contrary, the outsider often perceives things that the insider overlooked. All the same, one must ask whether the application of secularization theory to Eastern cultures has not resulted in distorted or misleading perceptions because these cultures, and the religious traditions pertaining to them, were observed through, as it were, Western eyeglasses.

These considerations apply to the view of Western historians and social scientists of any number of non-Western cultures (thus there has been a vigorous controversy in recent years concerning the view of the Islamic world in Western scholarship). It seems to me that a particularly important issue in this connection is the view of the relation of modernity and religion in the cultures of Eastern Asia. The reason for saying this is simple but far-reaching: Eastern Asia, I believe, is the only region in the non-Western world in which a new, fully developed and distinctive modernity is taking shape. Putting it concisely: Until very recently, when one tried to understand modernity, there was only one case to deal with — the West and its effects on the rest of the world. Or, if one prefers: Modernization and Westernization were virtually identical processes. This is no longer so. One now has, at any rate, *two* cases to deal with — Western (and Western-style) modernity on the one hand, and the new modernity of Eastern Asia on the other. Science thrives on comparison. In this as in other areas of analysis, therefore, testing Western-derived theories against the realities of Eastern Asia is likely to be a productive undertaking.

The undertaking should be of interest to many people who are not very much concerned with religious issues *per se*. Eastern Asia is a region of rapidly increasing importance in the contemporary world. The main reason for this,

of course, is what can aptly be called the East-Asian economic miracle. Its hub is Japan, which remains to date the only non-Western country to have joined the ranks of advanced industrial societies (and which, quite possibly, may soon lead those ranks economically and technologically). But Japan is no longer alone in the religion's economic dynamism. There are the booming societies of South Korea, Taiwan, Hongkong and Singapore, together constituting the most dramatic success stories (at least economically speaking) in the Third World. There are indications that the same dynamism is at work in several Southeast Asian societies beyond Singapore, though, for a number of reasons, it is as yet somewhat premature to speak of success stories. There remains the vast question of the future relation of the People's Republic of China to the economic dynamism on its doorsteps. In any case, even if one limits oneself to Japan and the aforementioned four societies, the question of the distinctive features of their economic development is of very great importance. The question must necessarily touch on cultural factors, and among these religion and religiously derived morality. The present topic, then, is not just for specialists in the field of religion.

Needless to say, the topic is highly complex. It is necessary to say that I can claim no expertise on the cultures and religious traditions of Eastern Asia. I do feel qualified,

however, to raise questions in this area, even if I must leave it to others to suggest answers.

References

- Berkes, Niyazi. *The Development of Secularism in Turkey*. Montreal: McGill University Press, 1964.
- Bhargava, Rajeev, ed. *Secularism and Its Critics*. New Delhi, India: Oxford University Press, 1998.
- Bruce, Steve, ed. *Religion and Modernization: Sociologists and Historians Debate the Secularization Thesis*. Oxford: Clarendon, 1992.
- Chadwick, Owen. *The Secularization of the European Mind in the Nineteenth Century*. Cambridge, U.K.: Cambridge University Press, 1976.
- Dobbelaere, Karel. "Secularization: A Multidimensional Concept." *Current Sociology* 29, no. 2 (1981): 3-213.
- Jacoby, Susan. *Freethinkers: A History of American Secularism*. New York: Henry Holt, 2004.
- Keddie, Nikki R. "Secularism and Its Discontents." *Daedalus* 132 (summer 2003): 14-30.
- Royle, Edward. *Radicals, Secularists and Republicans: Popular Freethought in Britain, 1866-1915*. Manchester, U.K.: Manchester University Press, 1980.
- Ruedy, John. *Islamism and Secularism in North Africa*. New York: Palgrave Macmillan, 1994.
- Smith, Christian. *The Secular Revolution: Power, Interests, and Conflict in the Secularization of American Public Life*. Berkeley: University of California Press, 2003.
- Tamimi, Azzam, and John L. Esposito, eds. *Islam and Secularism in the Middle East*. London: Hurst, 2000.
- Yared, Nazik Saba. *Secularism and the Arab World: 1850-1939*. London: Saqi Books, 2002.

Khabra, Muzaffarpur

New Release

THE WORLD OF CHEMISTRY

By Dr. Sapna Kumari

Chemistry is the science concerned with the composition, structure, and properties of matter, as well as the changes it undergoes during chemical reactions. It is a physical science for studies of various atoms, molecules, crystals and other aggregates of matter whether in isolation or combination, which incorporates the concepts of energy and entropy in relation to the spontaneity of chemical processes. Modern chemistry evolved out of alchemy following the chemical revolution.

Electronic Commerce and Knowledge Economics

Dr. Sudhir Kumar Suman

Asst. Prof. of Commerce, KPS College
Gaya, Magadh University, Bodh Gaya

Knowledge Economics in a Post-Capitalist Global Economy

"Knowledge remains an infuriatingly vague subject to write about-let alone sell. Telling a reasonably effective company that it should focus on "knowledge creation" is rather like telling an orchestra that it should concentrate on "music making"."

The Economist, 1997

On the macroeconomic scale, knowledge is also the focus of analysis of the "new" dynamics of the global economy. In an era of globalized, highly-mobile financial capital, multinational corporations can essentially "arbitrage" across national borders to find the best firms to integrate into their mode of production. Reich (1991) writes that in the new "global web" of enterprise, "power and wealth flow to groups that have accumulated the most valuable skills in problem-solving, problem-identifying, and strategic brokering". Drucker (1991) claims that this globalization of enterprise and economic transactions is transforming the world economy from capitalism to a "post-capitalist society."

Capitalism and post-capitalism

"Our plan is to lead the public with new products rather than ask them what kind of products they want. The public does not know what is possible, but we do. So instead of doing a lot of market research, we refine our thinking on a product and its use and try to create a market for it by educating and communicating with the public."

Akio Morita, Chairman, Sony Corporation

In a capitalist society, wealth flows to those who control the flow of financial capital. In the early days of manufacturing, the capital requirements of production facilities were

modest, allowing the accumulation of physical capital to be financed internally by the increased production afforded by factory methods.

But as the technologies of production grew more sophisticated and their resource demands increased, economies of scale emerged. This placed greater emphasis on the ability of enterprises to access financial capital. Also, as noted by Chandler (1977), the rise of an entirely new class of industry, namely communications and transportation firms, required distributed facilities and closely-coordinated. Since financial capital is now widely available across them the development of these enterprises. The development of public capital markets increased the range of tools and the breadth of skills which managers could use to acquire financing. This has led to the rise of financial markets of such tremendous sophistication that humans can navigate these environments only with the aid of computers. In turn, managers are concerned that their actions are now dictated by financial forces beyond their control; they are no longer able to channel financial capital, but instead are beholden to its demands.

In post-capitalist economics, wealth flows not to those who control financial capital, but to those who can acquire and direct intellectual capital. Since financial capital is now widely available across the world, effective money management is only one skill necessary to the success of firms. The increased velocity of commerce (especially electronic commerce) and competition demands multi-faceted expertise from a firm. In fact, the changes in the world economy are placing requirements of skills and resources that often exceed those of a single enterprise, necessitating the formation of multiple alliances to ensure that the members of each alliance can marshal the intellectual capabilities to deal with the complexities of their environment. Only through the judicious and experienced application of knowledge can firms hope to outperform their counterparts and achieve sustained competitive advantages.

The post-capitalist knowledge-based economy operates with dynamics which differ radically from those assumed by neo-classical economics. First, unlike other forms of capital, intellectual capital is not only unevenly distributed, but it tends to grow without physical

limits. A firm which captures and exercises unique knowledge capabilities will tend to attract more expert employees, thus exhibiting "increasing returns to scale." According to Arthur (1996), this dynamic leads to a new form of economics, namely knowledge economics, that is very different from traditional, process-oriented economics. He notes that "they call for different management techniques, strategies, and codes of government regulation".

Second, in traditional economics, free markets are the purest form of economic organization, and competition between diverse enterprises provides the "invisible hand" which Adam Smith (1776) claimed would guide market participants to mutual gains through trade. However, free market efficiency is predicated on numerous stylized assumptions, including perfect information symmetry provided by price signals.

We now know that prices do not perfectly capture all information relevant to a transaction, leading in some cases to the use of bureaucratic organizations to conduct transactions (Williamson, 1985). Since information is often not distributed symmetrically, knowledge (which is based upon information) is also concentrated unevenly. Therefore, in knowledge-based markets, pure competition may not result in the most efficient solution. A direct corollary is that while a lack of competition is assumed to be a market failure in traditional economics, it may be an optimal solution in certain situations in knowledge-based economics. Third, the forms of organization

in knowledge-based economies differ from those in traditional markets. Chandler (1977) shows how mass production and mass distribution required a level of coordination best handled by bureaucratic mechanisms within the firm. Transaction cost economics, as described in Williamson (1985), suggests that the "visible hand of management," in Chandler's terminology, will supersede the invisible hand of the market when the dimensions of the transactions, such as asset specificity, transaction duration or recurrence, complexity, and measurement problems, create a situation where internal coordination and control can govern those transactions more efficiently than market mechanisms.

A key assumption of transaction cost economics is that individual opportunism will require coercive control and monitoring to ensure economic efficiency in such transactions (Ghoshal and Moran, 1996). If opportunism is not assumed in all cases, or if opportunism is exercised along a continuum instead of assumed as an absolute, it is possible for other forms of organization to emerge, including internal markets (Halal, 1996) and hybrid organizations.

Andy Grove, Chairman, Intel Corporation

In its 1993 Agenda for Action and its 1995 Agenda for Cooperation, the Clinton Administration laid out its vision of the issues involved in promoting the spread and use of the National Information Infrastructure (NII) and the Global Information Infrastructure (GII). In July 1997, the

Administration plans to release another landmark report titled "A Framework for Global Electronic Commerce", that will outline the key domestic and international policies that will allow the Internet to develop and extend throughout the world at the core of NII and GII.

The five key principles of the upcoming report are:

- a. The private sector should lead in the development of NII and GII.
- b. Governments should avoid undue restrictions on electronic commerce.
- c. Where a governmental involvement is needed, its aim should be to support and enforce a predictable, minimalist, consistent and simple legal environment for commerce.
- d. Governments should recognize the unique qualities of the Internet.
- e. Electronic commerce over the Internet should be facilitated on an international basis.

Furthermore, the report focuses on nine areas where international agreements and/or guidelines could facilitate the growth of electronic commerce by creating a predictable, market-oriented commercial framework:

- a. financial issues
 - i. customs and taxation
 - ii. electronic payment systems
- b. legal issues
 - iii. uniform commercial code for electronic commerce
 - iv. intellectual property protection
 - v. privacy
 - vi. security

- c. market access issues
 - vii. telecommunications infrastructure and interoperability
 - viii. content
 - ix. technical standards.

Beyond the policy-making level, three key issues that will determine the long term viability of electronic commerce are:

- a. technological feasibility: the extent to which technology – bandwidth availability and information reliability, tractability, and security – will be able to sustain exponentially increasing demands worldwide.
- b. socio-cultural acceptability: the extent to which different cultures and ways of doing business worldwide will accommodate this new mode of transacting in terms of its nature (not face-to-face), speed, asynchronicity, and uni-dimensionality of transactions.
- c. business profitability: the extent to which this new way of doing business will allow for profit margins to exist at all: no intermediaries, instant access to sellers, global reach of buyers. It is of course too early to pass judgment on any of these points: the technology is truly very young and also expanding so quickly that technology maturation is proceeding very slowly (Carayannis, 1996).

Moreover, the significance of privacy, security, and intellectual property rights protection as predicates for the successful diffusion, adoption, and commercial success of

internet-related technologies both for the US and worldwide, especially in places with less democratic political institutions and free-market economies, is continually increasing.

The differentiation between the internet as a global network of computer networks and the intranets, corporate-based computer networks that are protected by “firewalls” and involve well-defined communities as potentially more promising technology platforms for fostering internet-related commerce (Intranet commerce has surpassed Internet commerce in terms of revenue and already more than half of the Web sites worldwide are commercial in nature).

Strategic alliances such as the alliance of Cybercash with Netscape to post Cybercash’s electronic wallet on the internet for using its electronic money or “cheets” to facilitate electronic commerce. More than 100 banks are supporting this technology and its users can have moneys deducted from their accounts automatically while the security of the transactions is guaranteed.

Entry of new competitors such as the cyber market set up by Federal Express to allow commercial cyber-transactions: Fedex believes it is in the business of hauling information not just traditional mail packages. The industry has defined e-commerce too narrowly: many consumers reach a decision to buy on the Web and then buy using some other route (The Economist, 1997).

The online leaders are not the traditional commercial giants of the physical world, but outsiders who often had no

prior experience about the markets they chose to enter.

Areas of business endeavor where electronic commerce matters (The Economist, 1997):

1. Financial services
2. Sex
3. Travel
4. Retailing
5. Music
6. Cars (Auto-by-tel)
7. Advertising & Marketing
8. Books (Amazon.com)
9. Business-to-Business commerce
10. Business-to-Government commerce.

General Electric is doing \$1 billion annually with 1,400 of its suppliers through its Trading Process Network (TPN) Web site and has thus lowered the cost of business between 5 and 20% with 15% of the orders going abroad. With \$30 billion annual purchases, GE “can use its purchasing power to pull entire industries into electronic commerce” (The Economist, 1997).

References

- Gowdy, J., *Coevolution Economics: The Economy, Society and the Environment*, Kluwer, Boston, 1994.
- Granger, Clive W. J.: *Empirical Marketing in Economics, Specification and Evaluation*, London, Cambridge University Press, 1999.
- Guala, F.: *The Methodology of Experimental Economics*, New York, Cambridge University Press, 2005.
- Guarti, Luigi, *The Valuation of Marketing*, Blackwell Publishing, 1994.
- Gul, F. and Pesendorfer, W.: *The Foundations of Positive and Normative Economics*, New York, Oxford University Press 2008.
- Harrigan, K. R.: *Strategies for Declining Businesses*. Lexington, MA: Heath, 1980

Karma Theory of Jainism

Dr. Balendra Pd. Sinha

**Head, Dept. of Philosophy
PR College, Sonapur**

In Jainism, karma is the basic principle within an overarching psycho-cosmology, in which human moral actions form the basis of the transmigration of the soul (*Java*)—constrained *within* the temporal world—until one achieves liberation (*mokca*) from this cycle, by following a path of purification. In Jain philosophy, karma not only encompasses the causality of transmigration, but is also conceived of as an extremely subtle matter, which infiltrates the soul—obscuring its natural, transparent and pure qualities. Karma is thought of as a kind of pollution, that taints the soul with various colours. Based on its karma, a soul undergoes transmigration and reincarnates in various states of existence—like heavens or hells, or as humans or animals.

Jains cite inequalities, sufferings, and pain as evidence for the existence of karma. Jain texts have classified the various types of karma according to their effects on the potency of the soul. The Jain theory seeks to explain the karmic process by specifying the various causes of karmic influx and bondage (*bandha*), placing equal emphasis on deeds themselves, and the intentions behind those deeds. The Jain karmic theory attaches great responsibility to individual actions, and eliminates any reliance on some supposed existence of divine grace or retribution. The Jain doctrine also states that it is possible for us to both modify our karma, and to obtain release from it, through the austerities of purity of conduct. Most scholars are of the view that the doctrine of karma predates the migration of Indo-Aryan peoples, later being developed by the ZramaGas, and finally being assimilated into brahmanical Hinduism, by the time of the Upanicads. The Jain concept of karma has been subject to criticism from rival Indian

philosophies—like Vedic Hinduism, Buddhism, and Sekhya.

Philosophical Overview

According to Jains, all souls are intrinsically pure in their inherent and ideal state, possessing the qualities of infinite knowledge, infinite perception, infinite bliss and infinite energy. However, in contemporary experience, these qualities are found to be defiled and obstructed, on account of the association of these souls with karma. The soul has been associated with karma in this way throughout an eternity of beginningless time. This bondage of the soul is explained in the Jain texts by analogy with gold ore, which—in its natural state—is always found unrefined of admixture with impurities. Similarly, the ideally pure state of the soul has always been overlaid with the impurities of karma. This analogy with gold ore is also taken one step further: the purification of the soul can be achieved if the proper methods of refining are applied. Over the centuries, Jain monks have developed a large and sophisticated corpus of literature describing the nature of the soul, various aspects of the working of karma, and the ways and means of attaining *mokca*.

Material Theory

Jainism speaks of karmic “dirt”, as karma is thought to be manifest as very subtle and microscopically imperceptible particles pervading the entire universe. They are so small that one space-point—the smallest possible extent of space—contains an infinite number of karmic particles. It is these karmic particles that adhere to the soul and affect its natural potency. This material karma is called *dravya karma*; and the resultant emotions—pleasure, pain, love, hatred, and so on—experienced by the soul are called *bhava karma*, psychic karma. The relationship between the material and psychic karma is that of cause and effect.

The material karma gives rise to the feelings and emotions in worldly souls, which—in turn—give rise to psychic karma, causing emotional modifications within the soul. These emotions, yet again, result in influx and bondage of fresh material karma. Jains hold that the karmic matter is actually an agent that enables the consciousness to act within the material context of this universe.

They are the material carrier of a soul's desire to physically experience this world. When attracted to the consciousness, they are stored in an interactive karmic field called *krmana rarira*, which emanates from the soul. Thus, karma is a subtle matter surrounding the consciousness of a soul. When these two components – consciousness and ripened karma – interact, the soul experiences life as known in the present material universe.

Self Regulating Mechanism

According to Indologist Robert J. Zydenbos, karma is a system of natural laws, where actions that carry moral significance are considered to cause certain consequences in the same way as physical actions. When one holds an apple and then lets it go, the apple will fall. There is no judge, and no moral judgment involved, since this is a mechanical consequence of the physical action. In the same manner, consequences occur naturally when one utters a lie, steals something, commits senseless violence or leads a life of debauchery. Rather than assume that these consequences – the moral rewards and retributions – are a work of some divine judge, Jains believe that there is an innate moral order in the cosmos, self-regulating through the workings of the law of karma.

Morality and ethics are important in Jainism not because of a God, but because a life led in agreement with moral and ethical principles (*mahavrata*) is considered beneficial: it leads to a

decrease – and finally to the total loss of – karma, which in turn leads to everlasting happiness. The Jain conception of karma takes away the responsibility for salvation from God and bestows it on man himself. In the words of the Jain scholar, J. L. Jaini:

Jainism, more than any other creed, gives absolute religious independence and freedom to man. Nothing can intervene between the actions which we do and the fruits thereof. Once done, they become our masters and must fructify. As my independence is great, so my responsibility is co-extensive with it. I can live as I like; but my voice is irrevocable, and I cannot escape the consequences of it. No God, his Prophet or his deputy or beloved can interfere with human life. The soul, and it alone is responsible for all it does.

Predominance of Karma

According to Jainism, karmic consequences are unerringly certain and inescapable. No divine grace can save a person from experiencing them. Only the practice of austerities and self-control can modify or alleviate the consequences of karma. Even then, in some cases, there is no option but to accept karma with equanimity. The second-century Jain text, *Bhagavati Aradhana* (verse no. 1616) sums up the predominance of karma in Jain doctrine: "There is nothing mightier in the world than karma; karma tramples down all powers, as an elephant a clump of lotuses." This predominance of karma is a theme often explored by Jain ascetics in the literature they

have produced, throughout all centuries. Paul Dundas notes that the ascetics often used cautionary tales to underline the full karmic implications of morally incorrect modes of life, or excessively intense emotional relationships. However, he notes that such narratives were often softened by concluding statements about the transforming effects of the protagonists' pious actions, and their eventual attainment of liberation.

The biographies of the exploits of legendary persons like Rama (Rma) and Krishna, in the Jain versions of the *Ramayana* and *Mahabharata*, also have karma as one of the major themes. The major events, characters and circumstances are explained by reference to their past lives, with examples of specific actions of particular intensity in one life determining events in the next. Jain texts narrate how even Mahavira, the 24th *tirthaGkara* (ford-maker), had to bear the brunt of his previous karma before attaining *kevala Junin* (enlightenment). He attained it only after bearing twelve years of severe austerity with detachment. The *cranga Sktra* speaks of how Mahavira bore his karma with complete equanimity, as follows.

He was struck with a stick, the fist, a lance, hit with a fruit, a clod, a potsherd. Beating him again and again many cried. When he once sat without moving his body many cut his flesh, tore his hair under pain, or covered him with dust. Throwing him up they let him fall, or disturbed him in his religious postures; abandoning the care of his body, the

Venerable One humbled himself and bore pain, free from desires.

Reincarnation and Transmigration

Karma forms a central and fundamental part of Jain faith, being intricately connected to other of its philosophical concepts like transmigration, reincarnation, liberation, non-violence (*ahimsa*) and non-attachment, among others. Actions are seen to have consequences: some immediate, some delayed, even into future incarnations. So the doctrine of karma is not considered simply in relation to one life-time, but also in relation to both future incarnations and past lives. *Uttaradhyayana-Sutra* 3.3-4 states: "The *Jiva* or the soul is sometimes born in the world of gods, sometimes in hell. Sometimes it acquires the body of a demon; all this happens on account of its karma. This *Jiva* sometimes takes birth as a worm, as an insect or as an ant." The text further states (32.7): "Karma is the root of birth and death. The souls bound by karma go round and round in the cycle of existence."

Actions and emotions in the current lifetime affect future incarnations depending on the nature of the particular karma. For example, a good and virtuous life indicates a latent desire to experience good and virtuous themes of life. Therefore, such a person attracts karma that ensures that his future births will allow him to experience and manifest his virtues and good feelings unhindered. In this case, he may take birth in heaven or in a prosperous and virtuous human family. On the other hand, a person who has

indulged in immoral deeds, or with a cruel disposition, indicates a latent desire to experience cruel themes of life. As a natural consequence, he will attract karma which will ensure that he is reincarnated in hell, or in lower life forms, to enable his soul to experience the cruel themes of life.

There is no retribution, judgment or reward involved but a natural consequences of the choices in life made either knowingly or unknowingly. Hence, whatever suffering or pleasure that a soul may be experiencing in its present life is on account of choices that it has made in the past. As a result of this doctrine, Jainism attributes supreme importance to pure thinking and moral behaviour. Apart from Buddhism, Jainism may be the only religion that does not invoke the fear of God as a reason for moral behaviour.

Four States of Existence

The Jain texts postulate four *gatis*, that is states-of-existence or birth-categories, within which the soul transmigrates. The four *gatis* are: *deva* (demi-gods), *manucya* (humans), *nâraki* (hell beings) and *tiryanka* (animals, plants and micro-organisms). The four *gatis* have four corresponding realms or habitation levels in the vertically tiered Jain universe: demi-gods occupy the higher levels where the heavens are situated; humans, plants and animals occupy the middle levels; and hellish beings occupy the lower levels where seven hells are situated. Single-sensed souls, however, called *nigoda*, and element-bodied souls pervade all tiers of this universe. *Nigodas* are souls at the bottom end of the existential

hierarchy. They are so tiny and undifferentiated, that they lack even individual bodies, living in colonies. According to Jain texts, this infinity of *nigodas* can also be found in plant tissues, root vegetables and animal bodies. Depending on its karma, a soul transmigrates and reincarnates within the scope of this cosmology of destinies. The four main destinies are further divided into sub-categories and still smaller sub-sub categories. In all, Jain texts speak of a cycle of 8.4 million birth destinies in which souls find themselves again and again as they cycle within *samsara*.

In Jainism, God has no role to play in an individual's destiny; one's personal destiny is not seen as a consequence of any system of reward or punishment, but rather as a result of its own personal karma.

References

- Bhattacharya, Dr. H. S. : *Reals in the Jaina Metaphysics*, Bombay: Seth Santi Das Khetsy Charitable Trust, 1966.
- Chapple, Christopher : *Karma: Rhythmic Return to Harmony*, Illinois: Quest Books, 1990.
- Duli Chandra Jain : *Studies in Jainism*, New York, 1997.
- Ekvall, R. B. : *Religious Observances in Tibet*, Chicago and London: University of Chicago Press, 1964.
- Glasenapp, Helmuth Von : *The Doctrine of Karman in Jain Philosophy*, Fremont, CA: Asian Humanities Press, 2003.
- Jaini, Padmanabh : *Collected Papers on Jaina Studies*, Delhi: Motilal Banarsidass Publ, 2000.
- Kalghatgi, Dr. T. G. : *Study of Jainism*, Jaipur: Prakrit Bharti Academy, 1988.
- Kirtivijay, M. : *Jainism in Nutshell*, Bombay: Navprabhat Printing Press, 1957.

Explanations to Personality Development

Sadhna Devi

Research Scholar, VKS University, Arrah

You know that different people have different personalities. Each individual is different. But why? What is it that causes these differences? What is the origin of these differences? This one of the most fundamental questions that developmental psychologists face. This is also the base question of behavioural genetics. Behavioural genetics combines psychology and genetics to study genetic influences on behaviour.

These behavioural geneticists study which psychological characteristics, such as temperament and emotional stability, are passed on from parent to child. They try to determine what percentage is related to differences in genes and what percentage is related to environmental differences. Psychologists say that there are two main factors which affect the development formation of a person's personality.

They are-genetic factors (some call this factor "Nature") and environmental factors (also referred as "Nurture"). Psychologists have, in the past, had disputes over the topic of "Nature VS Nurture". "Nature VS Nurture" indicates that biological and environmental factors compete against each other to develop a person's personality. Also, one of these two factors may be more dominant than the other. Scientific discoveries have shown to us now, that both of these two factors are needed for a person's personality to develop normally. Psychologists are now interested in finding out to what extent each of these competing factors affect personality development. We can use the twin-study method to see which personality traits are inherited or formed by the environment. By the studies of twins, it is generally seen that genetic influences the basic temperamental characteristics the

strongest which are relatively stable in the stage of development. There are two kinds of twins-monozygotic twins, who are more commonly known as identical twins, and dizygotic twins, known as fraternal twins. Twins can be compared to identify genes that affect the characteristics of persons. Identical twins share a home environment and have the same genetic makeup, while fraternal twins share a home environment but do not share the exact same genetic makeup. This difference can be used to tweeze out which personality characteristics are inherited and which are formed by the environment.

Exactly how much is personality development affected by genetic makeup and the environment? In studies comparing behavioural traits in identical and fraternal twins, researchers found that genetic differences can account for 40 to 50 percent of differences in personality traits, while environmental influences account for about 30 percent of differences in personality traits. So, why should we study about what role biological and environmental factors take in the development of personality? What does this have to do with us? The answer is this-how we look at the nature-nurture issue affects the way we look at people, especially children, look at why they behave in certain ways, and how to deal with it. So why not start looking into each of the factors now?

Genetic Factors

Biological factors such as our hormones and brain structure influence our behaviour, but our genes do not have programs for specifying our personality traits. Their actual job is to control the development of our nervous and endocrine systems, which in turn controls our behaviour. Therefore, our genes do not have direct control over our personality traits, but they do have a role in influencing our behaviour. Complex human behaviour are not determined by single genes. In human chromosomes, there are six billion base pairs of DNA. But the most amazing thing is this-of that six billion, only six million of them are different between individuals! That means 99.9% of the base pairs of DNA are shared and identical in each and every person.

Nonetheless, each of us still have enough genetic differences to make us different from others. Even siblings, born of the same mother and father-which means conceived from the same source of egg and sperm, have two million base pairs of DNA. Numerous stories of identical twins, separated for a long time since childhood, suggest that personality is largely inherited. Here is an example.

Jim Lewis and Jim Springer are a pair of identical twins, separated four weeks after their birth in 1940. They grew up 45 miles apart in Ohio. It was not until 1979 that they reunited. They discovered that they both drove the same model blue Chevrolet, chain-smoked Salems, chewed their fingernails and owned dogs named Toy.

Another pair of identical twin males were separated at birth, adopted by different parents and raised in different countries. These two men were both found to be extremely neat. Not only in tangible aspects-their lives were neat. Their clothes were always clean and smart. They were always strictly on time. They washed their hands so often that they were raw and red. Both twins were asked why they were obsessed about neatness. The first twin answered,

"It was because of my mother. When I was growing up, she always kept the house perfectly ordered. She insisted on every little thing returned to its proper place, the clocks-we had dozens of clocks-each set to the same noonday chime. She

insisted on this, you see. I learned from her. What else could I do?" The other twin answered in quite a different way. He said, "The reason is quite simple. I'm reacting to my mother, who was an absolute slob." As you can see quite obviously, the twins' obsession with neatness is not caused by their mothers. The performance of their mothers had little to do with their need for cleanliness. It is more likely that it is caused by genetic factors.

When people think of the gene's role in the formation of a person, they usually put more emphasis on physical appearance. On the other hand, we tend to see personalities of individuals as the result of experience-people lead different lives, have different sufferings, experience different things, and therefore each person has a different personality. However, today we can understand more and more about how genes have a force too. Research in behavioural genetics has supported the idea that personality is partly inherited. Psychologists have summarized the results of twin studies that focused on the Big Five personality traits. Results have shown that identical twins resemble each other in personality than fraternal twins. This suggests that personality is partly inherited.

Infants, just a few weeks old, display differences between each other on how active they are, how responsive they are to change, and how irritable they are. Some babies cry constantly. Others seem to

be happy and stay fairly quiet. Each infant has different mood-related personality characteristics, which are called temperaments. Because differences in temperaments in infants can be observed in such an early stage, the traditional view that an infant's behaviour is formed by the environment the infant is in, during its early stages, is questionable. Research has shown that infants are born with temperamental differences.

As seen from the above, genetic factors play a major part in the formation of personality, but not every personality characteristic is originated from genetic makeup. We will look at how genetic factors affect environmental factors and their correlation in personality development later in this section.

Environmental Factors

Carl Rogers, a famous psychologist, put a lot of emphasis on how childhood experiences affect one's personality. The degree of effect of what happens to a child when he/she is at a developing stage on his/her personality development depends on when it happens. Many psychologists believe that there are certain critical periods in personality development, which are periods when the child will be more sensitive to certain environmental happenings.

Most experts believe that child's experiences in the family are important for his/her personality development. These include whether a child's basic needs are well met and how a child is brought up,

which could leave an enduring mark on the child's personality. For example, children who are toilet trained too early or have their toilet training carried out too strictly may become rebellious; by identifying with their same-sex parent, children can learn appropriate behaviour to their sex especially when there is a good relationship with that parent; children are also affected by siblings.

How about culture and society then? Does the culture and the society we are brought up in affect our personality? An American anthropologist Margaret Mead has shown how social and cultural factors has an important influence in personality development. Members of two New Guinea tribes are of the same racial store and live in the same area. However, one group is peaceful, friendly and cooperative and the other is group is, on the contrary, assertive, hostile and competitive. Researchers, when comparing cultural groups in specific aspects of personality, have found some interesting differences. Northern European countries and the USA have individualistic cultures that put more emphasis on individual needs and accomplishments. Asian, African, Central American, and South American countries have collectivist cultures that focus on belonging to a larger group, such as a family, tribe, or nation. In these cultures, people believe cooperation is more important than competition. Individualistic cultures and collectivist cultures are very different.

Two examples of these differences would be "locus of control" and "self-monitoring". Studies have shown that in general, Western cultures gave a more internal locus of control as compared to Asian cultures. It has also shown that people from industrialized places are generally more internal than people from developing places. Cross-cultural studies of self-monitoring has shown that those from the US and Australia score higher in self-monitoring than people from Taiwan, Japan, Hong Kong and Korea. Professionals have also done some comparison on the American and Asian ideas of self. Their studies indicate that American parents teach their children to be independent, to feel good about themselves and to see themselves as special individuals. Children are encouraged to do well in competitive activities and to become outstanding. American children learn to value themselves by their credits, abilities, accomplishments and by what they own. Those carrying out this study conclude that the American culture encourages an "independent view of the self". American youngsters tend to exaggerate how unique they are and overestimate their skills and capabilities.

Asian cultures, on the other hand, encourage an "interdependent view of the self". This view focuses more on the basic bonds between people, and how each connection relates to each person. Parents may teach their children that they can rely on family and friends. Asian

children are taught to be modest about personal achievements, and to see themselves as a fraction of a larger whole. Children are taught to try to fit in with others and not to stand out from the group. The researchers thus conclude that typical Asian children learn to place value of themselves in terms of the group they belong to-their relations with others and group achievements. And because of this, they do not need to exaggerate how unique or capable they are. Asians tend to see themselves as similar to their friends than Americans and they put less emphasis on personal achievements than Americans may. As seen from the above, the environment we grow up in, including the home environment with the influence of parents and siblings, and the culture and society plays an important role in personality development too. Now we will look at the interaction and correlation of genetic and environmental factors.

References

- Jung Carl G. *Analytic Psychology: Its Theory and Practice*. Random House, 1968.
- Kelly, George. *A Theory of Personality*. W. W. Norton, 1963..
- Maddi, Salvatore R. *Personality Theories*. Homewood, IL: Dorsey, 1976.
- Maslow, Abraham. *Motivation and Personality*. Harper and Row, 1970.
- May, Rollo. *Psychology and the Human Dilemma*. N.Y.: Norton, 1996.
- Piaget, Jean. *Insights and Illusions of Philosophy*. London: Routledge and Kegal Paul, 1965.
- Rychlak Joseph F. *Introduction to Personality and Psychotherapy*. Boston: Houghton Mifflin, 1973.

Future Role of Trade Unions in India

Rajesh Kumar

Research Scholar, PG Dept. of Economics,
VKS University, Arrah

The future role of the trade union movement is linked with a broader concern for ensuring the social cohesion of working people in a large and diverse country. In this final section, we examine union strategies in the private corporate sector, in public sector enterprises, and in the informal sector. It is imperative for the trade union movement to concentrate on organizing the unorganized, so as to create secure incomes and safe working conditions for those with irregular and precarious jobs.

The Private Corporate Sector

On average, private enterprises employ around 30 per cent of all formal sector workers in India; in manufacturing and trade, this proportion is around 70 per cent, whereas in transport, electricity and construction the figure is less than 5 per cent (Datta Chaudhuri, 1996).

In successful private companies enterprise-based trade unions (that may or may not be politically affiliated) will have to accept that their pay is partly (if not largely) determined by productivity. Rather than blind resistance to this kind of pay structure, a cooperative strategy may pay greater dividends in terms of gainsharing at enterprise level.

Unions will have to use their "collective voice" effectively in collective bargaining when incentive structures are proposed and negotiated. While the independent unions will find this strategy quite natural, those which are affiliated to the centralized federations may find it difficult.

In either case, the extent to which a union is willing to take a risk will partly determine the composition of pay (performance-based "risk" pay and "steady" pay).

While the majority of contracts in this sector are (and probably always will be) negotiated at enterprise- or plant-level, unions in some organizations, possibly in the multinationals, could concentrate on attaining firm-wide agreements in the face of considerable management opposition. Firm-wide agreements will strengthen union power at the corporate-level, and to achieve this, unions may have to trade off some plant-level gains.

An example of this situation is being played out at Bata India. Management recognizes the enterprise unions in its various plants across the country, but the loosely united All India Bata Employees Federation is not recognized. It appears that management is willing to talk to the federation if it agrees to restructuring plans at the plant in Faridabad. If the federation agrees to these plans in exchange for management recognition, this would clearly reduce union influence at the plant.

In the older industries in the private sector, where industry-wide bargaining is the dominant structure and where inter-firm differentiation has grown considerably since liberalization, unions and employers are finding it difficult to reach industry-level agreements. Unions will continue to face obstacles to industry-wide solidarity in this sector.

What have been the effects of economic liberalization on the connections between unions and political parties, and what has this meant for the private corporate sector?

To the extent that most of the centralized trade unions continue to oppose the basic implications of economic liberalization, there has been a surprising reconciliation of unions affiliated to opposing political parties on a range of issues at both regional and national level. There has been a gap between the preoccupations of political parties and the macro-objectives of trade unions since the reforms. This has created a dilemma for

most of the unions in this sector: while the loosening of ties with the parent body inevitably leads to greater autonomy in decentralized decision-making, it also means a lessening of centralized lobbying power. Market forces will increasingly dominate union strategies in this sector.

Public Sector Enterprises

On average, the public sector employs around 70 per cent of all formal sector workers in India; in transport, mining, construction, electricity and services this proportion is high (>80 per cent), but it is considerably lower in agriculture (40 per cent), manufacturing (<40 per cent), and trade (<35 per cent) (Datta Chaudhuri, 1996).

In non-viable public sector enterprises that are ready for closure, most of which are in the East, the situation continues to be very grim. Workers have not been paid for several months and the endless talk of revival now sounds hollow.

The closure of these firms seems to be the only solution and unions can do no more than see that lay-offs are implemented fairly and as generously as possible. In several state-owned enterprises and organizations unions have accepted that privatization is the only way of saving the unit, and that informed negotiation is required.

As a result of increased competition from both domestic and international

producers, the output of public enterprises and services has improved substantially. Nowhere is this more true than in the state-run airlines. But unions in the public sector, especially those in services such as medicine, education, the police and municipal workers, can substantially increase their credibility by agreeing to enforceable accountability procedures.

This would mean internal monitoring, which the unions are reluctant to accept.

Although the government has indicated a preference for decentralization, the centralized bargaining structures have not yet been dismantled. Unions could campaign for a restructured central system that allows for greater local autonomy and minimizes bureaucratic inflexibilities.

For the public sector to deliver long-run productivity improvements in the post-liberalization period, unions will have to partly align their objectives with those of the end-user - the average voter/consumer - who has become an important voice in the labour relations system.

The Informal Sector

In terms of union density, India fares rather badly compared to other large developing countries. According to the ILO World Labour Report 1997-98, union membership as a percentage of non-agricultural labour dropped from 6.6 per cent in

1985 to 5.5 per cent in 1995 (the corresponding figure in 1995 for Argentina was 23.4 per cent, Brazil 32.1 per cent and Mexico 31 per cent). Union membership as a percentage of formal sector workers in India declined from 26.5 per cent to 22.8 per cent between 1985 and 1995 (the corresponding figures in 1995 were Argentina 65.6 per cent, Brazil 66 per cent, Mexico 72.9 per cent).

If the figures are derived only from registered unions that submit returns, it is possible that they may somewhat underestimate union density in India. According to the above source, less than 2 per cent of workers in the formal and informal sectors in India are covered by collective bargaining agreements. Clearly, a large proportion of workers (certainly those in the formal sector) fall within the ambit of labour legislation, even though they are not covered by a collective agreement. Nevertheless, it is apparent that considerable organization of workers remains to be undertaken in the Indian economy. If one were to assume that the formal sector corresponds with the unionized sector (in reality, the unionized sector is a subset of the formal sector), then the following figures give an idea of the extent to which unions in future can organize workers in the various sectors. In total, less than 10 per cent of all workers are in the formal sector.

The proportion of workers in this sector by industry

groups is: mining and quarrying (56.9 per cent), manufacturing (19 per cent), construction (17.5 per cent), trade (2.1 per cent), transport (38.7 per cent), and services (38.7 per cent). Clearly, there is enormous potential for organizing workers in construction, manufacturing and trade. In addition, detailed surveys in several industries have found that the existing unions do not sufficiently represent the interests of casual and temporary workers (see the studies in Davala, 1992).

Finally, according to National Sample Survey Organization data, there is a "high incidence of women's involvement in unorganized sector activities, ranging anywhere between 20 to 25 per cent of total employment in urban areas and anywhere between 30 to 40 per cent of total employment in rural areas - figures which far outweigh women's recorded involvement in productive activities from Census sources" (Mukhopadhyay, 1997, p. 485).

In sharp contrast to the formal sector, "the unorganized sector has little by way of protective legislation or union representation" (Anant and Sundaram, 1998, p. 833). In this site, the "not so invisible" forces of demand and supply determine wages and working conditions.

There are no automatic cost-of-living adjustments and substantial improvements are required in designing need-based minimum wages for

unorganized workers (Jhabvala, 1998) and providing them with assured employment for a minimum number of days (Unni, 1998).

In this regard, the government's recent signal about labour law reform consisting of "umbrella legislation for welfare of unorganized sector workers" as part of the agenda should be critically examined. The government proposes to relax contract labour laws so as to generate more jobs, arguing that this would ensure better overall security and welfare provisions for unorganized workers.

Unions, however, feel that any such move will only undermine permanent jobs. In any case, there are strong economic reasons why the wages and working conditions of informal sector workers should be improved through welfare legislation. Such measures improve the capabilities of the disadvantaged and vulnerable sections of working people. In the absence of enhanced capabilities the economy suffers a net loss.

It is clear that unions have a whole range of workers to organize in the coming years, since the majority of labour market entrants will probably work as self-employed or casual/temporary/ contract workers. Visaria and Minhas (1991) estimate that nearly 80 million people will join the labour force between 1990 and 2000. A whole range of non-

governmental organizations have successfully organized (not necessarily unionized) several informal sector occupations and sites in India during the last decade, but it seems that these interventions are resented by the established trade union federations as an intrusion into their terrain (often, it is claimed, with financial backing from abroad).

These fears are probably unwarranted, and cooperation between trade unions and NGOs is required to level up working conditions in these relatively neglected labour markets.

One way of organizing workers could be through union mergers and a joint trade union front. However, the latter presupposes a certain number of shared objectives among the large centralized trade union federations, and this unity is not yet on the agenda.

The All India Trade Union Congress, the Hind Mazdoor Sabha, and the Indian National Trade Union Congress have talked of mergers and unity, but the Centre of Indian Trade Unions has taken a different approach; they have proposed a confederation of central trade unions which will preserve the individual identities (Muralidhar, 1994). The large unions have considerable differences on the efficacy of a secret ballot system to generate the legitimate bargaining agent.

However, one good sign is the increasing willingness of trade union federations to work

together in spite of the differences between their political parties on reform. In many states acute differences are surfacing between political parties and their affiliated unions and these issues are now being openly debated.

It is well-known that the informal sector in India contributes significantly to employment generation and to value added in industry. It is also true that there are considerable links between the formal and informal sectors and that there is a crucial regional dimension to informal sector manufacturing (Shaw, 1990; 1994).

The attempt to unionize the unorganized in India has been difficult, although some progress has been made in certain regions with sympathetic state governments. But in other states, the situation of informal sector workers remains grim, and will probably get worse unless there is a concerted effort by trade unions and NGOs, hopefully with the assistance of local and state governments, to level up the labour market institutions of the informal sector. In these endeavours, the organized labour movement should not view NGOs as competitors.

To what extent will alliances between trade unions break the links with their respective political parties? Or, will such alliances lead to the emergence of national unions without explicit political affiliation? It is too early to answer these questions but the

tensions between some political parties and their trade union affiliates have come onto the regional and national stage since economic liberalization began in the early 1990s. In the private sector, these tensions emerged during the third phase of unionism and resulted in the proliferation of independent unions.

It may be premature to suggest that independent unions, if they can be organized at industry/regional level, will lead to far greater "collective voice" effects and less "monopoly" effects than the existing industrial relations system. With economic liberalization and its effects on regional variations in economic activity, it seems that battles over working conditions will increasingly be fought at local and regional levels. Trade unions will have to forge deep links with neighbourhoods and communities, urban movements, environmental groups and regional NGOs to enhance their effective power. Ultimately, it all depends on "public action", participation in the process of social change. Public action refers not to what the state does for the public, but to action taken by the public (Dreze and Sen, 1989). The trade union movement could trigger this much needed "public action" through broad-based alliances.

References

- Blanpain, R. : International encyclopaedia for labour law and industrial relations Kluwer, from 1977.

- Blyton, P.: The SAGE handbook of industrial relations SAGE, 2008.
- Abbott, B. and Heery, E.: Representing the insecure workforce. In Heery, E. and Salmon, J. *The insecure workforce* Routledge, 2000.
- Ackers, P. and Wilkinson, A.: Understanding work and employment: industrial relations in transition Oxford University Press, 2003.
- Baldry, C.: The meaning of work in the new economy Palgrave Macmillan, 2007.
- Beardwell, I.: Contemporary industrial relations: a critical analysis Oxford University Press, 1996.
- Burchill, F.: Labour relations, Palgrave Macmillan, 2008.
- Coats, D. Raising Lazarus: the future of organised labour Fabian Society, 2005.
- Daniels, G. and McIlroy J.: Trade unions in a neoliberal world: British trade unions under New Labour Routledge, 2009.
- Edwards, P.: Industrial relations: theory and practice Blackwell Publishing, 2003.
- Elger, T. and Smith, C. Assembling work: remaking factory regimes in Japanese multinationals in Britain Oxford University Press, 2005.
- Gall, G.: Union revitalisation in advanced economies: assessing the contribution of union organising Palgrave Macmillan, 2009.
- Gospel, H. and Wood, S.: Representing workers: trade union recognition and membership in Britain Routledge, 2003.
- Healy, G., Heery, E., Taylor, P. and Brown, W.: The future of worker representation Palgrave Macmillan, 2004.
- Howell, C. Trade unions and the state: the construction of industrial relations institutions in Britain, 1890-2000 Princeton University Press, 2005.

Responding to Globalization: India's Answer

Bibhuti Narayan

Research Scholar, Dept. of Economics
BRA Bihar University, Muzaffarpur

Globalization and its Meaning

Broadly speaking, the term 'globalization' means integration of economies and societies through cross country flows of information, ideas, technologies, goods, services, capital, finance and people. Cross border integration can have several dimensions – cultural, social, political and economic. In fact, some people fear cultural and social integration even more than economic integration. The fear of "cultural hegemony" haunts many. Limiting ourselves to economic integration, one can see this happen through the three channels of (a) trade in goods and services, (b) movement of capital and (c) flow of finance. Besides, there is also the channel through movement of people.

Historical Development

Globalization has been a historical process with ebbs and flows. During the Pre-World War I period of 1870 to 1914, there was rapid integration of the economies in terms of trade flows, movement of capital and migration of people. The growth of globalization was mainly led by the technological forces in the fields of transport and communication. There were less barriers to flow of trade and people across the geographical boundaries. Indeed there were no passports and visa requirements and very few non-tariff barriers and restrictions on fund flows. The pace of globalization, however, decelerated between the First and the Second World War. The inter-war period witnessed the erection of various barriers to restrict free movement of goods and

services. Most economies thought that they could thrive better under high protective walls. After World War II, all the leading countries resolved not to repeat the mistakes they had committed previously by opting for isolation. Although after 1945, there was a drive to increased integration, it took a long time to reach the Pre-World War I level. In terms of percentage of exports and imports to total output, the US could reach the pre-World War level of 11 per cent only around 1970. Most of the developing countries which gained Independence from the colonial rule in the immediate Post-World War II period followed an import substitution industrialization regime. The Soviet bloc countries were also shielded from the process of global economic integration. However, times have changed. In the last two decades, the process of globalization has proceeded with greater vigour. The former Soviet bloc countries are getting integrated with the global economy. More and more developing countries are turning towards outward oriented policy of growth. Yet, studies point out that trade and capital markets are no more globalized today than they were at the end of the 19th century. Nevertheless, there are more concerns about globalization now than before because of the nature and speed of transformation. What is striking in the current episode is not only the rapid pace but also the enormous impact of new information technologies on market integration, efficiency and industrial organization. Globalization of financial markets has far outpaced the integration of product markets.

Gains from Globalization

The gains from globalization can be analysed in the context of the three types of channels of economic globalization identified earlier.

Trade in Goods and Services

According to the standard theory, international trade leads to allocation of resources that is consistent with comparative advantage. This results in specialization which enhances productivity. It is accepted that international trade, in general, is beneficial and that restrictive trade practices impede growth. That is the reason why many of the emerging economies, which originally depended on a growth model of import

substitution, have moved over to a policy of outward orientation. However, in relation to trade in goods and services, there is one major concern. Emerging economies will reap the benefits of international trade only if they reach the full potential of their resource availability. This will probably require time. That is why international trade agreements make exceptions by allowing longer time to developing economies in terms of reduction in tariff and non-tariff barriers. "Special and differentiated treatment", as it is very often called has become an accepted principle.

Movement of Capital

Capital flows across countries have played an important role in enhancing the production base. This was very much true in 19th and 20th centuries. Capital mobility enables the total savings of the world to be distributed among countries which have the highest investment potential. Under these circumstances, one country's growth is not constrained by its own domestic savings. The inflow of foreign capital has played a significant role in the development in the recent period of the East Asian countries. The current account deficit of some of these countries had exceeded 5 per cent of the GDP in most of the period when growth was rapid. Capital flows can take either the form of foreign direct investment or portfolio investment. For developing countries the preferred alternative is foreign direct

investment. Portfolio investment does not directly lead to expansion of productive capacity. It may do so, however, at one step removed. Portfolio investment can be volatile particularly in times of loss of confidence. That is why countries want to put restrictions on portfolio investment. However, in an open system such restrictions cannot work easily.

Financial Flows

The rapid development of the capital market has been one of the important features of the current process of globalization. While the growth in capital and foreign exchange markets have facilitated the transfer of resources across borders, the gross turnover in foreign exchange markets has been extremely large. It is estimated that the gross turnover is around \$ 1.5 trillion per day worldwide (Frankel, 2000). This is of the order of hundred times greater than the volume of trade in goods and services. Currency trade has become an end in itself. The expansion in foreign exchange markets and capital markets is a necessary pre-requisite for international transfer of capital. However, the volatility in the foreign exchange market and the ease with which funds can be withdrawn from countries have created often times panic situations. The most recent example of this was the East Asian crisis. Contagion of financial crises is a worrying phenomenon. When one country faces a crisis, it affects others. It is not as if financial

crises are solely caused by foreign exchange traders. What the financial markets tend to do is to exaggerate weaknesses. Herd instinct is not uncommon in financial markets. When an economy becomes more open to capital and financial flows, there is even greater compulsion to ensure that factors relating to macro-economic stability are not ignored. This is a lesson all developing countries have to learn from East Asian crisis. As one commentator aptly said "The trigger was sentiment, but vulnerability was due to fundamentals".

Concerns and Fears

On the impact of globalization, there are two major concerns. These may be described as even fears. Under each major concern there are many related anxieties. The first major concern is that globalization leads to a more iniquitous distribution of income among countries and within countries. The second fear is that globalization leads to loss of national sovereignty and that countries are finding it increasingly difficult to follow independent domestic policies. These two issues have to be addressed both theoretically and empirically. The argument that globalization leads to inequality is based on the premise that since globalization emphasizes efficiency, gains will accrue to countries which are favourably endowed with natural and human resources. Advanced countries have had a head start over the other countries by at least three centuries. The technological

base of these countries is not only wide but highly sophisticated. While trade benefits all countries, greater gains accrue to the industrially advanced countries. This is the reason why even in the present trade agreements, a case has been built up for special and differential treatment in relation to developing countries. By and large, this treatment provides for longer transition periods in relation to adjustment. However, there are two changes with respect to international trade which may work to the advantage of the developing countries.

First, for a variety of reasons, the industrially advanced countries are vacating certain areas of production. These can be filled in by developing countries. A good example of this is what the East Asian countries did in the 1970s and 1980s. Second, international trade is no longer determined by the distribution of natural resources. With the advent of information technology, the role of human resources has emerged as more important. Specialized human skills will become the determining factor in the coming decades. Productive activities are becoming "knowledge intensive" rather than "resource intensive". While there is a divide between developing and the advanced countries even in this area – some people call it the digital divide-it is a gap which can be bridged. A globalized economy with increased specialization can lead to improved productivity and

faster growth. What will be required is a balancing mechanism to ensure that the handicaps of the developing countries are overcome.

Apart from the possible iniquitous distribution of income among countries, it has also been argued that globalization leads to widening income gaps within the countries as well. This can happen both in the developed and developing economies. The argument is the same as was advanced in relation to iniquitous distribution among countries. Globalization may benefit even within a country those who have the skills and the technology. The higher growth rate achieved by an economy can be at the expense of declining incomes of people who may be rendered redundant. In this context, it has to be noted that while globalization may accelerate the process of technology substitution in developing economies, these countries even without globalization will face the problem associated with moving from lower to higher technology. If the growth rate of the economy accelerates sufficiently, then part of the resources can be diverted by the state to modernize and re-equip people who may be affected by the process of technology up gradation.

The second concern relates to the loss of autonomy in the pursuit of economic policies. In a highly integrated world economy, it is true that one country cannot pursue policies which are not in consonance with the worldwide trends.

Capital and technology are fluid and they will move where the benefits are greater. As the nations come together whether it be in the political, social or economic arena, some sacrifice of sovereignty is inevitable. The constraints of a globalised economic system on the pursuit of domestic policies have to be recognised. However, it need not result in the abdication of domestic objectives.

Another fear associated with globalization is insecurity and volatility. When countries are inter-related strongly, a small spark can start a large conflagration. Panic and fear spread fast. The downside to globalization essentially emphasizes the need to create countervailing forces in the form of institutions and policies at the international level. Global governance cannot be pushed to the periphery, as integration gathers speed.

References

- Benería, Lourdes. *Gender, Development, and Globalization, Economics as if All People Mattered*, New York and London, Routledge, 2003.
- Caplin, A. and Schotter, A.: *The Foundations of Positive and Normative Economics*, New York, Oxford University Press, 2008.
- Desmond, Glenn, and John A, Marcell, *Handbook of Small Business Valuation Formulas and Rules of Thumb*, Valuation Press, 1993.
- Granger, Clive W. J.: *Empirical Modeling in Economics, Specification and Evaluation*, London, Cambridge University Press, 1999.
- Harrigan, K. R.: *Strategies for Declining Businesses*. Lexington, MA: Heath, 1980.

Developing a Personnel System and Entrepreneurship

Dr. Harshvardhan

M.A. PhD., Industrial Relations and Personal Management

The small business owner should base the firm's personnel policies on explicit, well-proven principles. Small businesses that follow these principles have higher performance and growth rates than those that do not follow them. The most important of these principles are:

- All positions should be filled with people who are both willing and able to do the job.
- The more accurate and realistic the specifications of and skill requirements for each job, the more likely it is that workers will be matched to the right job and, therefore, be more competent in that job.
- A written job description and definition are the keys to communicating job expectations to people. Do the best job you can! is terrible job guidance.
- Employees chosen on the basis of the best person available are more effective than those chosen on the basis of friendship or expediency.
- If specific job expectations are clearly spelled out, and if performance appraisals are based on these expectations, performance is higher. Also, employee training results in higher performance if it is based on measurable learning objectives.
- The first step in assessing personnel needs for the small business is to conduct an audit of future personnel needs. Ask yourself
- Can the workload you visualize be accomplished by the present work force?

Will more or fewer employees be needed? Consider seasonal patterns of demand and probable turnover rates.

- Can any jobs be eliminated to free people for other work?

What balance of full-time or part-time, temporary or permanent, hourly or salaried personnel do you need?

- What does the labour supply look like in the future?
- Will you be able to fill some of the jobs you've identified? How easily?
- What qualifications are needed in your personnel?

Develop a method to forecast labour demand based on your answers to these questions. Once your needs are estimated, determine strategies to meet them.

The process of selecting a competent person for each position is best accomplished through a systematic definition of the requirements for each job, including the skills, knowledge and other qualifications that employees must possess to perform each task. To guarantee that personnel needs are adequately specified, (1) conduct a job analysis, (2) develop a written job description and (3) prepare a job specification.

Job Analysis

Job analysis is a systematic investigation that collects all information pertinent to each task performed by an employee. From this analysis, you identify the skills, knowledge and abilities required of that employee, and determine the duties, responsibilities and requirements of each job. Job analysis should provide information such as

- Job title.
- Department.
- Supervision required.
- Job description-major and implied duties and responsibilities.
- Unique characteristics of the job including location and physical setting.

- Types of material used.
- Types of equipment used.
- Qualifications.
- Experience requirements.
- Education requirements.
- Mental and physical requirements.
- Manual dexterity required.
- Working conditions (inside, outside, hot, cold, dry, wet, noisy, dirty, etc.).

Job Description

The job analysis is used to generate a job description, which defines the duties of each task, and other responsibilities of the position. The description covers the various task requirements, such as mental or physical activities; working conditions and job hazards. The approximate percentage of time the employee should spend on each activity is also specified. Job descriptions focus on the what, why, where and how of the job.

There is an excellent resource the small business owner can use to develop job descriptions, ask employees themselves to describe their jobs. A good employee may know more about the job than anyone else.

Job Specification

The job specification describes the person expected to fill a job. It details the knowledge (both educational and experiential), qualities, skills and abilities needed to perform the job satisfactorily. The job specification provides a standard against which to measure how well an applicant

matches a job opening and should be used as the basis for recruiting.

Recruiting

As a small business owner-manager, you should be aware of the legal environment in which you operate. This is especially true when it comes to recruitment. Being aware of legislation that will affect your business is extremely important to efficient recruiting.

Sources of Employees

Effective recruiting requires that you know where and how to obtain qualified applicants. It is difficult to generalize about the best source for each business, but a description of the major sources follows.

Present employees - Promotion from within tends to keep employee morale high. Whenever possible, current employees should be given first consideration for any job openings. This practice signals your support of current employees.

Unsolicited applicants - Small businesses receive many unsolicited applications from qualified and unqualified individuals. The former should be kept on file for future reference. Good business practice suggests that all applicants be treated courteously whether or not they are offered jobs.

Schools - High schools, trade schools, vocational schools, colleges and universities are sources for certain types of employees, especially if prior work

experience is not a major factor in the job specification. Schools also are excellent sources for part-time employees.

Private employment agencies - These firms provide a service for employers and applicants by matching people to jobs in exchange for a fee. Some fees are paid by the applicants, and there is no cost to the employer; for highly qualified applicants in short supply, the employer sometimes pays the fee.

Employee referrals - References by current employees may provide excellent prospects for the business. Evidence suggests that current employees hesitate to recommend applicants with below average ability. Word of mouth is one of the most commonly used recruiting sources in the small business community.

“Help Wanted” advertising - Letting people know that the business is hiring is a key element in gaining access to the pool of potential employees. At its simplest, this type of advertising may take the form of a Help Wanted sign in the window. More sophisticated methods involve using local media, primarily print sources such as daily and weekly newspapers. The classified pages of newspapers are frequently consulted by active job seekers, including currently employed individuals who may be tempted by a more attractive position. Other advertising media include radio and television. These tend to have a wider appeal than the

newspaper; however, the price of an advertisement is correspondingly higher.

Specialty media publications, such as trade association magazines and newsletters, may also produce quality job applicants. There are efforts in some parts of the country to offer small business employers access to cable television community bulletin boards. Another high-tech opportunity is to list positions on computer network bulletin boards.

Prices for help wanted advertising vary and the small business owner approaches them with caution. A well-placed, high-quality advertisement will attract good people, whereas, an expensive advertisement in the wrong medium may get no results. Some experimentation is worthwhile to most small businesses. Another suggestion is to ask other small business people in the area about their success with help wanted advertising. Learn from others' successes and mistakes.

Screening

The screening process provides information about an individual's skills, knowledge and attitudes, enabling a potential employer to determine whether that person is suited to, and qualified for, the position. Experience has shown that hiring an overqualified person can be as harmful as hiring an under qualified person.

The application form is the place to begin screening candidates for a job. It provides

information on the person's background and training and is the first means of comparing the applicant with the job description. This will ensure that you don't waste time on applicants who clearly do not meet the minimum requirements for the job.

Generally, the following information is asked on an employment application form: name, address, telephone number, social security number, kind of work desired, work experience, military service, education and references.

The personal interview is the second step in the screening process. During the interview, the manager learns more about the applicant through face-to-face contact, including observation of personal appearance. The interview should be guided, but not dominated, by the manager as it is important to let the candidate speak freely. Whenever possible, the interviewer should ask questions that are directly related to the job. Devise a list of questions that will adequately assess the applicant's qualifications while meeting the specifications for the job. Three major errors often committed in the personal interview are:

- Failure to analyse the requirements of the job in sufficient detail to generate valid questions.
- Failure to ask candidates the right questions to determine their strengths and weaknesses, and their fit with the job.

- Too much reliance on gut reaction instead of objective evaluation of candidates based on criteria established in the job specification.

Interviewing makes the selection process more personal and gives the interviewer an overall idea of whether the applicant is appropriate for the job. The following list of techniques will help you select the right applicant for the job:

1. Review the job description before the interview.
2. Break the ice - establish a friendly atmosphere.
3. Develop an interview time plan and stick to it.
4. Keep an open mind, i.e., don't form an opinion too early.
5. Give the candidate time to tell his or her story; don't talk too much.
6. Present a truthful picture of the company and the job.
7. Listen carefully, concentrate and take notes.
8. Avoid detailed discussion of salary too early in the interview.
9. Be courteous.
10. Don't leave the candidate hanging - discuss the next step in the hiring process and the timing.

Other screening techniques include employment tests and physical examinations. Some employment tests measure aptitude, achievement, intelligence, personality and honesty. A physical examination determines if the applicant

meets the health standards and physical demands of the job.

Selecting and Hiring

If the screening process is thorough, selecting the best applicants for the job is easy. However, before making the final selection, one last step should be taken: the top candidate's references should be checked for accuracy and input. You should be aware of the tendency of references to give a rose-coloured picture of applicant's character and ability. Despite this potential bias, a careful check with former employers, schools and other references can be most constructive. At a minimum, checking can determine whether or not the applicant was truthful about his or her employment history.

Orienting New Employees to Your Business

An employee handbook communicates important information about the company to the employee. The handbook should cover topics such as company expectations, pay policies, working conditions, fringe benefits and the company philosophy toward customers.

Once an individual is hired, he or she should receive a comprehensive orientation on the general policies of the company and on the specific nature of the job. Rules should be explained in detail, job expectations agreed upon and any questions answered before the new employee begins work. New employees should be

introduced to other employees and made to feel welcome.

Compensation Issues

Compensation takes two forms: (1) direct compensation (wages and salaries) and (2) indirect compensation (fringe benefits). Direct Compensation- Wages and salaries are the compensation people receive on a regular basis (monthly, biweekly or weekly). Workers are paid on the basis of time (by the hour, day, week or month) or on the basis of output (an incentive plan).

Indirect Compensation - Fringe benefits are an important part of the overall compensation package in most small businesses. Employee benefits now account for about 40 percent of payroll costs. The profitability of the small firm is one of the primary determinants of what benefits are offered by the firm.

One successful approach to providing benefits to employees of a small business is to allocate a certain amount of money per employee for benefits. Each employee then chooses the package of benefits that suits his or her current needs. This approach is called cafeteria planning because it is similar to going down a cafeteria line, where each customer chooses what he or she wants to eat. It has been suggested that employees perceive this approach as highly equitable because it (1) allows freedom of choice and (2) does not impose a single package of benefits on all employees. For example, a young employee with several

small children may be interested in dental insurance for his family. He is not really interested in or motivated by a pension plan at this time in his life.

Another employee in this same company is in her late forties, has no dependent children and is planning for retirement. To force the same benefit on these two employees is not an effective use of benefit money. To allow some choice on the part of participants is a major advantage of the cafeteria approach to benefit planning.

Small businesses face difficult challenges when they try to match benefits with big firms. Nevertheless, the small firm can enjoy the benefits of greater flexibility and innovativeness by offering a cafeteria plan.

References

- Fleetwood, S. & Hesketh, A. (2009, in press) *Understanding the Performance of Human Resources*, Cambridge: Cambridge University Press.
- Brewster, C., Sparrow, P.R. & Vernon, G. (2007) *International human resource management*. London
- Sparrow, P.R., Hird, M., Hesketh, A., and Cooper, C. (2010) *Leading HR*. London: Palgrave Macmillan.
- Sparrow, P.R. (2009). *Handbook of International Human resource Management: Integrating People, Process and Context*. Chichester: Wiley
- Budhwar, P. S., Schuler R. S. and Sparrow P.R. (2009). *Major works in international human resource management*.
- Dickmann, M., Brewster, C. and Sparrow, P.R. (2008). *International human resource management: a European perspective*. London:

A Comparison between Rural and Urban Females in Relation to Sexual Satisfaction

Dr. Akhlaque Ahmad

Dept. of Psychology
Z.a. Islamia College
Siwan (Bihar)

Abstract

This study was conducted with a view to make a comparison between Muslim and Hindu women regarding attitude towards sexual satisfaction. The study was made on 200 females. They were randomly selected and their age range was 25 to 35 years.

The sample comprised of 100 Hindu women and 100 Muslim women. They belonged to urban and rural areas of Siwan district. Sexuality scale was used which has been constructed and standardized by Kumar (1987). The main findings of this study were as follows: The residential area and community cast their effects on the sexual satisfaction.

Muslim women were more satisfied than Hindu women and lastly it was found that urban women were having the feeling of more satisfaction than rural female in relation to their sexual satisfaction.

Introduction

As we know that marriage is essential for human beings. Without marriage no one can satisfy his sexual desire properly because every religion says that no one is allowed to intercourse with opposite sex without getting married. Landis

(1954) also said, "marriage and family are not optional." They are necessary. They meet man's deepest needs. According to Coleman (1976), marriage provides an opportunity for a secure and protected satisfaction of his needs for companionship, affection and sexual expression.

It involves the most intimate type of emotional relationship between two individuals. It may be said that success of a man depends upon the sexual satisfaction. If a man is sexually satisfied he may achieve his desired goals duly but in the absence of sexual satisfaction, one can not achieve his goal at any cost because he will be having the feeling of stress, frustration and tension etc.

Freud said that the drive related to sex is a very strong drive which effects and mould the personality as well as behaviour of the human beings.

Sexual dissatisfaction of females either due to their personal factors or due to factors related to their husband, invites personality and character disorders in them. Clark and Wallin (1965) have said, "Women's lack of sexual gratification has repercussions for their husbands as well as for themselves."

Objective

The main objective of the investigation is to see whether rural and urban & Hindu and Muslim women differ or not on their sexual satisfaction.

Hypothesis

In the light of these objectives following hypotheses were formulated.

- A. There will be significant difference between Hindu and Muslim women on their attitude towards sexual satisfaction.
- B. There will be significant difference between rural and urban women on their attitude towards sexual satisfaction in both communities.

Method

Sample: This study was conducted on a sample of 200 females. Who were residing in Siwan district. Their age range was 25 to 35 years. There were 50 Hindu and 50 Muslim females. And in the other group, there were 50 rural and 50 urban females.

Test Used: Sexuality scale was used to measure the level of sexual satisfaction which has been constructed and standardized by Kumar (1987). Higher score denotes more sexual satisfaction and lower score indicates less sexual satisfaction.

Statistical Analysis: The obtained data was put to suitable statistical analysis. Mean, SD, & t-ratio, were computed to test the significance of difference between compared groups.

Showing the Mean, S.D, and T-ratio of Attitude Towards Sexual Satisfaction

Group	No.	Mean	S.D	t-ratio	DF	Level of significance
Hindu	100	83.8	24.829619	3.4069976	100	.01
Muslim	100	97.30	23.111901			
R. Hindu	50	73.25	19.011509	4.7350915	98	.01
U. Hindu	50	92.16	25.057711			
R. Muslim	50	92.50	22.715633	1.7222121	98	.05
U. Muslim	50	100.50	22.818121			

After getting the result, it can be said that there exists significant difference between Hindu & Muslim women in relation to their sexual satisfaction. The mean score of Hindu female is 83.80 while that of Muslim female is 97.30.

The t-ratio is 3.4069967 which is higher than the required value for significance at .01 level so it can be said that Muslim females are significantly more satisfied than Hindu females because in Hindu community the concept of small family is prevailing so female & male use certain contraceptive and condom respectively. Due to which they do not enjoy fully while engaging in intercourse. On the other hand in Muslim community, there is no concept of small family so they enjoy the sexual activities in natural form so men as well as female are more satisfied.

2ndly comparison is made between rural Hindu and urban Hindu. It is found that urban females are sexually more satisfied than rural females because higher level of modernization and exposure to mass media enables them to have better sexual satisfaction. It can be explained with the help of statistical calculation.

The mean score of rural Hindu females is 73.25 and the mean score of urban Hindu females is 92.16. The t-ratio is 4.7350915 which is significant at .01 level. So it can be concluded that there is significant difference between rural & urban Hindu females in relation to their sexual satisfaction.

In the last we see that the mean score of rural Muslim female is 92.50 while that of urban Muslim female is 100.50 and the t-ratio to test the significance of difference is 1.7222121 which is significant at .05 level. So it is easy to say that urban Muslim females are more satisfied than their rural counterparts.

Conclusion

After analysis of the result, following conclusion may be drawn.

- Community and residential area lay their effects on attitude towards sexual satisfaction.
- Muslim females are more sexually satisfied than Hindu females.
- Rural females are less sexually satisfied than urban counterparts in Hindu community.
- Urban Muslim females are more sexually satisfied than their rural counterparts.

Reference

- Clark, A.L and Wallin P. (1965): Women's sexual Responsiveness and the Duration and Quality of their marriage. Amer. J. Social. 71,187-196
- Coleman, J.C. (1976): Abnormal Psychology and Modern life Taraporevala, Bombay.
- Kumar, P. (1987): 'Sexuality scale' Dept of Psychology, Sardar Patel University, Vallabh Vidyanagar, Gujrat
- Landis, P. H.(1954): 'Your marriage and family life; L. Y. Mc GrawHill.

The Issue of Modernization and Attitudinal Study of Rural Scheduled Caste Females

Upendra Kumar

Research Scholar
J.P. University, Chapra

Abstract

The present study was conducted on a sample of 200 scheduled caste females. They were randomly selected and were residing in Chapra district. They were 30 to 40 years old. The sample comprised of 100 scheduled caste females and 100 non-scheduled caste females. Females were from both rural and urban areas. Comprehensive Modernization Scale was used which has been developed by Ahluwalia and Kalia (1985). It was used to assess the effects of community and residential area on attitude towards modernization. The results of this study were that community and residential area cast their effects on attitude towards modernization. Non-scheduled caste females hold significantly more favourable attitude towards modernization than scheduled caste females. And urban females holds more favourable attitude towards modernization than rural females in scheduled and non-scheduled caste females.

Introduction

In the social sciences, modernization refers to a standardized evolutionary transition from a pre-modern or traditional to a modern society. The teleology of modernization is described in social evolutionism theories, existing as a template that has gradually followed by societies that have achieved modernity. According to Chodak (1973), "To modernize means to render something out of date to suit the requirements of modern

times". Modernization is not sheer imitation of western habits and conventions; rather this is a philosophy of life." Bellah (1968) said that it is spiritual phenomenon or a kind of mentality. A modern man is distinguished by his rational belief, scientific out look, readiness to master the environment and to investigate into the mysteries of nature. He is diametrically opposed to the traditional man.

Many studies have been conducted related to modernization. Sinha (1973) has considered education as one of the important variables of modernity. There are many studies related to different factors of modernization. (Sudhir and Lalrinkimi 1986, Rai 1988, Prasad and Rai 1990 and Mishra 2002).

Objective and Hypotheses

The objective of this study is to see whether females from scheduled and non-scheduled communities differ or not on their attitude towards modernization due to variation in community and residential area. In the light of this objective, following hypotheses were formulated.

- A. There will be significant difference between scheduled and non-scheduled females on their attitude towards modernization.
- B. There will be significant difference between rural and urban females on their attitude towards modernization.

Method

Sample: The study was conducted on a sample of 200 females who were residing in Chapra District. The sample consisted of 40 rural and 60 urban females in scheduled caste sample and 40 rural and 60 urban females in non-scheduled caste sample.

Test Used: Comprehensive Modernization Scale, developed by Ahluwalia and Kalia (1985) has been used to measure the attitude of females towards modernization. This is five points Likert-type scale, consisting of 49 items. Higher score denotes more favourable attitude towards modernization and low score denotes less favourable attitude towards modernization.

Statistical Analysis: The obtained data has been put to suitable statistical analysis.

Mean, S.D. and t-ratio have been computed to test the significance of difference between mean scores of groups.

Showing the Mean, S.D. and T-ratio of Attitude Towards Modernization

Group	No.	Mean	SD	T-ratio	DF	Level of significance
S.C. Female	100	83.20	24.318717	4.5593689	198	.01
Non-S.C. Female	100	97.40	19.457389			
Rural S.C.F	40	72.00	19.072231	4.2512967	98	.01
Urban S.C.F	60	90.66	24.704363			
Rural Non-S.C.F	40	91.25	24.329765	2.0466042	98	.05
Urban Non-S.C.F	60	101.16	22.779132			

The analysis of data obtained through administration of Modernization Scale revealed that there exists significant difference between scheduled and non-scheduled samples on their attitude towards modernization. The mean AM score of scheduled caste females is 83.20 while that of non-scheduled caste females is 97.40. The obtained t-ratio to test the significance of difference between two means is 4.5593689 which is significant at .01 level so it can be said that there is significant difference between two communities on attitude towards modernization. It means non-scheduled caste females like significantly more modernization than scheduled caste females. On comparing rural and urban samples in scheduled caste females on attitude towards modernization, we find that urban sample's mean is 90.66 and rural sample's mean is 72.00. And t-ratio to test the significance of difference between two means is 4.2516967 which is higher than the required value at .01 level so it can be stated that there is significant difference between rural and urban samples in scheduled caste females. It means urban scheduled caste females are more pro to modernization as compare to their rural counter parts.

On comparing rural and urban samples in non-scheduled caste females on their attitude towards modernization, we find that urban sample's mean is 101.16 and rural sample's mean is 91.25. And the t-ratio to test the significance of difference between two means is 2.0466042 which is higher than the required value at .05 level so it can be stated that there is significant difference between rural and urban samples in non-scheduled caste females. It means urban non-scheduled caste females are more pro to modernization than their rural counter parts.

Conclusion

- A. Community and residential area lay their effects on attitude towards modernization.
- B. Non-scheduled casts females hold more favourable attitude than scheduled caste female on their attitude towards modernization.

- C. Urban scheduled caste females hold significantly more favourable attitude than rural scheduled caste females on their attitude towards modernization.
- D. Urban non-scheduled caste females hold more favourable attitude than rural non-scheduled caste females on their attitude towards modernization.

Reference

Ahluwalia, S.P. and Kalia, A.K. (1985) : Comprehensive Modernization Inventory; National psychology Corporation, Agra.

Bellah, Robert(1968): Meaning and Modernization.

Chodak, S. (1973): Societal Development: Five Approches conclusions from comparative analysis; London, Oxford university press

Mishra, B.N (2002): Effect of Modernization and Religious Dogmatism on Attitude towards family planning. Unpublished Ph. D. Thesis in Psychology. J.P. University, Chapra.

Prasad, R. and Rai, R.D (1990): Education and sex Correlates of Modernization and Superstition. Indian Psyl. Review, 39(11-12)Pp. 34-39.

Rai R.D(1988): Attitude of Harijan students towards some social problems. Unpublished Ph.D. Thesis in Psychology, B.R.A. Bihar University Muzaffar Pur.

Singh, S. ; Upmanyu, V.V. and Romneck(1982): Psychometric correlates of Modernity. Social change, 12(12), 29-33.

Sudhir, M.A. and Lalrinkimi (1986): Modernity in the context of education and socio cultural factors : A study of Social Attitudes in Mizoram: The Journal of Social psychology, Washington, 126(3), 375-380.

At+Po: Tarwan, Near Cold Store, Siwan (Bihar)

A Study of Adjustment Level Between Hindu and Muslim Students

Vivek Kumar

**Research Scholar
J.P.U Chapra**

Abstract

This study was conducted with a view to make a comparison between Hindu and Muslim students, regarding their adjustment level. For this study 200 students were selected on random basis.

They were the students of B.A level reading in Muzaffar Pur district. Their age range was 18-22 years. The sample comprised of 100 Muslim students and 100 Hindu students. Students were from both rural and urban areas.

Bell Adjustment Inventory(Hind version) developed by Mohsin-Shamshad was used to measure the adjustment level of the students. The result indicated that community and residential area cast their effects on adjustment level. Hindu students were significantly more adjustable than Muslim students and adjustment level of urban students in both communities was higher than the rural students.

Introduction

Adjustment may be defined in various ways. But one of its most suitable definition is in terms of achieving a balance between internal demands and the requirements of the environment or between internal psychological forces and

external conditions of the individual, and it is a continuing process and not a condition(Gordon, 1963, Smith, 1961 and others).

According to Shaffer(1968), "Adjustment is a process by which a living organism maintains balance between its needs and the circumstances that influence the satisfaction of these needs".

Certain studies have been conducted in the past related to adjustment problem of students of different educational levels(Pandey,1968; Cox, 1982; Agarwal and Power, 1983) but no study has been made with regard to adjustment in the area of home and health of degree level students belonging to Hindu and Muslim communities and residing in rural and urban areas of Muzaffar Pur district.

Students are the pillars of the country so their adjustment level must be taken into account and this study is a try in this regard.

Objective

The objective of this study is to make a comparison between Hindu and Muslim students regarding their adjustment level.

Hypotheses

In the light of above mentioned objective, certain hypotheses were formulated.

- (a) There will be significant difference between Hindu and Muslim students on their adjustment level.
- (b) There will be significant difference between urban and rural students on their adjustment level in Hindu and Muslim communities.

Method

Sample

The study was conducted on randomly selected sample of 200 students who were reading in B.A in Muzaffar Pur district. There were 35 urban and 65 rural students from Hindu

community and there were 65 rural and 35 urban students from Muslim community.

Test Used

Bell Adjustment Inventory(HN) was used which has been developed by Mohsin-Shamshad in 1987. It was used to assess the adjustment level of the students. High score in this inventory indicates poor adjustment and low score indicates healthy adjustment.

Statistical Analysis

Mean, S.D for both groups were calculated and T-ratio was applied to test the significance of difference between these two groups.

Showing the Mean, S.D and T-ratio of Adjustmet Level of Hindu and Muslim Students.

Gruops	No.	Mean	S.D	T-ratio	DF	Level of significance
Hindu	100	85.60	25.686377			
Muslim	100	100.60	19.177851	4.6793277	198	.01
U. H.	35	77.07	23.463388			
R.H.	65	90.80	10.679848	3.2835804	98	.01
U. M.	35	92.78	22.73898			
R.M.	65	104.19	16.913283	2.6057234	98	.01

The result indicates that there is significant difference between Hindu and Muslim students regarding their adjustment level. The mean of former is 85.60 and the mean of later is 100.60. The obtained T-ratio is 4.6793277 which is higher than the required value at .01 level so it can be concluded that the adjustment level of the Hindu sample is better than Muslim sample.

On comparing rural and urban sample in Hindu community, we find that there is significant difference between them. The mean of urban Hindu students is 77.07 while that of rural Hindu student is 90.80. And the T-ratio is 3.02835804 so it can be stated that urban students are more adjustable than rural students in Hindu community.

On comparing rural and urban students in Muslim community, we find that there is significant difference between them. The mean of urban student is 92.78 and the mean of rural students is 104.19. And T-ratio is 2.6057234. So it can be concluded that urban students have more ability to adjust than rural students in Muslim community.

Conclusion

Finally it can be concluded that

- (a) Community and residential area lay their effects on the adjustment level of students.
- (b) Hindu students are more adjustable than Muslim students.
- (c) Urban students are having more adjustment ability than rural students in both Hindu and Muslim communities.

Reference

Agarwal, R. and Power(1983): Some Correlates of Adjustment Among Adolescent, Personality Study and Group Behaviour, 3(1), 51-53.

Cox, Theo(1982): Disadvantaged Fifteen Years old, Initial Findings from a Longitudinal Study, Educational Studies, 8(1), 1-3.

Gordon, J. E.(1963): Personality and Behaviour, New York, Macmillan.

Mohsin, S. M.; Hussain, S. and Jehan, K.(1987): Mohsin-Shamshad Hindi Adaptation of Bell Adjustment Inventory: Modified form, Motilal Banarsi Das, Patna.

Pandey. J.(1968): Effect of Socio-economic Background on Adjustment Problem of the Adolescents. Unpublished Ph. D. Thesis, B.H.U. Varanasi.

Shaffer, L.F.(1968): The Psychology of adjustment, Boston, Houghton Mifflin.

Smith, Henry Clay(1961): Personality adjustment, New York; Mc. Grow Hill.

**At- Kamlapuri Bhawan
Roopganj (Chapra)**